Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

PARISHODH 1975

G.K.V.
LIB.
HARDWAR

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

111504

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ

111504

१-२२

युक्त अंक

111504

परिशोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम

सम्पादकीय

साहित्यकार की भूमिका ३ डॉ इन्द्रनाथ मदान

शोधनिबन्ध

छायावादी कवियों के कुछ गत्वरबिम्ब ९ डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित

परमपरागत 'नायक' : पुनर्विचार १४ डॉ० जगमोहन चोपड़ा

'मृगावती के स्रोत २० डॉ० सुशील कुमार फुल्ल

मुक्तिबोध और कहानी कला २४ कमला प्रसाद चौरसिया

नयी कहानी का घोषणा पत्र २७ डा० सन्तोष शर्मा

'आधे अधूरे' का रचना-विधान ३८ डॉ० वीरेन्द्र मेंहदी रत्ता

महाकवि सन्तोखसिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ४३ आशानन्द बोहरा

भाषा नाटकों में कृष्ण के विभिन्न रूप ५४ दर्शन कुमार जैन

आधुनिक हिन्दी काव्य में विभिन्न युग और उनके नामकरण की समस्या ५८ डॉ० पुष्पपाल सिंह

काव्य बिम्ब का स्वरूप ६२ नन्दकिशोर यादव

बिम्ब : पुर्नविचार ६८ मनोरमा उपाध्याय

आचार्य शुक्ल की मनोव्यापारात्मक दृष्टि ७२ रमाकान्त शर्मा

केशव के काव्य की समीक्षा : कुछ नये प्रश्न ७६ महेन्द्रनाथ पाण्डेय

पहेली साहित्य की पृष्ठभूमि ८४ डॉ० अमरसिंह राठौड़

प्रसाद के नाटकों के चरित्र-चित्रण में राष्ट्रीय-भावना ८९ कुशेश्वर चौधरी

आधुनिक हिन्दी कविता में उर्दू छन्दों का प्रयोग ९७ डॉ० नरेश

सम्बन्धों की मृत्यु और कहानी १०३ मधु उप्पल

पन्त की प्रगतिवादी कविता में बिम्ब-योजना १११ वि० विजय भारती

रावण की भक्ति-भावना ११५ सुमन वर्मा

निर्मल वर्मा के साहित्य की भाषा-संरचना और शैली ११७ मंजुल उपाध्याय

भाई सन्तोखसिंह और उनका युग १३४ डॉ० जयभगवान गोयल

हिन्दी कविता : आधुनिकता का आरम्भ बिन्दु १४१ सुरेशचन्द्र पाण्डेय

कबीर और तुलसी का समन्वयात्मक रूप—एक तुलनात्मक दृष्टि १४८ सुरेन्द्र गुप्त

गुलेरी जी की कहानियां और चरित्र-चित्रण की पद्धतियाँ १५५ उषा गोयल

नाटकीय संघर्ष और हिन्दी नाटक १५९ श्रीमती सुषम बेदी

रीति-कवियों की नारी-चेतना में स्वकीया १६३ डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा

नाटक और काव्य में अंगीरस की समस्या १६९ डॉ० गोपीनाथ तिवारी

पुस्तक-परिचय

'भवभूति' १७५ डॉ० रमाकान्त आंगिरस

"आधुनिक साहित्य : विविध परिदृश्य" १७८ डॉ० सत्येन्द्र कुमार तनेजा

आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ १८० डॉ० हरदयाल

हस्तलेख-परिचय

कृष्णायन—श्री शिवदास विरचित १८५ डॉ० हिम्मतसिंह जैन

संयुक्त-अंक

इक्कीस-बाइस अंक

जनवरी, १९७५

: दस रुपये

प्रकाशक तथा वितरक

अध्यक्ष

हिन्दी विभाग

पंजाब यूनिवर्सिटी

चण्डीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

ा० इन्द्रनाथ मदान तथा डॉ० मैथिलीप्रसाद भारद्वाज द्वारा सम्पादित और मॉडर्न प्रिण्टर्स, के-३०, दिल्ली-३२ द्वारा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Gurukul Inter. Sci. College

इन्द्रनाथ मदान

पंजाब यूनिवर्सिटी

HL

PARISHODH

1975

G.K.V.
Lib,
HARDWAR

देश की नयी आज़ादी को व...
का विकास करने के लिए हर...
श्यकता है जो हर समय जागत...
पहरुये की भाषा में चेतावनी...
अपनी एक कविता में दी थी।...
पहरेदार माना जाता है। उस...
करना है इस पर उसने सोचना...
करना भी है। क्या वह अपने रो...
पिछले २७ सालों में गंगा में...
परिस्थितियां काफ़ी बदल चुकी...
पहुंच गया है जहां लोकतन्त्र ख...
फिर इसके पहरेदारों को साव...
महसूस होने लगी है। इस बीच भारत को एक बार चीन से और दो बार पाकिस्तान से भिड़ना पड़ा है—तीन बार अगर पहला हमला इसमें शामिल कर दिया जाए जो घोषित नहीं था, काश्मीर को हथियाने के लिए था। इन हमलों में बहुत कुछ खोया है और कुछ बहुत पाया है। एक बात जो बार-बार उभरी है कि देश युद्ध में तो एक हो जाता है; लेकिन शान्ति में अनेक; आपसी झगड़े खड़े हो जाते हैं। यह सही है कि भारत ने अपने संविधान में लोकतन्त्र की पद्धति को अपनाया है जिसे इतने झटके लगे हैं कि इस में बार-बार संशोधन करने पड़े हैं और पड़ रहे हैं। अभी तक इसकी जड़ें इतनी मज़बूत नहीं हैं जितनी समझी जाती हैं। आज फिर इस पर प्रश्नचिन्ह लग गया है। इसे उखाड़ने में अनेक शक्तियां काम कर रही हैं, बाहर से भी और भीतर से भी। इस संकट की वेला में फिर सावधान होने की आवश्यकता महसूस होने लगी है।

...है जिसे सजग होकर इस
...तन्त्र की जड़ों को खोखला
...है। वोट खरीदी जाती है
...से देखा जाता है, इस पर
...ह इसके लिए सबसे बड़ा
...सा है या जो पैसा बटोर
...ती है। हर राजनीतिक
...है, जिसकी बाद में कीमत
...हरेदार साहित्यकार का
...त तैयार करना है। आज
...को आज़माया जा रहा है
...। अखबार में अनेक बार
...ते हैं। कहीं राष्ट्रपति को अपने पद से इस्तीफ़ा देना पड़ा है तो कहीं प्रधानमंत्री को। नया दौर नयी उमंगें लेकर शुरू होता है जिन पर बाद में पानी फिर जाता है और इन्सान सोचता रह जाता है कि इस बार भी कुछ नहीं बना। वह धोके में आ गया है। पूंजी के ढंग भी अनोखे और पेचीदा हैं। लोकतन्त्र को चलाने के लिए जब धन की अमोघ शक्ति हो तो वह लोकतन्त्र को घुन की तरह लग जाती है। माया को माया मिलने लगती है। इसलिए लोकतन्त्र के पहरेदार को यह सोचने के लिए बाधित करती है कि इसमें गड़बड़ को किस तरह दूर किया जा सकता है। बहुमत भी कभी-कभी खतरनाक साबित होता है। यह भैंस को हांकने के लिए लाठी का काम देता है। एक पुराने शेर की याद ताज़ा हो जाती है—'हर शाख पे उल्लू बैठा है, अंजामे गुलिस्तां क्या होगा', । लोकतन्त्र के पहरेदार का शायद इस कड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रम

सम्पादकीय

साहित्यकार की भूमिका ३ डॉ इन्द्रनाथ मदान

शोधनिबन्ध

छायावादी कवियों के कुछ गत्वरबिम्ब ६ डॉ० सूर्य प्रसाद दीक्षित

परमपरागत 'नायक' : पुनर्विचार १४ डॉ० जगमोहन चोपड़ा

'मृगावती के स्रोत २० डॉ० सुशील कुमार फुल्ल

मुक्तिबोध और कहानी कला २४ कमला प्रसाद चौरसिया

नयी कहानी का घोषणा पत्र २७ डा० सन्तोष शर्मा

'आधे अधूरे' का रचना-विधान ३८ डॉ० वीरेन्द्र मेंहदी रत्ता

महाकवि सन्तोखसिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व ४३ आशानन्द बोहरा

भाषा नाटकों में कृष्ण के विभिन्न रूप ५४ दर्शन कुमार जैन

आधुनिक हिन्दी काव्य में विभिन्न युग और उनके नामकरण की समस्या ५८ डॉ० पुष्पपाल सिंह

काव्य बिम्ब का स्वरूप ६२ नन्दकिशोर यादव

बिम्ब : पुनर्विचार ६८ मनोरमा उपाध्याय

आचार्य शुक्ल की मनोव्यापारात्मक दृष्टि ७२ रमाकान्त शर्मा

केशव के काव्य की समीक्षा : कुछ नये प्रश्न ७६ महेन्द्रनाथ पाण्डेय

पहेली साहित्य की पृष्ठभूमि ८४ डॉ० अमरसिंह राठौड़

प्रसाद के नाटकों के चरित्र-चित्रण में राष्ट्रीय-भावना ८६ कुशेश्वर चौधरी

आधुनिक हिन्दी कविता में उर्दू छन्दों का प्रयोग ९७ डॉ० नरेश

सम्बन्धों की मृत्यु और कहानी १०३ मधु उप्पल

पन्त की प्रगतिवादी कविता में बिम्ब-योजना १११ वि० विजय भारती

रावण की भक्ति-भावना ११५ सुमन वर्मा

निर्मल वर्मा के साहित्य की भाषा-संरचना और शैली ११७ मंजुल उपाध्याय

भाई सन्तोखसिंह और उनका युग १३४ डॉ० जयभगवान गोयल

हिन्दी कविता : आधुनिकता का आरम्भ बिन्दु १४१ सुरेशचन्द्र पाण्डेय

कबीर और तुलसी का समन्वयात्मक रूप— एक तुलनात्मक दृष्टि १४८ सुरेन्द्र गुप्त

गुलेरी जी की कहानियां और चरित्र-चित्रण की पद्धतियाँ १५५ उषा गोयल

नाटकीय संघर्ष और हिन्दी नाटक १५९ श्रीमती सुषम बेदी

रीति-कवियों की नारी-चेतना में स्वकीया १६३ डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा

नाटक और काव्य में अंगीरस की समस्या १६९ डॉ० गोपीनाथ तिवारी

पुस्तक-परिचय

'भवभूति' १७५ डॉ० रमाकान्त आंगिरस

"आधुनिक साहित्य : विविध परिदृश्य" १७८ डॉ० सत्येन्द्र कुमार तनेजा

आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ १८० डॉ० हरदयाल

हस्तलेख-परिचय

कृष्णायन—श्री शिवदास विरचित १८५ डॉ० हिम्मतसिंह जैन

संयुक्त-अंक

इक्कीस-बाइस अंक

जनवरी, १९७५

: दस रुपये

प्रकाशक तथा वितरक

अध्यक्ष

हिन्दी विभाग

पंजाब यूनिवर्सिटी

चण्डीगढ़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

[डॉ]० इन्द्रनाथ मदान तथा डॉ० मैथिलीप्रसाद भारद्वाज द्वारा सम्पादित और मॉडर्न प्रिण्टर्स, के-३०, दिल्ली-३२ द्वारा

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्द्रनाथ

पंजाब यूनिवर्सिटी

देश की नयी आज़ादी को कायम रखने और लोकतन्त्र का विकास करने के लिए हर तरह के पहरेदार की आवश्यकता है जो हर समय जागता रहे। आज़ादी के बाद पहरुये की भाषा में चेतावनी गिरिजाकुमार माथुर ने अपनी एक कविता में दी थी। साहित्यकार को भी एक पहरेदार माना जाता है। उसने किस भूमिका को अदा करना है इस पर उसने सोचना है; सोचना ही नहीं, कुछ करना भी है। क्या वह अपने रोल को अदा कर रहा है? पिछले २७ सालों में गंगा में काफ़ी पानी बह चुका है, परिस्थितियां काफ़ी बदल चुकी हैं। देश उस बिन्दु पर पहुंच गया है जहां लोकतन्त्र खतरे में पड़ गया है। आज फिर इसके पहरेदारों को सावधानी की आवश्यकता महसूस होने लगी है। इस बीच भारत को एक बार चीन से और दो बार पाकिस्तान से भिड़ना पड़ा है—तीन बार अगर पहला हमला इसमें शामिल कर दिया जाए जो घोषित नहीं था, काश्मीर को हथियाने के लिए था। इन हमलों में बहुत कुछ खोया है और कुछ बहुत पाया है। एक बात जो बार-बार उभरी है कि देश युद्ध में तो एक हो जाता है; लेकिन शान्ति में अनेक; आपसी झगड़े खड़े हो जाते हैं। यह सही है कि भारत ने अपने संविधान में लोकतन्त्र की पद्धति को अपनाया है जिसे इतने झटके लगे हैं कि इस में बार-बार संशोधन करने पड़े हैं और पड़ रहे हैं। अभी तक इसकी जड़ें इतनी मज़बूत नहीं हैं जितनी समझी जाती हैं। आज फिर इस पर प्रश्नचिन्ह लग गया है। इसे उखाड़ने में अनेक शक्तियां काम कर रही हैं, बाहर से भी और भीतर से भी। इस संकट की वेला में फिर सावधान होने की आवश्यकता महसूस होने लगी है।

साहित्यकार एक पहरेदार है जिसे सजग होकर इस चुनौती को स्वीकारना है। लोकतन्त्र की जड़ों को खोखला करने में पूंजी या धन की शक्ति है। वोट खरीदी जाती है तो लोकतन्त्र को संदेह की आंख से देखा जाता है, इस पर विश्वास उठने लगता है और यह इसके लिए सबसे बड़ा खतरा है। आज जिसके पास पैसा है या जो पैसा बटोर सकता है उसे ही सफलता मिलती है। हर राजनीतिक दल को पैसे की ज़रूरत पड़ती है, जिसकी बाद में कीमत चुकानी पड़ती है। इसलिए पहरेदार साहित्यकार का काम इसे बदलने के लिए जन-मत तैयार करना है। आज देश-विदेश में जहां लोकतन्त्र को आज़माया जा रहा है पूंजी की शक्ति का बोलबाला है। अखबार में अनेक बार इसके समाचार पढ़ने को मिलते हैं। कहीं राष्ट्रपति को अपने पद से इस्तीफ़ा देना पड़ा है तो कहीं प्रधानमंत्री को। नया दौर नयी उमंगें लेकर शुरू होता है जिन पर बाद में पानी फिर जाता है और इन्सान सोचता रह जाता है कि इस बार भी कुछ नहीं बना। वह धोके में आ गया है। पूंजी के ढंग भी अनोखे और पेचीदा हैं। लोकतन्त्र को चलाने के लिए जब धन की अमोघ शक्ति हो तो वह लोकतन्त्र को घुन की तरह लग जाती है। माया को माया मिलने लगती है। इसलिए लोकतन्त्र के पहरेदार को यह सोचने के लिए बाधित करती है कि इसमें गड़बड़ को किस तरह दूर किया जा सकता है। बहुमत भी कभी-कभी खतरनाक साबित होता है। यह भैंस को हांकने के लिए लाठी का काम देता है। एक पुराने शेर की याद ताजा हो जाती है—'हर शाख पे उल्लू बैठा है, अंजामे गुलिस्तान क्या होगा', । लोकतन्त्र के पहरेदार का शायद इस कड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति से गुज़रना लाज़मी है जिससे वह आज गुज़र रहा है। कभी-कभी उसे विवशता का अनुभव भी होने लगता है, अपनी लघुता का बोध भी इससे जुड़ जाता है। वह अपने को एक बड़ी मशीन का पुरज़ा समझने लगता है। हर इन्सान की अपनी-अपनी कीमत है जिसे अदा कर पूंजी उसे खरीद लेती है।

एक और बड़ा खतरा विचारधारा का है जो इस तरह के लोकतन्त्र के विरोध में है, जो इसे नाकारा समझती है। इस विचारधारा के हक़ में और खिलाफ़ बहस जारी है। यह बहस खुले लोकतन्त्र में चल सकती है, बन्द विधान में नहीं जहां विरोधी विचारों के कहने पर अंकुश लग जाता है। आज दुनिया दो शिखरों में विभाजित है और इनकी सरहदों पर विचारों का महाभारत छिड़ा हुआ है। लेखक के लिए यह एक चुनौती है कि वह खुली हवा में सांस लेना चाहता है या बन्द दायरे में घुटना चाहता है। हर दृष्टि से इन दो शिविरों में आपसी विरोध है। वह चाहे राजनीतिक हो या आर्थिक, साहित्यक हो या नैतिक। शासन की नीति के भी अलग-अलग ढंग हैं। भारत में समाजवाद शब्द इतना दूषित हो गया है कि वह अपने मायनी खो चुका है। हर राजनैतिक दल समाजवाद के नाम पर वोट मांगता है और इन दलों में आपसी विरोध है। एक पहरेदार लेखक का काम इस तरह की असंगतियों को उजागर करना है। भारतीय लोकतन्त्र और संविधान में जो आधा तीतर और आधा बटेर है एक तरफ तो रिट या वैयक्तिक स्वतन्त्रता की धारा है और दूसरी तरफ सामूहिक योजनाओं का विधान है जिनमें संगति नहीं बैठ पा रही है।

इस असंगति को दूर करने के लिए जनमत तैयार करना लेखक पहरेदार का काम है। एक तो लेखक की आवाज़ इस नक्कारखाने में तूती की आवाज है जिसे कौन सुनता है। आज धन के मुकाबले में शब्द अपनी शक्ति खो चुका है। एक तो उसकी आवाज़ इतनी कमज़ोर है कि वह कहवाघर में डूब जाती है और दूसरे उसकी आवाज के खरीदार सरकारी और गैर सरकारी (इदारे) हैं। इस तरह साहित्यकार उन पहरेदारों की याद दिलाता है जो भारती के अंधा युग में कौरवों के सूने गलियारे में इधर से उधर और उधर से इधर बेकार चक्कर काट रहे हैं और उनका सूना जीवन इसी तरह बीत जाता है। उनकी ढाल और तलवार पर उसी तरह जंग लग चुका है जिस तरह लेखक की कलम कुंठित हो चुकी है। गलियारे के पहरेदारों ने सारा जीवन कुछ नहीं किया, महाभारत में भाग तक नहीं लिया। इसी तरह लोकतन्त्र के पहरेदारों की कथनी और करनी में अगर गहरा पाट है तो वे इसकी किस तरह रखवाली करेंगे। आज सरहदों पर नये लेखन के बारे में युद्ध हो रहा है और भारत में कुछ लेखकों को छोड़कर शेष सब अपने-अपने कोटरों से जग का मुजरा देख रहे हैं, तटस्थ होकर लोकतन्त्र का तमाशा देख रहे हैं, विधान सभाओं में मुक्केबाज़ी का खेल देख रहे हैं, लोकतन्त्र को खोखला होते पा रहे हैं, एक-दूसरे को उछाल रहे हैं। पहरेदार लेखक या तो अपने-अपने गुटों में बंट गए हैं या अपने-आप में उलझ गए हैं। इस तरह साहित्यकार या तो अपना पहरेदार बनता जा रहा है या अपने गुट का। इस तरह वह अपनी भूमिका अदा करने से कतरा रहा है।

अगर उसने लोकतन्त्र के पहरेदार का रोल अदा करना है तो उसकी आवाज़ को लोक तक पहुंचना है। लेकिन उसकी आवाज़ चन्द पाठकों तक ही पहुंच पाती है। उसने देश की एकता और लोकतन्त्र को कायम रखने के लिए जन-मत को तैयार करना है। उसकी भाषा इतनी सकील है, उसका मुहावरा इतना अपरिचित है कि वह लोक-नायक तो क्या पहरेदारी का काम भी नहीं निभा पा रहा है। जन-मत लोकतन्त्र की धुरी होती है जो अपढ़ है। आज लेखक के लिए एक नया खतरा पैदा हो गया है। कागज़ और छापेखाने के दाम इतने बढ़ गए हैं कि उसका लेखन ठप होता जा रहा है। एक तो कलम के सिपाही की कलम में इतनी ताकत नहीं है और जितनी है वह नाकाम साबित हो रही है। इस दृष्टि से भी वह अपनी भूमिका अदा नहीं कर पा रहा है। छोटी पत्रिकाओं में कुछ काल तक इन पहरेदारों की आवाज़ बुलन्द होने लगी थी; लेकिन कागज़ के अभाव ने इसे दबोच डाला है। अपनी बगलें झांकने के सिवा इनके पास और चारा ही क्या है। अब रंगमंच पर इनकी आवाज़ उठने लगी है। असली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहरेदार वह है जो हार कर भी हार मानने वाला न हो। रंगमंच के माध्यम से वह सीधे लोगों से संवाद कर सकता है और कर भी रहा है। लोकतन्त्र में तन्त्र का लोक पर हावी हो जाना सबसे बड़ा ख़तरा है जिसका उसने सामना करना है। लोक तन्त्र के लिए नहीं होता, लोक के लिए तन्त्र होता है। आज तन्त्र में या नौकरशाही में वह इतना ज़कड़ गया है कि वह अपने को हर क़दम पर लाचार महसूस करता है। घूसखोरी के बिना उसका काम नहीं बनता। घूसखोरी नयी भी नहीं है, लेकिन आज यह इतने पैमाने पर जारी हो गयी है कि इसका इलाज मुश्किल हो गया है। रिश्वत पहले भी चलती थी; लेकिन कायदे से। आज यह बेकायदा और खुलेआम चलने लगी है। इसे दूर करने के लिए हर तरह के पहरेदार को सावधान होना है, जागना है। पहले रिश्वत रात को चलती थी, अंधेरे में चलती थी, लेकिन अब यह दिन की रोशनी में चलने लगी है। यह लोकतन्त्र को ले डूबेगी। जनता को नौकरशाही के दरवाज़े खटखटाने पड़ते हैं जहां से उसे निराश लौटना पड़ता है। नौकरशाही एक बड़ी मशीन बनती जा रही जो है रिश्वत के तेल के बिना चल नहीं पा रही है। बाहर से एक शोध करने वाला आया था। यह जांच करने के लिए कि यहां की नौकरशाही किस तरह काम कर रही है। उसकी भारी भरकम रिपोर्ट में तान इस बात पर तोड़ी गयी है कि इस देश को चलाने वाली छोटी-बड़ी रिश्वत है और छोटी रिश्वत को उसने रिश्वत का नाम देना उचित न समझकर होटल के बहरे की टिपिंग का नाम दिया है जिसके बल पर गरम चाय या काफी मिलती है और जिसके बिना यह मशीन ठप हो सकती है।

अब राज़ यह कोई राज़ नहीं
सब एहले गुलस्तान जानते हैं।

पहरेदार साहित्यकार भी इस राज़ को खूब जानता है। अब मैं इस अन्तिम सम्पादकीय के साथ आप से विदा ले रहा हूं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सूर्यप्रसाद दीक्षित
हिन्दी विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर
(राजस्थान)

छायावादी कवियों के कुछ गत्वर बिम्ब

छायावादी काव्य में गतिपरक अंग-भंगिमाओं और वेगोद्‌बोधक बिम्बों की प्रचुरता है। इन कवियों ने गत्वर बिम्बों को बड़ी तत्परता के साथ अंकित किया है। छायावादी कवियों को सामान्यतः गतिशील जीवन प्रिय है किन्तु तीव्र अथवा उन्मद गति इन्हें अभीष्ट नहीं है। प्रसादजी के मतानुसार जीवन की दौड़ बड़ी लम्बी है, अस्तु उसके लिए अधिक चंचल नहीं होना चाहिए।[1] इन कवियों ने प्रवेगपूर्ण गति को निरापद नहीं माना है, बल्कि तीव्र गति में स्खलित होकर लुढ़क जाने की आशंका प्रकट की है। छायावादियों ने प्रायः पतनोन्मुख व्यक्ति को ही अतिशय गतिशील कहा है। कामायनीकार ने मनु को 'अप्रतिहत गति'[2] कहकर इसी मत की पुष्टि की है। प्रसादजी को यह 'धूमकेतु सी गति'[3] नितांत अवांछनीय है। कवि ने उद्दाम वेग को ही देव संस्कृति के विनाश का मूल कारण सिद्ध किया है—'सब में एक **अचेतन गति** थी, जिससे पिछड़ा रहे समीर'[4]। वस्तुतः जीवन-स्पन्दन से तीव्रतर वेग वाली यह गति दुर्गति बन जाती है। अस्तु, कथाक्रम में भयावहता का आभास करने के उद्देश्य से छायावादियों ने यत्र तत्र भले ही प्रचण्ड गति का संकेत कर दिया हो, यों इन्हें मंद-गति ही अभिप्रेत है, क्योंकि वह एक सर्वथा सहज स्वाभाविक गति है।

छायावादी कवियों ने प्रायः प्रत्येक प्रकार की गतिविधि को प्रत्यंकित किया है। इन्होंने मानव की पद गति के अतिरिक्त पत्रों की सिहरन, लहरों के लास, दूर्वादल के स्पन्दन, वायु के प्रकम्पन, पक्षियों के उड्डयन, नौ संतरण और न जाने अन्य कितनी गतियों को स्वर दिया है। इन्होंने मनोभावों की गति तथा आंगिक चेष्टाओं (अंग भंगिमाओं) तक को शब्दबद्ध किया है और इस प्रकार गति-सौंदर्य का सर्वांगीण चित्रण किया है। निश्चय ही यह गति-सौंदर्य वैविध्यपूर्ण है। इसके अन्तर्गत एक व्यक्ति या प्राणी विशेष की गतिविधि का रूपांकन प्राप्य है और एक वर्ग अथवा समुदाय का भी, जैसे कामायनी में व्यक्ति मनु की 'अप्रतिहत गति' और समस्त देव समाज की 'अचेतन गति' दोनों का सविस्तार विश्लेषण किया गया है। कामायनीकार ने व्यष्टि के साथ-साथ समष्टि चेतना और कालचक्र की गति का जो चित्रण किया है, वह भी गति-सौंदर्य के अन्तर्गत स्मरणीय है—

> 'यह नर्तन उन्मुक्त विश्व का स्पन्दन द्रुततर
> गतिमय होता चला जा रहा अपने लय पर।'[1]
> × वह अनंत चेतन नचता है **उन्मद गति** से'[2]

इस विराट सत्ता की विश्वात्मक गति प्रकृति के माध्यम से सविशेष अंकित की गई है। नटराज का नृत्य (कामायनी) इसका उत्कृष्ट उदाहरण है। अस्तु इस संदर्भ में विविध छायावादी गतियां उल्लेखनीय हैं।

तरंगायित गति : १—जलतरंग: छायावादियों को प्रकृति के विभिन्न रूप और उनकी गतिविधि प्रिय है। उन्होंने सागर, सरिता, सरोवर आदि की उच्छल तरंगों की क्रीड़ा का गत्यंकन प्रायः मनोयोगपूर्वक किया है, यथा—

१. राज्यश्री—१२ २. कामायनी—२०६
३. ध्रुवस्वामिनी—४७ ४. कामायनी—११

१, २ कामायनी—१६१, १६३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'उठ-उठ, गिर-गिर, फिर-फिर आती
नर्तित पद चिन्ह बना जाती···।
···उठ उठ री लघु लोल लहर···।[१]
× 'किस अनंत का नीला अंचल हिला हिलाकर
आती हो तुम सजी **मण्डलाकार**···'[२]
× 'चूमती चल पद चपल तरंग···'[३] आदि।

उपर्युक्त उद्धरणों में लोल-चपल लहरों का गति-सौंदर्य द्रष्टव्य है। यहाँ भाषागत लघुपद गुम्फ और तरंगायित ध्वनियों द्वारा गति को प्रतिध्वनित किया गया है। वस्तुतः गति का चांचल्य इन कवियों को रुचिकर लगा है। सामान्यतः इन्हें तरंगों की लघुलोल गति ही प्रिय है, पर कुछ स्थलों पर इन्होंने लहरों की भीषण गति का भी वर्णन किया है। कामायनीकार ने प्रलय सिंधु के आप्लावनकारी एवं सबल तरंगाघातों और लहरों के विराट आलोड़न का गत्यंकन किया है, जैसे—

"उधर गरजती सिन्धु लहरियां
कुटिल काल के जालों सी,
चली आ रही फेन उगलती
फन फैलाए व्यालों सी।"[४]

यहाँ सर्पाकार लहरों की प्रचण्ड वर्तुल गति का सजीव चित्र अंकित किया गया है। पंतजी ने इसी प्रकार 'क्षुब्ध जल शिखरों'[५] और निराला ने 'शतघूर्णावर्त तरंग-भंग-उठते पहाड़'[६] अर्थात् ऊर्ध्व जल तरंगों की कल्पना कर उनकी भीषण गति का संकेत किया है।

२. **वायुतरंग**—गतिशीलता की दृष्टि से इन कवियों ने वायु-तरंगों की गतितिधि का भी सूक्ष्म चित्रण किया है। प्रसादजी को सामान्यतः 'मलयज मंथर गति'[७] प्रिय है। उन्होंने सौरभ से बोझिल वायु लहरियों का सुरुचिपूर्ण रूपांकन किया है, जैसे—

'पवन में हैं पुलक **मंथर चल रहा** मधुभार'[८]
× **गति मरंद मंथर** मलयज सी'[९]

कवि ने 'मंद पवन'[१] की अनेक आवृत्तियाँ की हैं। उसने प्रवेगपूर्ण गति को यत्र तत्र 'अबाधगति मस्त सदृश'[२] अवश्य कह दिया है, फिर भी वायु लहरियों को प्रायः मंद रूप में ही अंकित किया है। निरालाजी को भी '**मृदु गति** मलय समीर'[३] अभीष्ट है। उन्होंने यद्यपि हनुमान के उड्डयन-प्रसंग में पिता पक्ष से प्राप्त उन्चास पवनों की प्रचण्ड गतिविधि का चित्रण कर, साथ ही 'द्रुत समीर कम्पित थर थर थर'[४] आदि उल्लेखों द्वारा वायु तरंगों की भीषणता का वर्णन किया है, फिर भी मंद गति उन्हें आपेक्षिक दृष्टि से रुचिकर है। कवि ने—'मंद समीर'[५], 'मंद बयार'[६], 'मंद पवन के झोंकों'[७] 'मंद चंचल समीर'[८], 'मंद पवन बहती'[९], 'मंद मलय'[१०], 'मंद मंद बही पवन'[११] आदि प्रयोगों के माध्यम से अपनी **मंदप्रियता** का परिचय दिया है। कवि ने पवन की गति का रूपांकन भी किया है और ध्वनन भी। 'जूही की कली' में उसने शब्द-विन्यास द्वारा वायु के कई गत्वर बिम्ब प्रस्तुत किए हैं—

"फिर क्या पवन ?
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि-कानन
कुंज लता-पुंजों को पार कर···।"[१२]

यहाँ वायु की गति को प्रतिध्वनित किया गया है और प्रतिबिम्बित भी। इस प्रवाह में जो वेग है, वह प्रचण्डता का नहीं, बल्कि अधीरता अथवा व्यग्रता का सूचक है। निरालाजी को विराटता बोध के लिए भले ही द्रुत गति अपेक्षित रही हो, सामान्यतः वे मृदु-मंद गति के ही अभिलाषी रहे हैं।

वायुतरंगों की मंद गति महादेवीजी को भी अभीष्ट है। उन्होंने विविध सन्दर्भों में 'श्वास के मधुभार मंथर बात'[१३], 'मत्त समीरण'[१४], मृदु मंद मलय आदि के संकेत दिए हैं और सहज विलम्बित मंथर गति के प्रति सुरुचि

१. लहर—६ २. परिमल—७६
३. गुंजन—७८ ४. कामायनी—१४
५. पल्लव—३८ ६. अनामिका—१५३
७. झरना—२६ ८. कामायनी—८६
९. झरना—५२

१-२. कामायनी—४८, १५७
३-८. परिमल क्रमशः ८१, ६६, १००, ११५, १६१
९. गीतिका—६८ १०. परिमल—२३०
११. गीतिका—१०२ १२. परिमल—१७२
१३. सान्ध्यगीत—५३ १४. नीरजा-२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदर्शित की है। वस्तुतः झंझा का सा प्रचण्ड वेग इन कवियों को रुच्य नहीं है, बल्कि मलय का सहज संचरण ही इनके मनोनुकूल है। इन्होंने प्रकृति और दैनिक जीवन, सबमें मंद-मंथर गति को प्रश्रय दिया है।

मंद मंद द्रुत पद-गति—

मानवीय गति के सौंदर्यांकन के प्रति भी ये कवि पर्याप्त सयत्न हैं। प्रसादजी ने इड़ा की 'चरणों में गति भरी ताल'[1], 'बेला की थिरकती चाल'[2], 'लालसा' की चाल की लचीली लटक'[3], 'कमला' के 'मधुर भार से विजड़ित चरण'[4], श्रद्धा और उसके पालित पशु की सक्रीड़ गति,[5] पर्वतारोही मानव की 'डग भरती' 'विथकित गति'[6] और गर्भिणी श्रद्धा की दुर्वह (भाराक्रांत) गति[7] आदि का भाव विभोर चित्रण किया है। उन्होंने 'स्कन्द-गुप्त' में एक स्थल पर कामिनियों के वेश-विन्यास तथा आँखों की लुकाचोरी की भर्त्सना करते हुए अंगों को सिमटाकर चलने की क्रीड़ा को कामोत्तेजक सिद्ध किया है।[8] तात्पर्य यह है कि प्रसादजी को सहज-स्वाभाविक पद-गति ही अभीष्ट है, कृत्रिम अंग-भंगिमा नहीं। उन्होंने रात्रि का मानवीकरण करते हुए उसे 'घूँघट उठा देख मुस्क्याती···ठिठकती सी आती'[9] अवश्य अंकित किया है और इरावती की 'हिलकोर उठाती हुई'[10] सी गति का भी उल्लेख किया है, किंतु समग्र रूप से वे अकृत्रिम पद गति के ही अभिलाषी हैं। निष्कर्ष यह कि प्रसादजी वात्याचक्र समान आवेग के लिए अप्रस्तुत हैं और मृदु मंथर गति के लिए पर्युत्सुक।

निरालाजी ने उदात्त सौंदर्य की सृष्टि करते हुए जहाँ प्रचण्ड गति को प्रश्रय दिया है, वहीं सौंदर्य एवं सौकुमार्य के निदर्शन हेतु प्रायः मंद पद-विन्यास की आयोजना की है। उनके कुछ उद्धरण विचारणीय हैं—

१. कामायनी—१६८   २. इन्द्रजाल—१४
३. कामना—३६   ४. लहर—६०
५-७. कामायनी—८३, २८६, १४३
८. स्कन्दगुप्त—६२   ९. कामायनी—३६
१०. इरावती—६५

'आए मंद चरण अभिरामा'[1]
× 'आओगे जब **मंद चरण**···'[2]
× 'संकुचित एक **लज्जित गति**'[3]
× 'खो न जाए वह **चपल बाल गति**'[4]
× 'अंबर पथ से **मंथर** सन्ध्या श्यामा
उतर रही पृथ्वी पर **कोमल पद भार**'[5]

'उपर्युक्त पंक्तियों में सलज्जता, मंदता, चपलता, कोमलता, नीरवता आदि को गति-सौंदर्य का वैशिष्ट्य माना गया है। निरालाजी ने सौंदर्य और श्रृंगार के प्रसंगों में प्रायः मृदु पद-क्षेप को वरीयता दी है। उन्होंने 'नीरव पद संचार'[6], 'मंद मंद गति'[7], 'मृदु मंद गति'[8], विलोल हिल्लोल चरण प्रवाह,[9] 'लघु पद विहार',[10] 'कोमल चरण'[11], 'गति सहजमंद'[12], 'चंचल तरंगिणी की तरल तरंगों पर सुरललनाओं के चारुचरण चपल नृत्य'[13] आदि को गति सौंदर्य का आदर्श स्वीकार किया है। कवि ने मृदु मंद लघु आदि प्रयोगों द्वारा उक्त गुणों की आवृत्ति की है, साथ ही परिपुष्टि भी।

निरालाजी ने गति को चित्रित करने का भी उपक्रम किया है। वे मंद और लहरीली गति के प्रति विशेष आकृष्ट हैं। 'सुकुल की बीबी' कहानी में उन्होंने 'लहराती हुई मंद गति'[14] को सविशेष लक्ष्य किया है और उस अंग-भंगिमा को रूपायित भी किया है। कवि ने 'शिथिल अलस पग'[15], 'चली मंद मराल'[16], 'अलस मराल चाल'[17] आदि उक्तियों द्वारा सुंदरी की हंस गति का वर्णन किया है। एक स्थल पर कवि ने उसे 'गजगामिनी'[18] का भी सम्बोधन दिया है। कवि को मंद मस्त गति प्रिय है, अतएव उसने परी जैसी 'सन्ध्या सुन्दरी' को अम्बर पथ से

१. अनामिका—८१
२. गीतिका—३०   ३. परिमल—१४७
४-५. गीतिका—७२, १०२
६.-९. परिमल—१०६, ७६, १०१, ५४
१०-१२. अनामिका—७, ३४, ३५, ८६
१३. परिमल—२२३   १४. सुकुल की बीबी—७२
१५. परिमल—४६   १६. गीतिका—४
१७. परिमल—४६   १८. अनामिका—३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'धीरे-धीरे-धीरे'[१] उतरते दिखाया है। वस्तुतः इस प्रकार का मंद मृदु पद क्षेप निराला के गति-सौंदर्य का प्रिय बिम्ब है।

पंतजी को भी गत्वर बिम्बों के उपस्थापन में यथेष्ट सिद्धि मिली है। 'भावी पत्नी के प्रति' कविता में उन्होंने 'जड़ित पद नमित पलक'[२] और 'लघुपद चंचलता'[३] की जो कल्पना की है, वह गति-सौंदर्य का एक उत्कृष्ट-उदाहरण है। पंतजी ने प्रायः 'लघु चंचल और मृदु पदक्षेप', 'चंचल मृदुपटु पद चार'[४] और 'चपल लघु पद लहलह सुकुमार'[५] की कल्पना की है। पंतजी ने भी यत्र यत्र 'गजगति' का प्रयोग किया है[६]। उन्हें सस्फूर्त क्षिप्र गति 'तड़ित जब'[७] भी मनोनुकूल प्रतीत होती है। उन्होंने ग्रामीणा की अंग भंगिमाओं और विशेषतः द्रुतगति का दृश्यांकन करते हुए उसकी गत्यात्मकता तथा त्वरा का जो बिम्ब प्रस्तुत किया है, वह निश्चय ही श्लाघ्य है—

'सरकाती पट, खिसकाती लट, शरमाती झट
···उर मटकाती, कटि लचकाती···अति क्षिप्रचरण'[८]

यहाँ अनेक आंगिक चेष्टाएँ एवं भंगिमाएँ भास्वर हुई हैं। पंतजी ने कुछ अन्य कविताओं में सीप से जलदों के पर खोले नभ में मौन उड़ती और व्योम से चुपचाप उतरती गतियों का भी मानस-बिम्ब प्रत्यंकित किया है।[९] निरालाजी ने भी अंग-भंगिमाओं को सूक्ष्मतापूर्वक उभारा है, जैसे—

'झुक झुक तन तन फिर झूम झूम हंस हंस झकोरे···मुखड़ा मरोर'[१०]

×हेर उर पट फेर मुख के बाल लख चतुर्दिक चली मंद मराल'[११] आदि।

कवि ने एक स्थल पर दो भिन्न गतियों का रूपांकन किया है। उसने विजेता राक्षस दल को द्रुत गति से 'पद तल-पृथ्वी टलमल' युक्त और वानर बाहिनी को स्थविरों की तरह अधोमुखी मंदगति युक्त चित्रित किया है।'[१] ये दृश्य उसके गति-सौंदर्य-विधान के साक्षी हैं।

महादेवीजी ने 'पग मृदुतर'[२], 'मृदु पद'[३], अलस पद-गति, 'अलस चरण'[४] और नीरव पद-चापों की अनेक आवृत्तियाँ की हैं। वस्तुतः 'हौले हौले' गति और 'सजल श्यामल मंथर पदध्वनि'[५] उनकी एक गत्यात्मक रूढ़ि-सी बन गई है। कवयित्री के 'नीरव पद-चाप' का विश्लेषण ध्वनि-सौंदर्य के विचारक्रम में प्राप्य है, क्योंकि उसमें गत्यात्मकता नहीं है, बल्कि ध्वनि का ही वैशिष्ट्य है। महादेवीजी ने यत्र-तत्र कल्पित रूपसियों के गतिमय नृत्य ताल और प्रकृति के अन्य उपकरणों की क्रिया-प्रक्रियाओं के अन्तर्गत भी इसी प्रकार के कुछ गतिमय चित्र अंकित किए हैं। उन्होंने 'निमिषों की गति'[६] तक को रूपांकित किया है, जो स्वयं में सराहनीय है।

अन्य स्फुट गतियाँ—पद-विक्षेप के अतिरिक्त अन्य भावानुभावों, मुद्राओं और अंग-भंगिमाओं की जो गति-विधियाँ छायावादी कवियों द्वारा निरूपित की गई हैं, उनका विवेचन भी करणीय है। इन कवियों ने 'अधीर मन के क्षोभ युत उन्माद'[७] और उसकी वासनोन्मुख गति को रूप बद्ध' किया है। छायावादियों ने छोटे से छोटे तृण के कम्पन को गत्यंकित किया है और उसकी ध्वनि को सम्प्रेषित करने का यत्न किया है, किन्तु वह गति की अपेक्षा स्पर्श और ध्वनि-सौंदर्य के अधिक निकट है। गति-सौंदर्य के अन्तर्गत तो मुख्य रूप से प्राकृतिक तत्त्वों—जैसे वायु या जल की तरंगों के संचरण और प्राणियों के पद-विन्यास का ही प्रतिपादन किया गया है। स्फुट रूप से कहीं-कहीं नौ-संतरण और उड्डयन के दृश्य भी समाविष्ट कर लिए गए हैं। पंतजी की 'नौका बिहार' कविता में संतरण की गति का सुंदर समायोजन किया गया है, यथा—

'मृदु मंद मंद मंथर मंथर, लघु तरणि हंसिनी सी सुन्दर।
तिर रही खोल पालों के पर···।'[८]

१. परिमल—१२६
२.-५. गुंजन—४३, ४२, ५७, ५६
६. ग्राम्या—१७ ७. गीतहंस—२
८. ग्राम्या—१७, १८ ९. युगांत—५२
१०. अनामिका—६८ ११. गीतिका—४

१. अनामिका—१४६ २. दीपशिखा—१०५
३.-५. नीरजा—५४, ४, ५०, ३८
६. रश्मि—२० ७. कामायनी—६२
८. गुंजन—१०२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार मन के ऊर्ध्व संचरण का एक दृश्य ध्यातव्य है—'मुक्त गगन में उड़ता ऊपर ऊपर ऊपर।'[१] यहाँ 'ऊपर' शब्द की आवृत्ति उड़ान की गति की द्योतक है। निराला ने तुलसीदास के 'उन्मन वन-विहंग' की उड़ान[२] और हनुमान की सप्ताकाश भेदी गति—'शत वायु-वेग'[३] का वर्णन कर गति सौंदर्य का उदाहरण दिया है। प्रसादजी ने भी एक स्थल पर 'लघु सुरधनु से पंख पसारे' पक्षियों की 'मलय समीर सहारे' बढ़ने वाली सहज (निरायास) गति का सुन्दर रूपांकन किया है।[४] यहाँ शब्दों द्वारा गतियों को प्रत्यक्षीकृत कराया गया है। कविता का लघु पद-विन्यास नौ संतरण या उड्डयन की लघु, चपल, मंद एवं मृदु गतियों की द्योतक है और यह दृश्य कवि के गति-सौंदर्य का साक्षी है। प्रकट है कि छायावादियों के गति-चित्र वैविध्यपूर्ण हैं। इन कवियों को प्रायः चपल चंचल गति प्रिय है और मंद-अलस गति भी। (द्रष्टव्य, अलस सौंदर्य) इन्होंने यथाशक्य उन्मद गति की अवमानना की है। निरालाजी ने अवश्य यत्र तत्र औदात्यवश प्रचण्ड गति को वरण किया है, यों सामान्यतः वे भी 'मंद गमन' के समर्थक हैं। छायावादियों के ये चित्र विश्लेषण के आधार पर उनके एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक धरातल की ओर अंगुलिनिर्देश करते हैं, साथ ही उनके गति विषयक 'मोटिव' (रूढ़ियों) का संकेत भी देते हैं। ऐन्द्रिय गति के साथ-साथ छायावादी कवियों ने सूक्ष्म गतियों का भी यत्र तत्र उल्लेख किया है, जैसे—मनोगति, हृद् गति और भावनात्मक गतियों के कुछ उल्लेख अवलोकनीय हैं। छायावादियों ने मन को सुदूरगामी, द्रुतगामी और सर्वगति-सदागति माना है, साथ ही उसे पद-गति का उत्प्रेरक भी। श्रद्धा के इन शब्दों से प्रकट है कि हिमालय को देखते ही पहले उसका मन उन्मुख होता है, फिर तन—'बढ़ा मन और चले ये पैर'...'[१]। इसी प्रकार छायावादी कवियों ने अन्य अनेक भावनात्मक गतियों को लिपिबद्ध किया है, जिससे उनकी गतिप्रियता का प्रमाण मिलता है।

स्पष्ट है कि छायावाद में बड़ा गति-वैविध्य है। इन कवियों ने जल तरंगों एवं वायु लहरियों की गति को सूक्ष्मतापूर्वक अंकित किया है। इन्होंने चरणों की मृदु, मंद, अलस, चंचल, उन्मद—सभी प्रकार की गतियों को रूपायित किया है। इनमें प्रसादजी नृत्यमयी लहराती हुई सक्रीड़ गति के प्रति अपेक्षाकृत अधिक आकृष्ट दिखते हैं। निरालाजी ने द्रुत (तूफानी) गति के साथ ही लघु पद संचार और मंद चरण-गति दोनों को महत्त्व दिया है। पंत को भी चंचल अंग-भंगिमा पूर्ण गति प्रिय है। महादेवीजी ने गत्वर बिम्बों में 'निःशब्द पद-चाप' और 'हौले हौले' गति को स्वरबद्ध किया है। अन्य कवियों ने गति सौंदर्य के प्रति प्रायः सुरुचि नहीं प्रदर्शित की है। छायावादी वृहत्त्वतुष्टय ने स्फुट रूप से कई गतियों का उल्लेख किया है, जैसे सलज्ज अभिसारिका की गति, गर्भिणी की दुर्वह गति, सुन्दरियों की आशिंजित चरण गति, नर्तकियों की ताल भरी गति, पशुओं की सक्रीड़ गति, नौसंतरण और उड्डयन की गति आदि। ये गतियां चाक्षुष भी हैं और ध्वन्यात्मक भी। परम्परानुसार इन्होंने मराल गति, गज गति और मंथर मलयज गति को अपना आदर्श स्वीकार किया है। निस्संदेह अपनी सूक्ष्मता एवं सजीवता के कारण यह गति-सौंदर्य असन्दिग्ध है।

—:०:—

१. गीतहंस—१४
२. तुलसीदास—२२
३. अनामिका—१५३
४. चन्द्रगुप्त—१००

१. कामायनी—५१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० जगमोहन चोपड़ा
हिन्दी विभाग,
पत्राचार शिक्षा निदेशालय,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

परम्परागत 'नायक' : पुनर्विचार

शताब्दियों से हम जिस परम्परागत नायक की घुट्टी पीते आ रहे थे, यानी एक लम्बे अर्से से जो शब्द हमें 'हाँट' कर रहा था आज वह 'नायक' शब्द अपने युग की बौद्धिक माँग के आगे बेमानी होकर रह गया है। यह सब न तो एक दिन में हुआ है और न अचानक ही। इसके पीछे एक अन्तहीन कारणों की शृंखला है जिसने आभिजात्य नायक को अपने स्थान से पदच्युत करवाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। एक समय था जब संस्कृत नाट्य-शास्त्रियों ने नायक के गुणों को गिनाते हुए उसे नेता, विनीत, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, वाग्मी, स्थिर, वृद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्र दृष्टिवाला और धार्मिक वृत्तिवाला मानते हुए उसे कथा का मुख्याधार माना था।[1] तत्कालिक साहित्य (संस्कृत नाटकों) में तब मात्र आदर्शवादी अथवा रस-वादी-नाटक परम्परा ही प्रचलित थी। मध्ययुगीन साहित्यकार तब मानवीय नियति से अपना लगाव और उसके प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए जिन माध्यमों का आश्रय ग्रहण करता था, वे माध्यम उसके लिए भी उतने ही सार्थक थे, जितने जनता के लिए, अत: उसे अपने दायित्व की दिशा खोजने और उन्हें जनता तक पहुँचाने में उतनी कठिनाई अनुभव नहीं होती थी। वे माध्यम थे—वीरपूजा या धर्म। या तो उसका नायक कोई ऐसा महामानव अथवा महापुरुष होता था जो समस्त मूल्यों, मर्यादाओं को निजमें समाहित किए रहता था, जनता उसे आदर की दृष्टि से देखती थी, और उसी के सुख-दु:ख से अपनी नियति को अनिवार्यत: आवद्ध मानती थी। या फिर धर्म को पीठिका के रूप में ग्रहण किया जाता था और प्रभु को जाति की नियति के प्रति संवेदनशील दिखाकर, उनके किसी अवतार के माध्यम से मर्यादाओं का विधान होता था, मूल्यों की नवनव स्थापना होती थी। आज उस प्रकार की वीर-पूजा का न तो कोई महत्त्व ही रह गया है और न कोई अर्थ ही। आज नायक विघटित हो गए हैं, धर्म के विषय में सन्देह उत्पन्न हो गया है। जहां धर्म को ग्रहण भी किया गया, वहां उसके नये मानव परक अर्थ खोजने का प्रयास किया जाता रहा, उसे सफलता मिली या नहीं यह अलग बात है।[1] आज उसे उसी अर्थ में स्वीकार करना जिस अर्थ में उसे नाट्यकारों ने स्वीकारा था या उसे धीरोदात्त आदि नायक के 'कैनवेस' में फिट करना असम्भव ही नहीं अपितु भ्रमात्मक भी होगा। क्योंकि आज न तो आदर्शवादी और न ही रसवादी परम्परा है। आज सामाजिक, समस्या प्रधान और व्यक्ति प्रधान उपन्यासों का युग है जिनमें आदर्श की अपेक्षा यथार्थ या अतियथार्थ, समष्टिकी अपेक्षा व्यष्टि तथा बाह्य की अपेक्षा आभ्यान्तरिक वृत्तियों को अधिक महत्त्व दिया जा रहा हैं। अगर हम हिन्दी साहित्य के इतिहास के अतीत में झाँकें तो वहाँ हमें निश्चित रूप से आज की औपन्यासिक विधा के कहीं कोई निशान तक नहीं मिलते। वस्तुत:

१. हिन्दी साहित्य कोश, भाग १—प्र० सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४३०

१. मानव मूल्य और साहित्य—धर्मवीर भारती, पृ० ७१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपन्यास नाम की तब कोई विधा थी ही नहीं।

आज जब हिन्दी उपन्यासकार मानवीय नियति से सम्बद्ध अपने दायित्व का निर्वाह करने के लिए सन्नद्ध होता है तो उसे अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। द्विधा और असफलता के इस संक्रांति-कालीन युग में आज का हिन्दी उपन्यासकार एक ऐसे बिन्दु पर पहुंचने का दावा कर रहा है जहाँ नायक नामक चीज़ का महत्त्व निश्चित रूप से परम्परागत अवधारणा से कम होता जा रहा है। आधुनिक जीवन की समस्याओं, परिस्थितियों और जटिलताओं ने हमारा ध्यान एक केन्द्र से उखाड़कर उसे सृष्टि और मानव के बीच बिखेर दिया है, जहाँ केवल लघुमानव है, उसका जीवन है, उसकी समस्याएँ हैं। महानगरीय सभ्यता और भीड़ आदि ने इन्सान के सामने ऐसी परिस्थितियाँ ला खड़ी हैं कि आज मानव उनमें कुलबुला कर रह गया है।[1]

वह उनसे छुटकारा पाना चाहते हुए भी छुटकारा नहीं पा सकता। यही कारण है कि वह अपनी नियति के बारे में मात्र मौन द्रष्टा बनकर रह गया है। अतीत उसे बुरी तरह कचोटता है, वर्तमान से वह सन्तुष्ट नहीं, आगत की आशंका से त्रस्त होकर वह धुरीहीन व्यक्तित्व लिए रह गया है। इस कुछ न कर सकने की स्थिति को वह सम्पूर्ण सामाजिक परिवेश के दंश, मसलन परिवार, माँ-बाप, यार-दोस्त, नेता-राजनीति, आर्थिक नीति और बेरोज़गारी आदि में आँकता है। उसे ये सब मजबूर करते हैं कि वह स्वयं को उन मूल्यों से काट-काट अलग कर ले, जिनके कारण वह अपने-आपको इतिहास का नायक समझता आया है।

आज वह उन सब भ्राँतियों से छुटकारा चाहता है जिसका वह शिकार बनता रहा है। 'हिप्नोटाईज़' करने वाले लोगों की असलियत अब उसके सामने पारदर्शी शीशे के समान स्पष्ट हो गई है। वह अपने मुँह पर झूठी प्रतिष्ठा की नकाब को अधिक दिनों तक ढो नहीं पा रहा। राजनीति और पुलिस राज्य को वह वाहियात इसलिए समझने लगा है क्योंकि वे व्यक्ति के विकास में बाधक हैं। वह जानता है आधुनिक सभ्यता, औद्योगी-करण, मशीनीकरण और सामाजिक आडम्बरों एवं दिखावे ने जहाँ उसकी स्वतन्त्रता छीन ली है वहीं उसे गुलाम भी बना दिया है। यही कारण है कि अब प्राचीन संस्थाओं में भी उसकी आस्था नहीं रही—चाहे वह संस्था धार्मिक क्षेत्र में मन्दिर हो, राजनीतिक क्षेत्र में सरकार हो या सामाजिक क्षेत्र में शादी-ब्याह एवं परिवार हो। यूँ मानव जाति का इतिहास उसके लिए अत्याचार, उत्पीड़न और बड़े-बड़े युद्धों में बही रक्त की नदियों और सड़ती हुई लाशों के सिवाए कुछ नहीं। यही कारण है कि वह अपने स्मृति पटल से झूठे इतिहास के सम्पूर्ण अतीत को हटा कर आज मृत्यु को एकमात्र सत्य मान बैठा है। चूंकि मृत्यु उसे किसी भी क्षण दबोच सकती है इसलिए लम्बे भविष्य की बात सोचना उसके लिए एब्सर्ड है। यही कारण है कि उसकी आस्था मात्र क्षण में और उससे उप-लब्ध होने वाली तीक्ष्ण अनुभूतियों में बढ़ती जा रही है। वर्तमान का कोई भी अनुभव उसके लिए वर्जित नहीं। वह चाहता है हर चीज़ को 'डिग' करे, अनुभूतियों की तहों में जाए। उसका वास्तविक उद्देश्य सामाजिक, धार्मिक, या राजनीतिक नहीं, मात्र वे अनुभूतियाँ ही उसका अन्तिम लक्ष्य है।

अतः आज मानवीय प्रयत्न की विद्रोही संस्कृति, विरोधी दिशा को आमतौर पर नकारा नहीं जा सकता। इससे पूर्व इस तरह का दबाव, इतने गहरे और व्यापक रूप में मस्तिष्क और संवेदना को कभी भी प्रभावित नहीं कर सका। यूँ इसका सीधा परिणाम खीझ, तनाव, संघर्ष और व्यंग्यपूर्ण व्यवहार में होता है। जब सारे युग का मिज़ाज इस तरह का हो तब वह मिज़ाज अपने आप में चुनौती का रूप ग्रहण कर लेता है। आज जीवन और साहित्यिक विधा के हर क्षेत्र में यह चुनौती उभरु आई

१. राष्ट्रीय आन्दोलन, डार्विन, मार्क्स, एडलर, फ्रायड, युंग, रूसो, अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराः—व्यक्तिवाद, अस्तित्ववाद, आचरणवाद, नित्शे, वाल्तेयर, गाँधी, विज्ञान, औद्योगीकरण, साँस्कृतिकरण, आधुनिकी-करण, पंचवर्षीय योजनाएँ, आर्थिक नीति, उत्पादन, उपभोग, एकाधिकार, जनसंख्या, शहरीकरण, बेरोजगारी, युद्ध आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[1] इस चुनौती को आज के उपन्यासकार ने सर्वप्रथम सामाजिक एवं दार्शनिक विचारों के आधार पर परम्परावादी 'नायक पूजा' के दृष्टिकोण के अस्वीकार द्वारा स्वीकारा है। आदर्शवादी नायक की अस्वीकृति समय की बौद्धिक माँग थी जिसे उपन्यासकार ने खुले दिल और दिमाग से स्वीकार किया। आदर्शवादी नायक को अस्वीकार कर उसने स्पष्ट कर दिया कि आज उपन्यासकार की दृष्टि आदर्श से यथार्थ और यथार्थ से भी अति यथार्थ की ओर गतिशील है। यह गतिशीलता समष्टि सत्य से व्यष्टि सत्य की ओर उत्तरोत्तर उन्मुख हो रही है।

अन्तर्द्वन्द्व और विघटन की इस प्रकार की स्थिति प्रायः अचानक साहित्य को एक नया मोड़ दे दिया करती है। यह मोड़ इतना तीखा होता है कि वह पुराने युगबोध, पुरानी चेतना, पुराने दृष्टिकोण के आगे प्रश्नचिन्ह तक लगाने का सामर्थ्य रखता है। परिणामस्वरूप पुरातन और नूतन में पारस्परिक अविश्वास, तनाव और क्षोभ का होना अनिवार्य हो जाया करता है। हर रोज़ सुबह उठने पर यदि आप यह देखें कि मूल्य बदला नहीं अपितु टूट गया है तो आपकी स्थिति क्या होगी? यही स्थिति स्वाधीनता के पश्चात् आज़ादी द्वारा जगाए गए नए विश्वासों, स्वप्नों के पूरा न होने पर आम आदमी की हुई। अपनी कुण्ठा (फ्रस्ट्रेशन) के कारण जहाँ वह अपने अन्तःकरण में विभाजित हुआ वहीं अन्तर्मुखी, नकारवादी, आत्मघाती बन गया और विध्वसंक भी। मनोविश्लेषणवादी दृष्टि, अतियथार्थवादी प्रवृत्ति और अपने ही परिवेश से प्रभावित लेखक ने परम्परागत सर्वगुण सम्पन्न नायक को उसकी पूर्व अवधारणा के साथ किसी भी शर्त पर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। गाँधी जी की मृत्यु के पश्चात् आदर्शवादी गाँधीवादी दृष्टि धुंधली पड़ते ही नायक अपनी पूर्व अवधारणा से खण्डित होकर अपने ह्रास के संकेत देने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय विचारधाराओं ने इसे और बिखेरा और उसका व्यक्तित्व टूटने की उस सीमा तक आ गया जहाँ उसके युग को उसकी आवश्यकता थी। यह व्यक्ति ही 'मैं' और आप हैं— हिन्दी उपन्यासों के नायक। अतः इस स्थिति में परम्परागत उदात्त नायक तो क्या आने थे, पात्र के रूप में भी उन्हें अपनी पहचान की सम्भाल मुश्किल हो गई।

सन् १९३६ से आज तक का औपन्यासिक साहित्य इस बात का गवाह है कि तथाकथित नायक का स्थान यदि किसी को मिला है तो वह मध्य-या निम्न मध्यवर्गीय पात्रों को ही। इस पूरे काल में यह मध्य वर्ग ही ऐसा है जिसको उसके सारे गुणों और अवगुणों के साथ यथार्थ दृष्टि से देखने का प्रयत्न हुआ है। आभिजात्य के परित्याग को आज के उपन्यासकार ने अपने सारे प्रयत्नों द्वारा स्वीकार किया है।[1] यह मध्य वर्गीय नायक किस

१ आलोचना—१२, पृ० ३७

१. जहाज का पंछी : इलाचन्द्र जोशी, नदी के द्वीप, अपने-अपने अजनबी : अज्ञेय, पथ की खोज : डॉ० देवराज, बलचनमा, नागार्जुन : बहती गंगा : शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', सूरज का सातवाँ घोड़ा : धर्मवीर भारती, मैला आँचल, परती परिकथा : रेणु, सागर लहरें और मनुष्य : उदयशकर भट्ट, बूँद और समुद्र : अमृतलाल नागर, उसका बचपन : कृष्ण बलदेव वैद, कब तक पुकारूँ : राँगेय राघव, झूठा सच : यशपाल, सारा आकाश : राजेन्द्र यादव, यह पथ बन्धु था, दो एकान्त : नरेश मेहता, किस्से ऊपर किस्सा, अठारह सूरज के पौधे, चलता हुआ लावा, बैसाखियों वाली इमारत : रमेश बक्षी, पचपन खम्भे लाल दीवारें : उषा प्रियम्वदा, शहर में घूमता हुआ आईना, एक नन्ही कन्दील : उपेन्द्रनाथ अश्क, चाँदनी के खण्डहर, कन्दील और कुहासे : गिरिधर गोपाल, वे दिन : निर्मल वर्मा, समुद्र में खोया हुआ आदमी : कमलेश्वर, अस्तंगता : कृष्णचन्द्र शर्मा भिक्खू, मछली मरी हुई : राजकमल चौधरी, कॉलेज स्ट्रीट के नये मसीहा : शरद देवड़ा, अलग-अलग वैतरणी : शिवप्रसाद सिंह, सुबह अँधेरे पथ पर : डॉ० सुरेश सिन्हा, झरोखे : भीष्म साहनी, दूसरी बार : श्रीकान्त वर्मा, अन्धेरे बन्द कमरे, न आने वाला कल, अन्तराल : मोहन राकेश, राग दरबारी : श्री लाल शुक्ल, अपने से अलग, कहीं कुछ और : डॉ० गंगाप्रसाद विमल, जल टूटता हुआ : रामदरश मिश्र, सबहिं नचावत राम गोसाई : भगवती चरण वर्मा, धूप छांही रंग : गिरीश अस्थाना, आपका बंटी : मन्नू भण्डारी, एक चूहे की मौत : बदी उज्जमाँ, सफेद मेमने : मणि मधुकर, बेघर : ममता-कालिया, धरती धन न अपना : जगदीशचन्द्र, बाँधो न नाव इस ठाँव : उपेन्द्रनाथ अश्क।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार का है उसके बारे में डॉ० गणेशन लिखते हैं···ये पात्र नायक के स्थान पर प्रतिष्ठित होने पर भी प्राचीन उपन्यासों के नायकों के समान कथानक के संचालक नहीं हैं। वे किसी महान् कार्य के प्रवर्त्तक न होकर कुछ प्राकृतिक शक्तियों से संचालित हुए हैं। इसलिए आधुनिक मनोवैज्ञानिक उपन्यासों में उदात्त पात्रों का अभाव है।···पर यह निश्चित है कि आज का मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार भी अपने पात्रों को किसी ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित करके उसको सबके आदर का पात्र बनाने को तैयार नहीं।[१] इस प्रकार की स्थिति की शुरुआत तथा इन पात्रों की पहचान के बारे में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। यूँ इनकी शुरुआत मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्तियों और उसके संघर्ष की ओर ध्यान देने से ही मानी गई है। धीरे-धीरे जब मनुष्य की अन्तश्चेतना की गहराइयों का वर्णन शुरू हुआ तब उपन्यास में एक 'नए' व्यक्ति का प्रवेश हुआ। इस नए व्यक्ति का आविर्भाव आभिजात्य के त्याग के पश्चात् हुआ जो निश्चित रूप में परम्परादी नायक से भिन्न था। इसी ने नायक के स्वरूप में अस्थिरता की स्थिति को पैदा किया।

कमलेश्वर ने इसे 'विचार मण्डित व्यक्ति की भंगिम लिए क्लीव और नपुंसक पुतले की तरह लेखक की कुण्ठाओं को वहन करने वाले' कहा।[२] अमृतलाल नगर को यह अनास्था और घुटन भरे कुण्ठित विद्रोह मानस वाला, तटस्थ अर्थात् निष्क्रिय चिंतन करने वाला लगा। डॉ० धर्मवीर भारती ने इसे वही पुराना मध्यवर्ग की संकटग्रस्त संवेदना वाला माना, जबकि मोहन राकेश को यह नया अथवा विशिष्ट न लगकर साधारण व्यक्ति लगा, और यशपाल ने इसे व्यावहारिक और व्यवसायी दृष्टि से नया स्वीकार किया।[३]

यह नया व्यक्ति अपने परम्परावादी नायक के स्वरूप को छोड़कर औपन्यासिक क्षेत्र में मिसफिट, सम्पत्ति नष्ट करने वाला, किसी की परवाह न करने वाला, अपराधी, आत्महत्या की ओर अग्रसर, भगौड़ा, क्लीव, नपुंसक और आधे-अधूरे रूप में आ रहा है। शेखर : एक जीवनी का 'शेखर', नदी के द्वीप का 'भुवन', पथ की खोज का 'चन्द्रनाथ', चाँदनी के खण्डहर का 'बसंत,' 'जहाज़ का पंछी का 'मैं', उखड़े हुए लोग का 'शरद,' कब तक पुकारूं का 'सुखराम', झूठा सच का 'पुरी', सारा आकाश का 'समर', अन्धेरे बन्द कमरे का 'मधुसूदन', किस्से ऊपर किस्सा का 'मैं', अपने-अपने अजनबी की 'योके', शहर में घूमता आईना और एक नन्हीं कन्दील का 'चेतन', वे दिन का 'मैं,' अठारह सूरज के पौधे तथा 'जलता हुआ लावा का 'मैं,' समुद्र में खोया हुआ आदमी का 'श्यामलाल', अलग-अलग वैतरणी का 'विपिन', राग दरबारी का 'रंगनाथ' अपने से अलग का 'मैं', न आने वाला कल का 'मनोज सक्सेना', कन्दील और कुहासे का 'किशू', जल टूटता हुआ का 'सतीश,' दूसरी बार का 'मैं', धूप छाँही रंग का 'सुकान्त', एक चूहे की मौत का 'छोटा चूहे मार' अथवा 'वह', अन्तराल का 'कुमार', सफेद मेमने का 'डाक्टर' या 'जस्सू', बेघर का 'परमजीत', धरती धन न अपना का 'काली', ये सभी पात्र किसी-न-किसी प्रवृत्ति को अपनी प्रकृति में लिए हुए हैं। कथा संचालन में इनका स्थान प्रायः वह नहीं है जो परम्परागत नाट्यकारों द्वारा मान्य था। न ही ये सभी तथाकथित नायिका-नायक सेवा सदन के सुमन या प्रेमाश्रम के प्रेमशंकर के समान कोई आदर्श ही उपस्थित कर पाए हैं और न ही समाज को रास्ता ही दिखाने का दावा करते हैं। आज वे हमारे सामने अँधे भिखारी, क्लर्क, नौकरी-पेशा, छात्र, प्राध्यापक, दुकानदार, रेडियो नाटककार, टेलीफोन आॅपरेटर, युवा लेखक, निजी सहायक, नृत्य शिक्षक, पत्रकार, फौजी, सिपाही, चित्रकार, बेरोजगार, डाक्टर, वैज्ञानिक, कम्पनी डायरेक्टर, नट, भूखी पीढ़ी के युवक, कृषक, शोध-छात्र और बच्चे आदि कई रूपों में आ रहे हैं। इन लोगों का जायज़ा लेने से पता चलता है कि ये हमारे सम-सामयिक समाज के ऐसे पात्र हैं, जिनसे

१. हिन्दी उपन्यास एक अध्ययन—डॉ० गणेशन, पृ० १३५
२. धर्मयुग—मार्च, १९६६
३. नई धारा—अंक ११-१२, फरवरी-मार्च, १९६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारा वास्ता पड़ता है।[1] यह नायक परम्परावादी आभिजात्य नायक न होकर आम साधारण आदमी के रूप में आ रहा है। कुल मिलाकर ये हमारी नज़र से बहुत दूर के पात्र नहीं है। परन्तु एक बात निश्चित है कि ये पात्र नायकत्व गुणों के अभाव में पात्र हैं नायक नहीं। यही नहीं आधुनिक मनोविश्लेषण भी इस बात का गवाह है कि मनुष्य अवचेतन प्रेरिकाओं द्वारा संचालित एक माध्यम बन गया है—दमित इच्छाओं का शिकार, यौन ग्रस्त, शक्ति लोलुप, हीन भाव से पीड़ित, कुण्ठाओं और ग्रंथियों में जकड़ा हुआ। स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति मनोविश्लेषण के सामने सर्वगुण सम्पन्न नायक (हीरो) नहीं रह जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि आदर्शहीन, आस्थाहीन, मूल्यहीन, संशित व्यक्ति हीरो (नायक) की भूमिका नहीं निभा सकता। वह पात्रों की सामान्य भीड़ में एक साधारण पात्र ही हो सकता है, कोई विशिष्ट व्यक्ति नहीं। वह भीड़ में व्यक्तित्वहीन भीड़ का ही प्रतिरूप है जिसे ढेर सारे पात्रों की भीड़ में रेखांकित नहीं किया जा सकता। इसी प्रवृत्ति को आज के उपन्यासकार ने अपने सृजन का अंग घोषित किया है।

इस प्रकार हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि उपन्यास साहित्य में कुछ नया अवश्य आ रहा है चाहे वह हमारे आस-पास के, हमारी आम पहचान के पात्र के रूप में आ रहा हो, चाहे वह क्लीव, नपुंसक और निष्क्रिय पात्र के रूप में आ रहा हो। यह नया आदमी निश्चित रूप से अपनी परम्परा से हटकर है, इसे साहित्यकारों ने, आलोचकों ने स्वयं स्वीकार किया है, स्वयं ही आंका है। उनका यह आँकना चाहे तटस्थ, निक्खट्टू, दार्शनिक, क्षणवादी, क्षपराधी या किसी की परवाह न करने वाले के रूप में आंकना हो, यह तो निश्चित हो जाता है कि यह नायक अथवा पात्र पहले वाले नायक से हर तरह से भिन्न है, हटकर है। इतना ही नहीं, इनमें नायकत्व भाव को समेटने वाले अर्थ भी शेष नहीं। ऐसी स्थिति में इनकी नायकत्व—भाव विहीनता ही स्पष्ट होती है जो भावी नायक-विहीन उपन्यासों में आने वाले पात्रों को अनायकत्व अथवा प्रतिनायक या नायक-विहीन प्रवृत्ति की ओर ले गई है। इस प्रवृत्ति का आविर्भाव तथाकथित नायक को प्रश्रय देने वाली प्रवृत्ति के समानान्तर, समकक्ष ही हुआ है। यह परम्परात्मक नायक को प्रश्रय देने वाली औपन्यासिक प्रवृत्ति के कुछ अनजाने ध्रुवों से खण्डित होकर जहाँ पहले वाली प्रवृत्ति से अलग होती है वहीं परम्परागत सजीव नायक का स्थान शहर, गाँव, समस्या, समय, अंचल आदि मूर्त्त अमूर्त्त आकार ग्रहण कर लेते हैं।[1] ये मूर्त्त अमूर्त्त आकार ही उपन्यास का केन्द्र बन जाते हैं।

इस प्रकार केन्द्रीय पात्र या केन्द्रीय विषय अथवा रूपान्तरण की यह स्थिति परम्परावादी नायक की अवधारणा से मेल नहीं खाती, जहाँ नायक को एक चौखटे में बद्ध रखा जाता था। परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि परम्परावादी नायक 'शब्द' बेमानी हो जाने के पश्चात् भी आज का आलोचक इन निर्जीव वस्तुओं में नायक को तलाशता है। नायक की तलाश से जुड़ा हुआ आलोचक का यह आग्रह जहाँ वस्तुस्थिति को नकारता है वहाँ आलोचना को संकुल भी बनाता है और साथ ही समसामयिक बौद्धिक माँग की अपेक्षाओं पर भी सही नहीं उतरता। आज जबकि हिन्दी उपन्यास मनःस्थितियों, समस्याओं, परिवेश की समग्रताओं अथवा वैश्विक स्थितियों में से व्यक्ति, समूह, पीढ़ियों के द्वेष, वर्तमान वैज्ञानिक संकट, मूल्यहीनता तथा भविष्यहीनता आदि के विलक्षण प्रश्न खोजता है, केवल किसी एक पात्र,

१. धर्मयुग—कमलेश्वर, ४ जून, १९६६
२. कल्पना—अंक १२, दिसम्बर, १९७०

१. बहती गंगा (१९५२) : शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', मैला आँचल (१९५४) : रेणु, परती : परिकथा (१९५७) : रेणु, अपने-अपने अजनबी (१९६३) : अज्ञेय, टूटती इकाईयाँ (१९६४) : शरद देवड़ा, कॉलेज स्ट्रीट के नए मसीहा (१९६७) : शरद देवड़ा, अलग-अलग वैतरणी (१९६७) : शिवप्रसाद सिंह, एक चूहे की मौत (१९७१) : बदी उज्ज़मा, आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक चरित्र को रेखांकित नहीं करता तो इस स्थिति में नायक का स्वरूप खोज पाना सहज नहीं है, क्योंकि 'नायक' शब्द का अर्थगत आग्रह संकट पैदा करता है। यह बहुत निश्चित है कि नायक शब्द का पारम्परिक अर्थ अब विसंगत हो गया है। इसमें अर्थ का अथवा स्वयं इस शब्द का रूपान्तरण जरूरी हो गया है। प्रायः इस स्थिति में कथा-केन्द्र अथवा केन्द्रीय-विषय नायक का स्थान ले सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि यह समस्या को अधिक जटिल एवं विवादास्पद भी बना सकता है। समाधान के रूप में 'नायक' शब्द के प्रयोग में उन नए अर्थों को तलाशना होगा जो इस संकटकालीन अथवा विवादास्पद समस्या को सुलझा सकें। जहाँ तक नायक-विहीन उपन्यासों का प्रश्न है उनमें नायक की तलाश केन्द्रीय-विषय, केन्द्रीय-पात्र अथवा कथा-केन्द्र की हो सकती है। इस प्रकार के नए अर्थों में परम्परागत 'नायक' शब्द के स्थान पर उन्हें केन्द्रीय-पात्र अथवा केन्द्रीय-विषय जैसे शब्दों से अथवा कुछ अंशों तक मात्र पात्र के नाम से अभिहित करना अधिक स्वाभाविक और समीचीन होगा।[1]

111504

१. देखिए परिशोध, अंक १६,
'आलोचक का पूर्वाग्रह और नायक-विहीन उपन्यास
नवम्बर, १९७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सुशीलकुमार फुल्ल
हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय केन्द्र,
पालमपुर, जिला कांगड़ा
(हिमाचल प्रदेश)

'मृगावती' के स्रोत

प्रायः यह माना जाता रहा है कि हिन्दी में प्रेमाख्यान-परम्परा का उद्भव एवं विकास विदेशज, विशेष कर फारसी मसनवियों के अनुकरण और प्रभाव के फलस्वरूप हुआ। उक्त मतावलम्बी भारतीय मुसलमान कवियों द्वारा प्रणीत हिन्दी-प्रेमाख्यानों को इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान स्वीकार करते हैं। दाऊद के 'चांदायन' के उपरान्त, कालक्रम की दृष्टि से भारतीय मुसलमान कवियों द्वारा रचित प्रेमाख्यानों में कुतुबन कृत 'मृगावती' का नाम आता है, जिसका रचनाकाल सन् १५०३ ई० है। जायसी-रचित 'पद्मावत' इसके बाद की रचना है। अतः 'मृगावती' के उद्गम-स्रोतों की खोज एवं विश्लेषण अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसमें प्रयुक्त सामग्री एवं भावनाओं के चित्रण के आधार पर इसके देशज अथवा विदेशज प्रभावान्तर्गत होने का प्रामाणिक एवं तर्क-संगत निर्णय संभव हो सकेगा।

'मृगावती' की कथावस्तु कुतुबन की कल्पना की उपज नहीं थी अपितु किसी पूर्ववर्ती कथा पर आधृत थी, इसको कवि ने स्वयं स्वीकार किया है।[1] परन्तु कुतुबन ने आधार-कृति अथवा उसके रचयिता का नामोल्लेख नहीं किया है। परिणामतः 'मृगावती' नाम से सम्बद्ध पूर्ववर्ती एवं परवर्त्ती रचनाओं की तुलना के आधार पर विभिन्न विद्वानों ने 'मृगावती' के सम्भाव्य-स्रोत निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।

'मृगावती' नाम की प्राचीनता इतिहास-सिद्ध है। भगवान महावीर के समकालीन कौशाम्बी नरेश शतानीक की पत्नी का नाम मृगावती था।[2] 'जैन-धर्म' में 'मृगावती' का विशेष स्थान रहा है तथा सोलह सती स्त्रियों में से उसे एक माना जाता है। 'कथासरित्सागर' में भी शतानीक के पुत्र सहस्रानीक के साथ कृतवर्मन की पुत्री मृगावती के विवाह की कथा वर्णित है, जिसमें उनके पूर्वभव की कथा की योजना भी है।[3]

श्री अगरचन्द नाहटा ने मृगावती-कथा सम्बन्धी चार स्वतन्त्र ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जो १३वीं—१७वीं शताब्दी के बीच लिखे गये[4]—

	ग्रन्थ	रचयिता	रचनाकाल
१.	मृगावती-चरित्र (संस्कृत)	देव प्रभसूरि	१३वीं शताब्दी
२.	मृगावती चौपाई	सकलचन्द्र	सं० १६४३ पूर्व
३.	मृगावती चौपाई	विनयसमुद्र	सं० १६०२ वैशाख सुदी ५ बीकानेर
४.	मृगावती चौपाई	समयसुन्दर	सं० १६६८ मुलतान

१. पहिले हिन्दुई कथ्था अही। फुनी रे काहूं तुरकी लै कही॥ फुनि हम खोलि अरथ सब कहा। जोग सिंगार वीर रस कहा॥ कड़वक ४२६ 'मृगावती' (१९६८); सं० डॉ० माता प्रसाद गुप्त; पृ० ३६८

२. कल्याण, नारी अंक, वर्ष २२, संख्या १, जनवरी, १९४८; 'सती मृगावती' लेख—श्री अगरचन्द नाहटा; पृ० ७१०

३. The KATHASARIT SAGAR, (1968); Eng. Trn. C. H. Tawney; vol. I; P. 53

४. कल्याण, नारी अंक, वर्ष २२, संख्या—१, जनवरी, १९४८; पृ० ७१०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

पुस्तकालय 111504

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाहटा जी ने जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध मृगावती सम्बन्धी जो कथानक प्रस्तुत किया है[५], वह कथासरित्सागर की कथा से मिलता-जुलता ही है। डा० शिवगोपाल मिश्र के अनुसार "कुतुबन ने कथा के जैन-स्रोत में कुछ जोड़-गांठ करके ही अवधी भाषा में मृगावती कथा को ला खड़ा किया। अवश्य ही लोक-कथा के रूप में 'मृगावती' बहुत प्रचलित थी।[६]" इस सन्दर्भ में उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि 'चन्द्रकीर्ति' ने यह स्वीकार किया है कि उसकी कथा 'यामिनी भानु तथा मृगावती' का मूल-स्रोत 'कथाकोष' नामक जैन-ग्रंथ है।"[७] उधर डॉ० माता प्रसाद गुप्त ने 'चांदायन', कड़वक १६१, से उद्धरण प्रस्तुत करते हुए यह मत स्थापित किया है कि "असंभव नहीं है कि कुतुबन ने अपनी कृति के आधार के रूप में 'चन्द्रावलि' से सम्बन्धित··· रचना का ही उपयोग किया हो। खेद है कि अब यह प्राप्य नहीं।"[८] डा० परमेश्वरी लाल गुप्त के अनुसार "मूलरूप में मिरगावती की कथा भले ही उपलब्ध न हो, उसमें कोई ऐसा अभिप्राय नहीं है, जो भारतीय साहित्य का जाना-पहचाना न हो।"[९] पं० परशुराम चतुर्वेदी ने मृगावती रचना का आधार किसी प्राचीन अपभ्रंश रचना को माना है।[१०]

कुतुबन के पूर्व-रचित मृगावती से सादृश्य रखने वाली अथवा समान कथानक वाली कोई रचना आज उपलब्ध नहीं है और न ही जैन-धर्म में प्रचलित शतानीक सम्बन्धी कथा से ही इसकी कोई समानता है। ऐसी स्थिति में अधिकांश विद्वानों के मत अनुमान एवं संभावना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जान पड़ते। अतः कुतुबन की कथा से सादृश्य रखने वाले पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य में उपलब्ध अंशों को देखना उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

विदूषक एवं विद्याधरी की कथा से समानता

कुतुबन की 'मृगावती' की कथा रूप-रेखा में 'कथा-सरित्सागर'[११] की कथा 'विदूषक एवं भद्रा' की प्रेमकथा से मिलती-जुलती है। 'मृगावती' की भाँति इसमें भी नायक-नायिका एक-दूसरे पर मुग्ध होते हैं। दोनों कुछ समय तक एक साथ रहते हैं परन्तु विद्याधरों के भय से विद्याधरी भद्रा सुरक्षा की भावना से सिद्धों के स्थल उदय पर्वत पर चली जाती है। यहाँ दोनों रचनाओं में अन्तर केवल इतना है कि कुतुबन की मृगावती यह कह कर चली जाती है कि सहज ही प्राप्त वस्तु का मूल्य आंकने में पुरुष समर्थ नहीं होते, अतः राजकुमार प्रयत्न करके उसके स्थान पर पहुंच उसे प्राप्त कर सकता है; जब कि भद्रा ऐसा कुछ नही कहती—केवल अपने गन्तव्य स्थल के विषय में सूचित कर जाती है।

राजकुमार की भाँति विदूषक भी अपनी प्रेमिका के रंग में रगा हुआ है तथा भद्रा के वियोग को सहन करने में असमर्थ है। अनेक कठिनाइयों को सहन करता हुआ वह अन्त में भद्रा से मिलता है। प्रेमाख्यानों के नायकों की भाँति वह साहसी एवं पराक्रमी भी है। मनुष्य-घातक राक्षस की भुजा काट वह दुखलब्धिका नाम की राजकुमारी का उद्धार करता है। विदूषक का दुखलब्धिका से विवाह होता है परन्तु वह तो वास्तव में भद्रा की प्राप्ति के लिए निकला था। अतः जिस प्रकार कुतुबन का नायक मृगावती के लिए रूपमिनि को छोड़ कर चल देता है, उसी प्रकार विदूषक भी दुखलब्धिका को छोड़ भद्रा की प्राप्ति के लिए निकल पड़ता है।

सागर संतरण का प्रसंग भी दोनों कथाओं में मिलता है। विदूषक दैव की कटी हुई टांग के सहारे सागर पार

५. वही, पृ० ७११—१२
६. परिशोध, अंक ३, फरवरी १९६६, डा० शिवगोपाल मिश्र; पृ० २६
७. वही, पृ० २६
८. 'चांदायन' (१९६८); सम्पादक: डा० माता प्रसाद गुप्त; भूमिका पृ० २०
९. मिरगावती (१९६७); सं० डॉ० परमेश्वरी लाल गुप्त; भू० पृ० ६७
१०. भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा (१९५६); परशुराम चतुर्वेदी; पृ० १२०
११. The Katha Sarit Sagara (1968); Eng. Trn. C. H. Tawney; P. 135-145

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। राक्षस से पुनः भिड़न्त तथा विदूषक का आर्यवर्मन की पुत्री से विवाह होता है। कुछ दिन पश्चात् वह पुनः भद्रा की खोज में निकलता है। राक्षस की सहायता से सिद्ध-भूमि में पहुंचता है। अन्त में विदूषक एवं भद्रा का मिलन होता है। भद्रा सहित अपनी प्राप्त की हुई अन्य पत्नियों को साथ ले वह राक्षस की सहायता से उज्जयनि पहुंचता है तथा वहां का राजा बनता है।

इस प्रकार कथानक-संगठन, घटनाओं के क्रम एवं भावभूमि की दृष्टि से दोनों कथाओं में गहरी समानता है।

निश्चयदन्त एवं अनुरागपरा की प्रेम-कथा का पूर्वांश

'कथासरित्सागर' में ही एक अन्य कहानी निश्चयदत्त एवं अनुरागपरा के प्रेम की मिलती है।[१२] इसमें नायक के ऐकान्तिक प्रेम का चित्रण मिलता है। कुतुबन की 'मृगावती' की मूलकथा से प्रस्तुत कहानी भी गहरी समानता रखती है।

विद्याधरी अनुरागपरा एवं निश्चयदत्त प्रत्यक्ष-दर्शन से प्रेम में आबद्ध होते हैं। अनुरागपरा अपने पिता विन्ध्यपर एवं हिमालय पर स्थित अपने नगर पुष्करावती आदि का परिचय देकर जाने लगती है, तो निश्चयदत्त मृगावती के राजकुमार की भांति ही अनुनय करता है है कि हे सुन्दरी! मेरी आत्मा को बन्दी बना कर तुम कैसे जा सकती हो?[१३] प्रेमाभिभूत विद्याधरी प्रत्युत्तर में वैसी ही बात कहती है, जैसी मृगावती। दोनों के कथन-साम्य को स्पष्ट करने के लिए नायिकाओं के कथन को उद्धृत किया जा सकता है।

अनुरागपरा का कथनः—"यदि तुम मेरे नगर तक पहुंच सको, तो मैं निश्चय ही तुम्हारे से विवाह करूंगी। तुम्हारे लिए वहां पहुंचना कठिन नहीं है। तुम्हें निश्चय ही अपने प्रयत्न में सफलता मिलेगी। प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी कठिन नहीं।"[१४]

मृगावती का कथनः—"ऐ धाय, कुंवर से ऐसी बात कहना—"मेरा जीव तुझ पर अनुरक्त है किन्तु जो कोई वस्तु सहज ही प्राप्त हो जाती है, मनुष्य उसका मर्म नहीं जान पाता। इसी कारण से मैं उड़ कर जा रही हूं।" तुम कुंवर से कहना कि वह मेरे पास दौड़ कर आए। कंचन नगर मेरा स्थान है, और मेरे पिता का नाम रूपमुरारी है।"[१५]

अनुरागपरा की भांति मृगावती भी उड़ कर अपने नगर में पहुंचती है।

वस्त्र-हरण द्वारा नायिका को वश में करना

निर्जला एकादशी वाले दिन अपनी सखियों सहित नहा रही मृगावती के वस्त्रों का हरण कर राजकुमार उसे अपने वश में कर लेता है। वस्त्र-हरण कर नायिका को वश में करने का अभिप्रायः नया नहीं है। चीर-हरण प्राचीन काल से ही कृष्ण-वृत्त के साथ जुड़ा हुआ है। 'कथासरित्सागर' में भी इस अभिप्रायः का प्रयोग हुआ

१२. The Katha Sarit Sagara (1968); Vol. I; P. 335.

१३. "Fair one, I have not secovered my soul which you have taken captive; how can you thus depart, with out letting go the soul which you have teken possession of?" *Ibid.*, P. 336.

१४. When he said this to her, she was immedately overcome wich love, and said—"I will marry you, if you come to my city. It is not hard for you to reach; your endeavour will be sure to succeed. For nothing in this world is difficult to the enterprizing." Having said this, Anuragpara flew up into the air and departed; and Nischayadatta returned home with mind fixed upon her. *Ibid.*, P. 335.

१५. मृगावती (१९६८); सं० डा० माता प्रसाद गुप्त; पृ० ११७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है।[१६] नरवाहनदत्त के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए संन्यासी के परामर्शानुसार मरुभूति स्नान कर रही अप्सरा के वस्त्र चुरा कर उसे वश में कर लेता है तथा रहस्य जानता है। वस्त्र चुराने का परामर्श प्रायः किसी अन्य व्यक्ति द्वारा दिया जाता है। 'मृगावती' में भी धाय ही राजकुमार को रहस्योदघाटन करती है तथा मरुभूति को संन्यासी परामर्श देता है।

'कथासरित्सागर' की ही एक अन्य कथा में भी अप्सरा कलावती के कपड़े अपहरित कर उसे वश में करने का वर्णन आता है। यहाँ भी परामर्श शिव की ओर से मिलता है।[१७]

निष्कर्ष : 'मृगावती' पूर्व-रचित भारतीय-साहित्य में उपलब्ध प्रेमकथाओं के साथ कुतुबन की 'मृगावती' के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि घटनाओं एवं भाव-चित्रण की दृष्टि से कुतुबन की रचना का आधार निश्चित रूप से 'कथासरित्सागर' की ऊपर चर्चित कथाएं अथवा उन्हीं पर आधृत कोई अन्य कृति रही है। कुतुबन की रचना में भारतीय सामग्री एवं भारतीय वातावरण का ही चित्रण हुआ है तथा उसकी रचना में विदेशज प्रभाव की कल्पना करना निराधार एवं असंगत है।

---

१६. The Katha Sarit Sagara (1968); Vol II; P. 453.

१७. *Ibid.*, P. 576-77.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कमलाप्रसाद चौरसिया
केदारपुर, अम्बिकापुर,
(सरगुजा) म० प्र०

मुक्तिबोध और कहानी कला

मुक्तिबोध मानवतावादी चिन्तन का प्रखर स्वर है, जो मानव-मूल्यों की गिरावट से सदैव चिन्तित प्रतीत होता है। वैसे तो कवि दार्शनिक पहले होता है और मुक्तिबोध पर अक्षरशः चरितार्थ होता है किन्तु मुक्तिबोध जीवनानुभव का अनुगामी रहा है। मात्र अवधारणात्मक चिन्तन के आधार पर उसने कोई धारणा नहीं बनाई। जीवन की सचाई की आंच में तपकर वह सौन्दर्य की परिभाषा बनाता हैं, इसीलिए प्रतिष्ठित मूल्यों और प्रतिमानों के प्रति उसमें तीव्र खिसियाहट है। अनुभव के लिए वह अपने से भी प्रयोग करता रहा। उपलब्ध को ही उसने वास्तव की संज्ञा दी। इसीलिए जहां निरूपण अथवा प्रतिपादन की आवश्यकता हुई वह लगभग आक्रामक हो गया है। उसने बाह्य से तो बहस की ही है, आभ्यंतर से भी बहस करता रहा।

मुख्य रूप से वह अपने को कवि ही मानता है तथापि उसने कहानियों और उपन्यास की भी सर्जना कर डाली। कविता, कहानी, उपन्यास और डायरियां एक ही साध्य की उपपत्तियां हैं। जो बात वह 'अंधेरे में' (अपने ख्याल से) नहीं कह सका, वह उसने 'अंधेरे में' (कहानी) में स्पष्टता से बयान की। उसने 'ब्रह्मराक्षस' (कविता) को जहाँ छोड़ा, वहीं से 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' (कहानी) प्रारम्भ की और मन्तव्य व्यक्त कर दिया लेकिन उसे असन्तोष ही रहा। उसे अहसास सालता रहा कि वह अपनी बात सम्पूर्णतः कह ही नहीं पा रहा है। वस्तुतः वह वर्तमान जीवन-यापन प्रक्रिया से असंतुष्ट था और 'एक अनुभव-सिद्ध व्यवस्थित तत्त्व प्रणाली अथवा जीवन दर्शन' के शोध में रत रहा।

कहा जाता है कि मुक्तिबोध ने विधाओं को तोड़ा है। कहानी, डायरी और उपन्यास इतने अतिक्रमणशील हो गये हैं कि उनमें विभेद कर पाना कठिन है। मुक्तिबोध ने अध्ययन और आत्म-भोग के आधार पर विधाओं की सीमा और स्वरूप का निर्धारण किया है। मुक्तबोध उपयोगितावादी लेखन के पक्षधर तो हैं ही, प्रतिबद्धता भी चाहते हैं।

'भूत का उपचार' कहानी समग्रतः कहानी लेखन प्रक्रिया को रेखांकित करती है। इस प्रक्रिया में लेखक रचनाकार और भाष्यकार में द्विधा-विभाजित होता है। भाष्यकार अनिवार्यतः सामान्य श्रोता या पाठक होता है, जो कथा को कहानी के रूप में स्वीकृति देता है। रचनाकार भले ही सामान्येतर संवेदनापूरित हो जाय किन्तु भाष्यकार सामान्य से पृथक् सत्ता रखने को कतई तैयार नहीं। आखिर उसे सहानुभूति और बोध सामान्य जन से ही प्राप्त होता है जो उसके परिवेश का अनिवार्य घटक होता है। मुक्तिबोध कहते हैं, "मैं भाष्यकर्त्ता दर्शक की हैसियत से एक पात्र बना हुआ था। कहानी बढ़ सकती थी, बशर्ते कि मैं मूर्खता को कला समझ लेता।" मूर्खता को शब्दायित करते हुए वह कहते हैं, "कहानी में कथानक नहीं था, लेकिन पात्र तो था, जिन्दगी तो थी। वह क्या है, जिसने मेरे कानों में यह फुसफुसाया कि लिखना बेकार है।" कहानी में यदि कथानक नहीं है तो वह कहानी हुई कैसे? आगे कैसे बढ़ी और पृष्ठ कैसे रंग गये? स्पष्टतः यह रचनाकार की ठेलम-ठेल पर होता है। पात्र को गूंगा बना दिया जाता है, कथ्य पर पेपरवेट रख दिया जाता है, क्रियात्मक शक्ति छीन ली जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्दगी को बोझ घोषित कर दिया जाता है, जैसे वह स्थित्यात्मक हो। कामतानाथ की कहानी 'मकान' (सारिका-दिसम्बर, ७२) इसका प्रमाण है।

लेखन एक दायित्व है, शौक नहीं। लेखक इसे अपना शौक समझकर सभी विधाओं में अपना कौशल दिखा रहे हैं। ये लेखन को उसकी सारी गम्भीरता में कभी ग्रहण नहीं कर पाते। अपने आपसे छल करते हैं, जिसका द्रष्टा और भर्त्सक स्वयं उनका भाष्यकार है। कहानी आत्म-शोध और आत्म-बोध की अटूट प्रक्रिया होती है जिसके उत्कार से ही समाज प्रभावित होता है। अपेक्षित है कि रचनाकार पारिवारिक और सामाजिक जीवन के उत्थान पतन का अध्येता रहा हो। इधर के रचनाकारों में इस ओर रुझान कम है। 'परिवार का चित्रण भी ऐसा मनहूस, विकृत और विद्रूप होता है कि उसके पारिवारिक पात्रों में केवल घनीभूत असंग भावात्मकता है।' यह असंग भावात्मकता, जिसे मुक्तिबोध ने 'लेखक के आत्मप्रक्षेप' की संज्ञा दी है; 'भरत मुनि के बाद' (सारिका-दिसम्बर-७२—मणि मधुकर) में घर बनाकर बैठी है। उसका विधुर पिता कोठरी के भीतर हस्तमैथुन रत है और उसकी विधवा बुआ झांक-झांक कर नजारा देखती है। उसके आते ही वह फफक उठती है और वह भी इस दृश्य का अवलोकन करता है। कथाकार का अभीष्ट यही है कि दोनों एक-दूसरे से काम-पिपासा-शान्ति की इच्छा रखते हैं किन्तु भाई-बहिन का सम्बन्ध आड़े आता है। पाठकीय रुचि में बैठा लेना एक अलग बात है और सत्य की व्यक्ति अलग। यह रंग सत्य नहीं, लेकिन असत्य भी नहीं हो सकता, वर्तमान यौनवादी अत्याधुनिकता में भी अपवाद स्वरूप सत्य हो सकता है। यह पूर्णतया मणि मधुकर की ड्रीमजीविता का प्रसव है। 'इनका आधुनिक मानव पारिवारिक व्यक्ति नहीं होता और जो पारिवारिक व्यक्ति है, उसमें कहीं न कहीं आधुनिकता में कमी है।' भैरवप्रसाद गुप्त ने 'आतंक' (नई कहानियां) फैलाकर पारिवारिकता में आधुनिकता की कमी को ही कथा बनाया है।

आज का कहानीकार निरन्तर अद्वितीय पात्रों की व्यथा-कथा लिख रहा है। यह ड्रीमजीविता और फन्तासीकरण का परिणाम होती हैं। स्वप्न-बोध और दिवास्वप्नबोध दोनों कथा को पार्थिव धरातल पर नहीं रहने देते। स्वप्न-बोध नई वास्तविकताओं की नींव डालता है और इसीलिए निरन्तर अभूतपूर्व, अप्राकृतिक प्रयोग लक्षित होती है। वह मात्र प्रतिक्रिया होती है और इस प्रतिक्रिया का कोई आधार, कोई कारण नहीं होता वरन् कुछ भी तो ख्याली जोखिम उठाने की प्रतिस्पर्धा होती है, जबकि दिवा-स्वप्न-बोध वास्तव पर प्रतिक्रिया होती है। घटित यथार्थ उसका आधार होता है। उसके अर्थ लगाये जा सकते हैं, प्रतीकात्मक ? दोनों में अनहोनी सी प्रतीति होती है किन्तु एक कल्पना जन्य होती है और दूसरी कल्पनासाध्य। एक पूर्णतया अघटित होती है तो दूसरी घटित पर आधारित अघटित। असामान्यतायें दोनों में होती हैं। 'भूत का उपचार' में मुक्तिबोध इस स्थिति को स्वीकारते हैं, "स्थूल गणित मनुष्य स्वभाव का भी होता है, सो आपने जान लिया, लेकिन आपमें तटस्थ कल्पना-शक्ति नहीं है। यही कारण है कि स्थूल गणित के सत्य को आप सार्वभौम और सार्वकालिक सत्य मानते आये।" 'नरक कुण्ड की मछली' सारिकामृदुला गर्ग) घर में तीन बार साड़ी बदलकर तो आधुनिक वैचारिकता का इजहार कर सकती हैं किन्तु किसी सार्वजनिक समारोह में ऐसा करने और होने की सार्वजनिक घोषणा स्थूल गणित का ही सत्य हो सकता है, पारिवारिक और गार्हस्थ्य सत्य वह नहीं हो सकता। मुक्तिबोध ने इंगित किया है कि 'वे अपने असंग संवेदनशील प्रतिभाशालित्व को अद्वितीयता कहते हैं।' इस असंग संवेदनशील प्रतिभाशालित्व से जो अप्रत्याशित योग तैयार होता है वह दिनेश पालीवाल की कहानी 'विवर्ण' (कहानी, जनवरी, ७३) में दृष्टव्य है। सुधा की 'बलात्कार' (कहानी, मई, ७३) सही कोण से व्यक्ति सम्बन्धों को तराशती है। वह आदर्शीकरण नहीं अपितु प्रकृति की पहिचान है।

आधुनिक कहानियों की प्रवृत्ति से स्पष्ट लक्षित होता है कि आज का कहानीकार उच्छृङ्खलता और हुलफुलाहट में परिवेश और वातावरण को जीता है। परिणामस्वरूप कहानी का खुद ही शोषक बन गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंगाप्रसाद विमल की 'इन्ता-फिन्ता' (सारिका, फरवरी, ७३) कथानक का शोषण करती है तो श्रवण-कुमार की 'प्रेत' (कहानी, जनवरी, ७३) जिन्दगी का। भीष्म साहनी की 'जख्म' (सारिका, नवम्बर, ७२) पात्र को दुहती है। इस सबका कारण कथाकार का प्रसंग-बद्ध हो जाना है। उसकी वैचारिकता एक पक्षीय हो जाती है। वह जीवन को सम्पूर्णता में कदापि नहीं देखता। मुक्तिबोध को उद्धृत करते हुए कहूं तो 'कथाकार यदि सचमुच जीवन का गहरा और व्यापक ज्ञान रखता हैं तो वह प्रसंग स्थिति में बद्ध मनुष्य की संवेदनात्मक प्रति-क्रियाओं को ही महत्व नहीं देगा, वरन्···इस प्रसंग स्थिति के वस्तु-सत्य के सारे ताने-बाने को प्रस्तुत करेगा।'

कहानी मात्र मनोरंजन, नेत्र-विस्फारण अथवा अवाक्-कौशल की प्रेरिका नहीं होती, वह घायल का मलहम और अनुभवी का अनुभव भी होती है। कहानी को इसका वाहक होना ही चाहिए। मुक्तिबोध का पात्र कहता है, "आप लोग मन की कुछ विशेष अवस्थाओं को ही अत्यन्त महत्वपूर्ण मानकर चलते हैं, विशेषतया उन अवस्थाओं को जहाँ वह अवसन्न है और बाहरी पीड़ाओं से दुःखी है। मैं इस पीड़ा और अवसन्नता का समर्थक नहीं, भयानक विरोधी हूँ। ये पीड़ाएँ दूर होनी ही चाहिए। लेकिन उन्हें हटाने के लिए मन में एक भव्यता लगती है।' यह भव्यता 'दो चेहरे', 'मोह और मरण' (काठ का सपना) तथा 'आखेट' (सतह से उठता आदमी) में रूपायित है। लगता है मुक्तिबोध कहानी के उदात्तीकरण के पक्ष में थे, और यह 'पूर्ण सुखी और सम्पन्न मानव' मूर्ति की स्थापना के लिए आवश्यक है।

————

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सन्तोष शर्मा
हिन्दी विभाग,
पत्राचार शिक्षा निदेशालय,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

नयी कहानी का घोषणापत्र

मैनरिज़्म से प्रभावित होकर लिखी गई कहानियों की प्रमुख विशेषताएं हैं—संवेदनीयता, सांकेतिकता, सूक्ष्मता, किस्सागोई का अभाव, मृत्युबोध, मौन का संगीत, खण्डित व्यक्तित्व, क्षणवाद, लघुमानव, नायकत्व का अभाव, संत्रास, ऊब या उकताहट, नियतिवाद तथा यथार्थवाद आदि। इन वस्तुगत विशेषताओं अथवा प्रवृत्तियों के अतिरिक्त इस कहानी की कुछ कलापक्षीय भंगिमाएँ भी हैं। इन भंगिमाओं में मुख्यतः विभिन्न कथा-साँचों, समानान्तर कथाप्रसंगों, प्रभाववादी शैली तथा प्रतीक संयोजनाओं के अतिरिक्त भाषा तथा शैली आदि की विशेषताओं को देखा जा सकता है। इन सब प्रवृत्तियों पर किंचित् विस्तार से विचार उपयुक्त होगा।

संवेदनीयता—राजेन्द्र यादव के अनुसार आज की कहानी व्यक्ति और परिवेश का वह संबंध क्षण है जो ऐतिहासिक प्ररिप्रेक्ष्य में युग की एक-एक नब्ज छूता है। उसे नाम देने, समझने की कोशिश करता है।[1]

कथा-समीक्षक और कहानीकार प्रायः संवेदनीयता को पुरानी और नयी कहानियों की पार्थक्याश्रयी विशेषता समझते हैं। आज का कहानीकार अपनी कला की प्रकृति के अनुसार नवयुगीन संवेदनाओं को प्राप्त करते हुए, नवीन समस्याओं से लोहा लेते हुए नित नवीन से जूझ रहा है। यह उसके लिए नितांत आवश्यक है।[2]

१. एक दुनिया : समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव —पृष्ठ २९

२. १०वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नये सन्दर्भ—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—पृष्ठ २७३

सांकेतिकता—कहानीकार राजेन्द्र यादव इस संबन्ध में लिखते हैं कि कहानी की सांकेतिकता, शब्दों या ध्वनि, लहजे की सांकेतिकता नहीं, विषय के प्रस्तुतीकरण संघटन, कोण-निर्वाह और सब मिलाकर प्रभाव की सांकेतिकता होती है। उसमें वातावरण का संगीत नहीं, प्रभाव का संगीत होता है।[3] मोहन राकेश भी सांकेतिकता को नयी कहानियों की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानते हैं। उनके अनुसार—"यह सांकेतिकता आज की कहानी की या किसी एक भाषा की कहानी की ही उपलब्धि नहीं, कहानी मात्र की एक उपलब्धि है। पुरानी कहानी इस अर्थ में अलग होती है कि उसमें सांकेतिकता का विस्तार पहले ही भिन्न स्तरों पर होता है।"[4] सांकेतिकता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं—"कुछ लोगों ने कहानी के अन्तर्गत रूपात्मक प्रयोगों को ही कहानी की सांकेतिकता मान लिया है और उसी आधार पर आज की हिन्दी कहानी की सांकेतिक उपलब्धियों का ब्यौरा प्रस्तुत कर दिया है। परन्तु रूपात्मकता बहुत दूर तक ले जायी जाय तो पहले तुलनात्मक अलंकारों—उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की तरह अखरने भी लगती है।"[5] ...यदि कहानी में संकेत नहीं है तो ऊपरी ढाँचे को कितना ही संवारा और

३. एक दुनिया : समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव —पृष्ठ ५१

४. नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति—लेख—नये सन्दर्भों की खोज—पृ० ९२

५. नई कहानी सन्दर्भ और प्रकृति—लेख नये सन्दर्भों की खोज—पृ० ९३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेल-बूटों से सजा लिया जाए, वह सही अर्थों में कहानी नहीं बन पाती। वह एक 'नैरेटिव' या विवरण मात्र बनकर रह जाती है।[१]

परमानन्द श्रीवास्तव ने तो कुछ प्राचीन कहानियों में भी इसी सांकेतिकता के दर्शन किये हैं। उनके अनुसार 'पूस की रात', 'कफन', 'पुरस्कार', 'आकाशदीप' तथा 'उसने कहा था' आदि कहानियाँ सांकेतिक अर्थवत्ता का श्रेष्ठ उपयोग प्रस्तुत करने वाली कहानियाँ हैं। इसी दृष्टि से वे आधुनिक कहानियाँ हैं।[१]

सूक्ष्मता—'कला और शिल्प' पुस्तक में ल्यूह मम्फोल्ड ने स्वीकार किया है कि प्रत्येक कला-कृति सूक्ष्म होती है, यह कभी भी पूर्णतया निर्वैयक्तिक या अर्थहीन नहीं हो सकती। जब कला अर्थ-शून्य दिखाई देती है, जैसी कि आजकल की कुछ सूक्ष्म कलाकृतियाँ देखी जाती हैं, तो यह कहना होगा कि इन कलाकृतियों में कलाकार भी हमें चीख-चीख कर यही बताता है कि जीवन स्वतः सभी प्रकार की बौद्धिकता से शून्य होकर रह गया है। अतः आधुनिक युग में ऐसी कला कदापि अर्थहीन नहीं मानी जा सकती। इसी तथ्य को पुष्ट करते हुए रमेश बक्षी का कहना है कि पुरानी धारणाएँ अब समाप्त हैं। वह (कहानी) सूक्ष्म की ओर बढ़ती जा रही है। जिस सूक्ष्म की बात मैं कह रहा हूँ, वह सांकेतिकता, प्रतीकात्मकता और कहीं-कहीं समानान्तर रूपात्मकता बन कर कहानी के शिल्प का अंग बन गई है, कहानी के तत्त्वों की विरलता शायद घनीभूत प्रभाव की संपूर्णता से सम-संतुलित भी हो गई-सी लगती है।[२]

किस्सा-गोई का अभाव—मुंशी प्रेमचन्द ने सर्वप्रथम राजा-रानी, सेठ-सेठानी, तिलस्म और ऐय्यारी की कहानियों के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित किया था। उनसे आगे बढ़कर जैनेन्द्र और अज्ञेय ने कहानी को वस्तून्मुखता की संकीर्ण परिधि से निकालकर मनोवैज्ञानिकता की उच्चतर भूमि पर प्रतिष्ठित किया। किस्सा-गोई उन कहानियों में भी नहीं थी परन्तु नई कहानी में घटना-जाल के प्रति यह मोहभंग कहीं अधिक हो गया है। इस अभाव की ओर संकेत करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं कि नई कहानी में किस्सागोई का परम्परावादी रूप नहीं है। अब आन्तरिक और बाह्य जीवन के अनुभव-खण्डों की लय और अन्विति की यथार्थ-प्रेरित कथात्मकता ही उसका लक्षण है और जीवन के नवीनतम अनुभव-खण्डों को प्रेषित करने की उद्दाम इच्छा कहानीकार में है, इसलिए वह अपने पूर्ववर्तियों से कहीं ज्यादा गतिशील है।[३]

मौन का संगीत—नये कहानीकारों में, विशेषकर निर्मल वर्मा की कहानियों में, मौन का यह संगीत मुखर हुआ है। डॉ॰ नामवरसिंह के अनुसार तो—ऐसा प्रतीत होता है कि संगीत-वर्णन निर्मल के लिए कहानी में केवल शोभा नहीं है बल्कि संपूर्ण रचना-प्रक्रिया ही संगीत-धर्मी है।[४]

एक अन्य स्थल पर नामवरसिंह इस संगीत को मौन से ही संवद्ध करते हुए लिखते हैं—"उनका मौन 'प्यानो' के भीतर का मौन है। हर चरित्र एक छोटा-सा 'नोट' है, एक मौन-बिन्दु से दूसरे मौन-बिन्दु तक उड़ता हुआ प्रतीक्षारत है।[५]

खण्डित व्यक्तित्व—सन् १९४०-५० तक कहानियाँ नये संबंधों के बनने की नहीं, संबंधों के टूटने की कहानियाँ हैं; सारे सम्बंधों से टूटा हुआ व्यक्ति अधिक से अधिक अकेला; अजनबी होता चला जाता है, पिछली पीढ़ी के प्रति अविश्वास, घृणा और आपस में अपरिचय अनिश्चय। यही यथार्थ नयी कहानी के माध्यम से बार-

१. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति—लेख—आज की कहानी—पृ० १२५-२६
२. मेज पर टिकी हुई कोहनियाँ—रमेश बक्षी—प्र० सं० सन् १९६३, भूमिका—'आपके नाम'—पृ० २
३. खोयी हुई दिशाएँ—कमलेश्वर—द्वि० सं० सन् १९६६, भूमिका—नयी कहानी की बात—पृ० ९
४. कहानी : नयी कहानी—डॉ॰ नामवरसिंह—पृ० ७१-७२
५. माध्यम अंक फरवरी, मार्च १९५९, निबंध—सौंदर्य की छाया में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बार सामने आता है।[१] राजेन्द्र यादव के ही शब्दों में, "आदमी जहां है वहां अपने को अकेला भोगता है और इस भोगने की प्रक्रिया में अकेला होता चला जाता है... लगता है जैसे एक आदमी दूसरे को समझता ही नहीं।"[२] इसी बात को स्वीकार करते हुए कमलेश्वर का कहना है कि हमारे सामान्यजन का अकेलापन, फालतू (सर्प्लस) होने की नियति से उद्भूत है। 'मिसफ़िट' या फालतू (सर्प्लस) होते जाने की यह समस्या नौजवानों या अवकाश प्राप्त लोगों के सामने है।[३] वस्तुतः "आज का जीवन तो इतना विशाल, बहुमुखी और दुरूह एवं जटिल हो गया है कि उसे उसकी समग्रता के साथ महाकाव्यकार की भाँति देखना असंभव है। आज तो उसे एक साथ न देखकर विभिन्न पार्श्वों और कोणों से ही देखा जा सकता है। जीवन-गत सत्य को आंशिक रूप में क्रमशः अनुभूत कर उसके पूर्णत्व तक पहुँचा जा सकता है। कहानियों में व्यक्त जीवन-खण्डों को मिला कर देखने से जीवन का सच्चा पैटर्न दिखाई दे सकता है।"[४] स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानियों में मध्यवर्गी व्यक्ति की इसी टूटन-फूटन को चित्रित किया जाता रहा है।

क्षणवाद—वर्तमान साहित्य और जीवन में प्रचलित दार्शनिक नारे 'क्षणवाद' के विषय में रमेश बक्षी का कहना है कि यह तो प्रभाव के क्षण पर निर्भर है कि कब, किस बात ने प्रभाव दिया। किसी चरित्र की भंगिमा, वस्तु का कोई मोड़, वातावरण का कोई दृश्य-क्षण या कोई और बात भी प्रभाव-कथा की दायक हो सकती है।[५] अपनी कहानी और रचना-प्रक्रिया, का विश्लेषण करते हुए इन प्रभाव-क्षणों के संबंध में वे लिखते हैं, "जैसे चित्रकार दृष्टि-प्रभावक-क्षण को न बाँध पाये (भले ही वह लोन गाग की तरह रंगों की ट्यूब से ही चित्र क्यों न बनाने लगे) तो सफल नहीं माना जाता, वैसे ही कहानी में क्षण न बाँध पाये तो वह रचना चाहे जो बने मेरी मनचीती न होगी।"[६]

"आंशिक रूप से इसी क्षणवादी वस्तु-दृष्टि को भी नयी कहानियों का एक आकर्षण समझा जाता है।" वह (कहानी) जीवन के गम्भीरतम क्षणों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। इस कला में जीवन की अद्भुत पकड़ है।"[७]

लघु मानव—आधुनिक कहानियों में जीवन-क्षेत्र से उन पुरुष और स्त्री पात्रों को ग्रहण किया गया है जो कि असाधारण न होकर साधारण हैं। इस संबंध में राजेन्द्र यादव अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं—"सरल, सामान्य स्थितियों और लघुमानव का (हीन मानव का नहीं) जो आन्दोलन कविता में सन् १९५०-६० के बीच में हिन्दी में आया, कहानी में उसकी चेतना सन् १९४०-५० के बीच ही आ गई थी और बिना आकस्मिक मोड़ों, दुर्घटनाओं, संयोगों वाले निहायत ही साधारण लोगों की कहानियां वर्ग-संघर्ष के घटनापूर्ण कैनवस पर रख कर समाजवादी लेखक लिख रहे थे। सामान्य व्यक्ति की यह चेतना व्यक्तिवादियों में भी थी।"[८] कमलेश्वर ने इस प्रवृत्ति को जीवन से साहित्य की ओर उन्मुख होते हुए देखा है। उनके मतानुसार पुराने लेखकों का रास्ता साहित्य से जीवन की ओर बढ़ा था, पर नयी कहानी ने इस रास्ते को बदला और अब यह रास्ता जिन्दगी से साहित्य की ओर उन्मुख है।[९]

१. एक दुनिया : समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव—पृ० ३१
२. संग्रह, वही—भूमिका, वही—राजेन्द्र यादव—पृ ६४
३. नई कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० १९
४. २०वीं शताब्दी : हिन्दी साहित्य : नए संदर्भ—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—पृ० २७३
५. मेज पर टिकी हुई कहानियाँ, रमेश बक्षी, भूमिका 'आपके नाम'—पृ० १
६. मेज पर टिकी हुई कहानियाँ—रमेश बक्षी, भूमिका —'आपके नाम'—पृ० ३
७. २०वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नये सन्दर्भ—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—पृ० २७३
८. एक दुनिया समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव —पृ० ६१
९. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० ५१-५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नायकत्व का अभाव—आधुनिक युग में व्यक्तिवाद की प्रतिष्ठा के कारण व्यक्तिपूजा की पुरातन पद्धति समाप्त हो गई। स्वतन्त्रतापूर्व तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत में भी इस विचारधारा का पूर्ण प्रभुत्व रहा है। इसी कारण कहानी में भी इसके अन्तर्गत लघुमानव की खोज तथा प्रतिष्ठा के कारण नायक का सर्वथा अभाव हो गया है। आज का कहानीकार मानता है कि पहले लोगों ने जब (कहानियों में) नायक को खत्म किया था तो समाज या व्यवस्था को खल नायक बनाया था। 'नदी के द्वीप' में चन्द्रमाधव के रूप में एक विचारधारा खलनायक है। आज हीरो और विलेन दोनों गायब हैं, या एक ही व्यक्ति दोनों हैं। यह अधूरा यथार्थ नहीं, अच्छाई-बुराई को एक साथ मिला कर सम्पूर्ण, अविभाज्य वास्तविकता की स्वीकृति है।[१] नायक, खलनायक, अथवा प्रतिनायक आदि की समाप्ति के कारण नायिकाओं के स्वरूप में भी परिवर्तन आया है। परिवर्तन के इस घोर यथार्थ की ओर संकेत करते हुए युगद्रष्टा कथाकार कहता है कि औरतें अब औरतें नहीं हैं, वे झूठी सती या वेश्यायें नहीं हैं, इसीलिए नयी कहानी नायिकाओं से शून्य है, जिनकी पहले हर कदम पर जरूरत पड़ती थी।[२]

मृत्यु बोध—अस्तित्ववाद से जुड़ा एक और प्रश्न रहा है, जिसकी इस साहित्य में बार-बार चर्चा होती रही है, वह प्रश्न है मृत्यु का। निर्मल वर्मा आदि कहानीकारों ने मौत, आत्महत्या आदि पर विचार किया है। 'कुत्ते की मौत' कहानी इस प्रश्न की ओर गम्भीर रूप से संकेत करती है।[३]

नयी कहानियों में कभी-कभी मृत्युपूजा या मृत्यु कामना की धारणा भी उभरती हुई देखी जा सकती है। विक्टर ह्यूगो की कहानी 'नौका ध्वस्त' का उदाहरण देते हुए रमेश बक्षी लिखते हैं—"यात्रा करते हुए जहाज टूट गया है और उसमें पानी भरने लगा है। सारे प्रयत्न निष्फल हो जाने पर तय हो गया है कि अब कोई रास्ता नहीं है। जहाज़ को डूबना ही है। मरने से पहले सब लोग निर्णय करते हैं, अपने-अपने कन्फ़ेशन लिख कर बोतल में बन्द कर देंगे। मृत्यु के सामने हर कोई अपने प्रति सच्चा होना चाहता है ताकि आत्मा का परिष्कार कर सके, मोक्ष पा सके। तब बड़े-बड़े पादरी, डॉक्टर जो कन्फ़ेशन करते हैं उनमें ह्यूगो की व्यंग्य-प्रतिभा ही उजागर होती है, मृत्यु सन्त्रास केवल वातावरण देता है।[४]

पश्चिम में बिलियम फाक्नर के कुछ उपन्यासों और कहानियों में पात्र इसी मृत्यु-बोध का प्रदर्शन करते हैं। उदाहरणतया 'साउन्ड एण्ड फ्यूरी' में 'सारतोरिस' और 'कोस्मटाइन काकसन' और 'सेन्क्यूटरी' में 'पाली', इसी प्रकार 'एब्सालान एब्सालान' में 'चारलस बोन', 'लाइट इन अगस्त' में 'जो क्रिस्मस', 'पाइलोन' में 'शूमन' नामक पात्रों में भी यही मृत्युकामना देखी जा सकती है।[५] यह स्वाभाविक भी है क्योंकि 'आज की दुनिया में दरार पड़ गई है, मृत्यु के बादल मंडराते रहते हैं।'[६]

सन्त्रास—वादिस्फ़ के अनुसार—भय या त्रास अन्तर्जगत् के खतरे का द्योतक है, आतंक उग्रवेदना का संवेग है जो मनुष्य के अन्तर्बाह्य दोनों को झंझोड़ कर रख देता है। दास्तोवस्की इसी आतंक का साहित्यकार था।[७] हिन्दी कथाकारों ने भी संत्रास के स्वरूप पर गम्भीरता से विचार किया है। कमलेश्वर के अनुसार, "आज जीवन और मृत्यु की शक्तियां बदल गई हैं। अब मनुष्य प्राकृतिक मृत्यु के प्रति उतना चिन्तित नहीं है जितना कि अप्राकृतिक मृत्यु के कार्य-कारणों की दुश्चिन्ताओं में निमग्न है। इस अप्राकृतिक मृत्यु-भय ने मनुष्य को सामू-

१. एक दुनिया : समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव—पृ० ६४
२. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० १९
३. माध्यम, वर्ष २, अंक ३, जुलाई १९६५—पृ० ८३
४. धर्मयुग, १० सितम्बर, १९६७—लेख 'मृत्यु, संत्रास और बेहूदी जिन्दगी' (२), राजेन्द्र यादव,—पृ० १०
५. William Faulkner : A Critical Appraisal, Harry Modean Campbell and Rvel E. Foster, ch. III nd—P. 50-51
६. २०वीं शताब्दी हिन्दी साहित्य : नए सन्दर्भ—डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—पृ० २७३
७. माध्यम, वर्ष २, अंक ३, जुलाई १९६५—पृ० ८२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिकता की चेतना दी है और अब आत्मा की शुद्धता से वह स्वर्ग-प्राप्ति की कल्पना में निमग्न नहीं है, बल्कि शांति की रक्षा से जीवन-प्राप्ति की यथार्थता में आबद्ध है।"[1]

इसी तरह अपनी 'दोपहर की मौत' शीर्षक कृति में हैमिंग्वे ने घोषणा की थी कि बहुत से मनुष्य जानवरों की भाँति मरते हैं, एक मृत मनुष्य और मृत गाय में बहुत अधिक अन्तर नहीं है।[2] निर्मल वर्मा की एक कहानी है 'कुत्ते की मौत', इसमें भी उन्होंने इससे मिलते-जुलते मृत्यु-बोध की स्थितियों का उद्घाटन किया है। अरनैस्ट हैमिंग्वे की कहानियों में भी मनुष्य और जानवर दोनों की चिन्तन-प्रक्रियायें लगभग एक जैसी हो जाती हैं।[3]

अपने एक लेख में निर्मल वर्मा इसी सन्त्रास के संबंध में लिखते हैं कि आज की कोई भी कृति यदि वह महत्त्व-पूर्ण है—अपने को इस 'टेरर' से, उसकी ओर मंडराती हुई छाया से मुक्त नहीं रख सकती।[4]

ऊब या उकताहट—जब से सार्त्र का 'नोसिया' उपन्यास प्रकाशित हुआ, तब से विश्व-साहित्य में उबकाई या बोरियत को भी विषय बना कर कथा-साहित्य की रचना की जाती रही है। नयी कविता की भाँति नयी कहानी में भी इसी ऊब या उकताहट की प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं विशेषकर निर्मल वर्मा, रामकुमार और मार्कण्डेय की कुछ कहानियों में रिक्तता और घुटन की मनःस्थिति को उभारा गया है।

१. सारिका—सितम्बर, १९६७ लेख—'यह बदलता टूटता परिवेश' कमलेश्वर—पृ० ९३
२. The Art and Artists, Hemingway, His Work & Personality ch. 1st 'Natural man".—P. 10
३. The Art and Artists, Hemingway, His Work & Personality. ch. 1st. 'Natural Man'.—P. 16
४. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति—लेख—नयी कहानी : लेखक के बही खाते से—निर्मल वर्मा—पृ० १८२

नियतिवाद—इंग्लैण्ड में टामस हार्डी के उपन्यास ईश्वर और उसके कार्यों का निरूपण एक अंधी शक्ति (ब्लाइंड-विल) के रूप में करते हैं। कहीं-कहीं यह दृष्टि-कोण निराशावाद की चरमसीमा का भी स्पर्श करता दिखाई देता है। हिन्दी कहानीकारों में विशेषतः मोहन राकेश और निर्मल वर्मा की कुछ कहानियों में इसी नियतिवादी विचारधारा का प्रतिफलन देखा जा सकता है।

एक समीक्षक मोहन राकेश की कहानियों पर विचार करते हुए कहते हैं कि "एक ओर प्रकाश (पात्र) है—ग़लत निर्णय का फल भोगता, अन्तहीन, समाधानहीन जीवन ढोता—एक क्षण के सुख में आहत बेहोश। एक ओर मनोरमा है। इस तरह की अन्तहीन यातना के नियतिबद्ध संकेत राकेश की अन्य कहानियों ('आर्द्रा', 'जानवर और जानवर', 'अपरिचित') में भी मिलते हैं।"[5]

यथार्थवाद—नई कहानी में यथार्थवाद के प्रति विशेष आग्रह है क्योंकि 'प्रत्येक महान् ऐतिहासिक युग नवीन क्रान्तियों, भावनाओं एवं विचारों से उद्भूत होता है।'[6] युग की माँग प्राचीनता का विरोध और नवीनता का आह्वान करती है। "एक ऐसी नवीन सामाजिक युग-चेतना एवं रूप-विधान का उदय होता है, जो नव निर्माण की भावना से ओत-प्रोत होती है।

अतः कठिन निर्माण और नवोन्मेष की भावना से प्रेरित युग में केवल मात्र महानता एवं सत्यता से प्रेरित यथार्थवाद ही साहित्य के दायित्व को पूर्ण कर सकता है।"[7]

इसी लेख में वे आगे लिखते हैं—"नई कहानी में यथार्थवाद के प्रति विशेष आग्रह है क्योंकि कल्पित अस-म्भाव्य स्थितियों एवं बने बनाए साँचे में चीजों को फिट

५. विवेक के रंग—देवीशंकर अवस्थी, लेख—अनुभव का अपनापन, दूधनाथसिंह—पृ० ३७४-७५
६. नयी कहानी की मूल संवेदना—सुरेश सिनहा, लेख-प्रवृत्तियाँ एवं दिशाएँ—पृ० १६७
७. नई कहानी की मूल संवेदना, सुरेश सिनहा, लेख-प्रवृत्तियाँ एवं दिशायें—पृ० १६८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर देने की यांत्रिक प्रवृत्ति को उसने तिरस्कृत किया है। स्वातन्त्र्योत्तर काल में जीवन के प्रति जिस नई दृष्टि का विकास हुआ, उसमें यह अत्यन्त आवश्यक था कि मनुष्य को उसके यथार्थ परिवेश में देखने और समझने की प्रवृत्ति विकसित हो। इसे 'मंदी', 'जंगल' (मोहन राकेश), 'मरने वाले का नाम' (राजेन्द्र यादव), 'लन्दन की एक रात' (निर्मल वर्मा), 'असमर्थ हिलता हाथ', 'जिन्दगी और जोंक' (अमरकान्त), 'घुन' (मार्कण्डेय), 'चीफ की दावत', 'सिर का सदका' (भीष्म साहनी), 'जिन्दगी और गुलाब के फूल' (उषा प्रियम्वदा), 'बादलों के घेरे' (कृष्णा सोबती) आदि कहानियों से स्पष्ट किया जा सकता है। १९६० के बाद के दशक में भी यह प्रवृत्ति 'मुर्दा औरतों की झील' (जगदीश चतुर्वेदी), 'टैम्पोलीना' (राजेन्द्र जगोत्ता), 'छिटकी हुई जिन्दगी' (ममता अग्रवाल) आदि कहानियाँ विकसित हुई हैं।[१]

कला-पक्ष—नयी कहानी के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इसमें कथा-शिल्प की उपेक्षा की जा रही है। कमलेश्वर के अनुसार "कथानक चरम बिन्दु, चरित्र-चित्रण, वातावरणीयता आदि **क्रॅफ्टमैनशिप की बातें** पीछे पड़ जाती हैं और नयी कहानी परिभाषा का एक नया (मानवीय) संकट पैदा कर देती हैं।"[२] नई कहानी उस शिल्प की उपेक्षा करके आगे बढ़ रही है जिसने कहानी को कविता की ओर मोड़ दिया था। "इसीलिए नए यथार्थ को खोजने वाली कहानी नयी है, बीते हुए की नये ढंग से खोज करने वाली कहानी नयी नहीं है। यह शिल्प प्रयोगों का प्रयास नहीं कथ्य के प्रयोगों का प्रयास है तथा शैली अब एक आरोपित रूढ़बद्ध रूढ़िवादी मान्यता नहीं रह गई है। अब हर कहानी का कथ्य अपनी शैली निर्धारित करता है।"[३]

इसलिए नयी कहानी में कोई एक केन्द्रीय भाव नहीं होता। डॉ० बच्चनसिंह इस विषय में कहते हैं कि "कहानियों का परिपाटी-ग्रस्त (कान्वेंशनल) पैटर्न बिल्कुल बदल जाता है, यहाँ पर कहानियों में एक केन्द्रीय भाव-भूमि की तलाश करने वाले आलोचकों को निराशा ही होगी।"[४]

कहानी के जिस कला-पक्ष की चर्चा ऊपर की गई है उसको दृष्टि में रखते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव और रमेश बक्षी जैसे कहानीकारों में यह शिल्प-प्रियता अधिक है और नयी कहानी के अन्य प्रवक्ताओं में कम। यद्यपि इन तीनों कहानीकारों ने भी कुछ नयी कहानियां लिखी हैं तथापि उनमें अन्य कहानीकारों की अपेक्षा 'मैनरिज़्म' के प्रति रुझान अधिक है। अतः कमलेश्वर की ये पंक्तियाँ इस कथा-शिल्प के संक्रमण की साक्षी कही जा सकती हैं—"नयी कहानी अपनी यात्रा में इसलिए बदलती आई है। शुरू-शुरू की सांकेतिकता, अभिव्यंजना, अछूती कथा-भूमियों की तलाश, यथातथ्यवादी कलात्मक वेश आदि से अपने को बदलती हुई, वह आज अस्तित्व, संत्रास, विसंगति, अनिर्णय की स्थिति, विश्व-बोध, अपरिचय आदि की मानवीय स्थितियों से अपने को जुड़ा हुआ पाती है।"[५]

फिर भी एक बात निश्चित है कि अधुनातन हिन्दी कहानियों के कलापक्ष को सुष्ठु रीत्या हृदयंगम करने के के लिए यह 'रीतिवाद' (मैनरिज़्म) बड़ा ही सहायक हो सकता है। आज भी कहानीकार के दायित्व के सम्बन्ध में राजेन्द्र यादव की निश्चित धारणा है कि प्रतीक, रूपक, बिम्ब, लाक्षणिकता या संगीतात्मक ध्वनियों के सहारे वह (कहानीकार) प्रभाव को चेतना के अनेक स्तरों पर सम्प्रेषित करता है, क्योंकि आज का व्यक्ति-मन उतना

१. नई कहानी की मूल संवेदना, सुरेश सिनहा, लेख—प्रवृत्तियाँ एवं दिशाएं—पृ० १७३-७४
२. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० १६
३. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० १८
४. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति—लेख—परम्परा का नया मोड़, रोमांटिक यथार्थ, डॉ० बच्चनसिंह—पृ० १२२
५. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० ९९-१००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीधा और स्पष्ट रह भी नहीं गया है।[1] यही कारण है कि अधुनातन कहानियों की समीक्षा करते समय अधिकतर आलोचकों ने इस शिल्प-पक्ष के महत्त्व को विस्मृत नहीं किया है। एक प्रतिनिधि कहानीकार के विषय में आज के आलोचक की मान्यता है कि निर्मल की कहानियों के 'टैक्स्ट' को समझने के लिए 'टैक्स्चर' को समझना आवश्यक हो जाता है। इसमें जीवन की आन्तरिक लय को बांधने की कोशिश की गई है। रूप का स्थान रूपायन ('फार्मेशन') ने ले लिया है।"[2]

अब कुछ विशेष बिन्दुओं से कलापक्ष के अन्तर्गत अत्याधुनिक हिन्दी कहानियों में रीतिवाद ('मैनरिज़्म') का अध्ययन समीचीन होगा।

कथा सांचे—प्राचीन हिन्दी कहानियों के कथा-सांचे का अनुसंधान करते हुए राजेन्द्र यादव ने लिखा है कि शोषित, निरीह, असहायों के प्रति दया, स्त्रियों, वेश्याओं के प्रति करुणा, बूढ़ों, अपाहिजों के प्रति श्रद्धा, दवा न दे सकने पर बेटी, बेटे या पत्नी का मर जाना, प्रेम तिकोन, प्रेमी या प्रेमिका की बेवफाई और मजबूरी, प्रेम के नाम पर त्याग जिन्दगी की ऐसी सच्चाइयां हैं जो आज भी हैं और कहानीकार को खींचती हैं, लेकिन उन्हें अगर स्वानुभूति की ताजगी की बजाए केवल कथा-मोड़ों के झटकों, लटकों या कथा-रूढ़ियों की तरह इस्तेमाल किया जाएगा तो या तो झुंझलाहट होगी या अपने ठगे जाने का अहसास।[3]

कहानियों में इन कथा-रूढ़ियों को 'फैशन' का नाम भी दिया जा सकता है। इसे कमलेश्वर ने हिन्दी कहानी का रीतिकाल कहकर पुकारा है। उनके अनुसार—"यहीं से हिन्दी कहानी का घोर व्यक्तिगत (पर्सनल, वैयक्तिक नहीं) स्वर उभरता है और कहानी में रीतिकाल शुरू होता है। दीदी तथा भाभी या बहिन जी के रिश्ते वाले व्यक्तियों में कामुकता कसमसाने लगाती है। भाभीवाद और दीदीवाद का वह युग बीते अभी बहुत दिन नहीं हुए।"[4]

समानान्तर कथा-प्रसंग—अधुनातन हिन्दी कहानियों में इन कथा-प्रसंगों की प्रचुरता देखने में आती है। वस्तुतः यह प्रवृत्ति अंग्रेजी कहानियों का हिन्दी कहानियों पर प्रत्यक्ष प्रभाव मानी जा सकती है। इस सन्दर्भ में दो कहानियां देखी जा सकती हैं। साएल बैलो की 'लुकिंग फार मि० ग्रीन' और जे० डी० सैलिजर की 'ए परफैक्ट डे फार बनान-फ़िश'। इन समानान्तर कथाओं या अन्तर्वर्ती कथा प्रसंगों को हम दोहरी कहानियों की भंगिमा कहकर भी पुकार सकते हैं। इनकी तुलना नदी की अन्तर्धाराओं से की जा सकती है जो कि नदी का ही एक अंग होती है। इस प्रकार की कहानियों के सम्बन्ध में विचार करते हुए श्री राजेन्द्र यादव इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हर पंक्ति में लगता है एक और भी कहानी है जो इन पंक्तियों के पीछे चल रही है। सारी प्रामाणिकता और सूक्ष्मता के बावजूद यह कहानी उस बड़ी विराट और वास्तविक कहानी का झरोखा है।[5]

इसी निष्कर्ष को अपनी पुष्टि प्रदान करते हुए कमलेश्वर का कहना है कि 'नयी कहानी की पीठिका स्वरूप हम इन ('कफन', 'शतरंज के खिलाड़ी') कहानियों को ही नहीं बल्कि प्रसादजी की, 'गुण्डा' यशपाल की 'पराया सुख' जैसी कहानियों और भगवतीचरण वर्मा की 'अंग्रेजों ने सल्तनत बख्श दी', अमृतलाल नागर की 'जूं' आदि को ले सकते हैं......जहां कहानी के साथ-साथ एक और कहानी चलती है।'[6]

राजेन्द्र यादव ने कहीं-कहीं ऐसे प्रसंगान्तरों का

१. किनारे से किनारे तक—राजेन्द्र यादव, भूमिका—आज की कहानी : परिभाषा के नए सूत्र—पृ० १७-१८
२. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति—लेख—परम्परा का नया मोड़—रोमांटिक यथार्थ—बच्चनसिंह—पृ० १२२
३. एक दुनिया : समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्रयादव—पृ० ५८
४. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० १२
५. एक दुनिया समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव पृ० ५२-५३
६. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० ३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरोध किया है। वे लिखते हैं कि ये प्रसंगान्तर अपने आप में चाहे जितने सुन्दर, सार्थक और शक्तिशाली हों—मगर कथ्य की आन्तरिक मांग या स्वाभाविक प्रसंग-निसृत अन्वितियाँ न होकर आरोपित होते हैं इसलिए रसास्वादन में कड़वी या मीठी झुंझलाहट बनकर ही आते हैं।[१] विशुद्ध कहानी के स्वरूप की खोज करते हुए उनका हिन्दी कहानी के बारे में यह विचार है कि शुद्ध कहानी की खोज में प्रेमचन्द से भी अधिक मैं जैनेन्द्र, अमरकान्त और रामकुमार, किसी हद तक अश्क, यशपाल को (अंग्रेजी में हैमिंग्वे को) देखता हूँ जिन्होंने अभिव्यक्ति के स्तर पर हर प्रसंगान्तर को अस्वीकारने की कोशिश की है।[२]

प्रभाववादी शैली—रमेश बख्शी जैसे कुछ कहानीकार अपनी कहानियों को प्रभाववादी विशेषण से विभूषित करना उचित समझते हैं। अतः यह प्रभाववाद भी अत्याधुनिक हिन्दी कहानियों की शिल्पगत विशेषता स्वीकार की जा सकती है। अभी इसका अधिक प्रचार नहीं हुआ है फिर भी कुछ कहानीकारों में दृश्य, विचार, घटना और चरित्रों के प्रभाव-क्षणों को बांधने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। बक्शीजी के एक कहानी-संग्रह का नाम है 'मेज पर टिकी हुई कुहनियाँ' इस। शीर्षक के संबंध में वे लिखते हैं, "पुस्तक का नाम शायद मेरे प्रभाववादी मूड को व्यंजित करे इससे अधिक इस नाम की सार्थकता नहीं है।"[३]

प्रतीक—आधुनिक कथा साहित्य को मात्र प्रतीकवादी साहित्य कह दिया जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इस शिल्पगत प्रयोग को स्वीकृति देते हुए उपेन्द्रनाथ 'अश्क' कहते हैं—"कहानी के नये शिल्प में प्रतीकों की आवश्यकता थी। उपमायें प्रायः बाहर की स्थितियों को समझने में सहायता देती हैं, बिम्ब और प्रतीक मन की स्थितियों को समझने में सहायक होते हैं। कई बार जिस मानसिक स्थिति को समझने के लिए पैरे और पृष्ठ रंगने की आवश्यकता होती है वह एक बिम्ब अथवा प्रतीक के माध्यम से समझा दी जाती है।"[४]

काव्य और कहानी के प्रतीक-विधान और बिम्ब-निर्माण में पर्याप्त अन्तर रहता है। इसी अन्तर के संबंध में राजेन्द्र यादव का कहना है कि कवि जब एक बिम्ब या प्रतीक का दोबारा प्रयोग करता है तो वह उसका अर्थ निश्चित करता है—कहानीकार जब ऐसा करता है तो अपने विषय को दुहराता है। कवि दूसरों के प्रतीक, बिम्बों का उपयोग करके भी अपनी मौलिकता बनाये रख सकता है—कहानीकार जब ऐसा करता है तो प्रायः नकल करता है।[५]

इसीलिए अत्याधुनिक हिन्दी कहानियों की प्रतीक-योजना पर विचार करते हुए श्री परमानन्द श्रीवास्तव इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—"आकस्मिक नहीं है कि आज की कहानी ने 'वस्तु' को अथवा 'वक्तव्य' को अधिक से अधिक यथार्थवादी बनाने के लिए कहीं कविता की वातावरण निर्णय-क्षमता ग्रहण की है और कहीं-कहीं दोनों ढंग की विशेषताओं का एक साथ उपयोग किया गया है।"[६]

(अ) प्रकृति-चित्रण : एक फ़ैशन—अत्याधुनिक हिन्दी कहानियों में इस प्रतीक-योजना के फलस्वरूप प्रकृति का आलंकारिक रूप में चित्रण अधिक किया जाने लग पड़ा है। उदाहरणतया मार्कण्डेय की कहानी 'तारों का गुच्छा' में अपूर्ण इच्छाओं के प्रतीक रूप में गदराए हुए आसमान में से तारों के एक गुच्छे के तोड़ लिए जाने

१. एक दुनिया : समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव पृ० ४६
२. एक दुनिया : समानान्तर-भूमिका—राजेन्द्र यादव पृ० ५०
३. मेज पर टिकी हुई कुहनियां—रमेश बक्शी, भूमिका 'आपके नाम'—पृ० ३
४. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति, लेख : नयी कहानी : एक पर्यवेक्षण, उपेन्द्रनाथ 'अश्क'—पृ० ५१-५२
५. एक दुनिया : समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव—पृ० ४८
६. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति, लेख—आज की कहानी—परमानन्द श्रीवास्तव—पृ० १२५-१२६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कल्पना की गई है।[1] इसी प्रकार राजेन्द्र यादव की कहानी 'प्रश्न वाचक पेड़' में पेड़ जीवन और प्रकृति के गहरे असन्तुलन का सूचक है। कुछ अन्य कहानियाँ हैं, 'संवरइयां', 'भैंस का कट्या' तथा 'चितकबरी'। इनके सम्बन्ध में डॉ० शिवप्रसादसिंह लिखते हैं कि "प्रकृति का यह रूप-वर्णन कभी रोमांटिक हो जाता हो, कभी फ़ैशन बन जाय, कभी निरर्थक सजावट का ही काम दे, प्रकृति का सजीव चित्रण अपने में खुद एक बड़ी उपलब्धि है।"[2]

एक अन्य स्थान पर डॉ० शिवप्रसादसिंह का आत्म-कथ्य है, "मेरी आरम्भिक कहानियों के विषय में लोगों का आरोप था कि इनमें प्रकृति का चित्रण बहुत ज्यादा होता है किन्तु वे चित्रण कभी भी 'स्टिल फोटोग्रैफी' नहीं थे, उनमें वस्तुओं के स्वभाव और मानव-सम्बन्धों की स्थितियाँ स्पष्ट थीं। मैं मनुष्य और पदार्थ के बीच की 'हारमनी' का कायल रहा हूँ।"[3]

(आ) **फ्रायड के स्वप्न प्रतीक**—इस सम्बन्ध में श्री राजेन्द्र यादव कुछ कहानियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि "स्टीनबैक की कहानी 'सांप', अज्ञेय की कहानी 'सांप' या हीलोबोन की 'बतखें', 'पहाड़ी हिरना की आँखें' इत्यादि या तो फ्रायडीय प्रतीक हैं या कम से कम उन्हें समझने के लिए फ्रायड के स्वप्न और प्रतीक की प्रतिपत्ति को जानना अपेक्षित है वरना इन कहानियों का कोई अर्थ नहीं रह जाता। दूसरे शब्दों में इन प्रतीकों की परि-कल्पना को बाहर से लाकर गूंथा गया है।"[4]

अंग्रेजी समीक्षक चारलस नीडर लिखते हैं कि 'काफ़्का की कृतियों में, चाहे वे उपन्यास हों या कहानी हों, फ्रायड के स्वप्न प्रतीकों का उन पर विशेष रूप से प्रभाव देखा जा सकता है।'[5]

इसी प्रकार से विलियम फाक्नर के कथा-साहित्य में भी फ्रायड के स्वप्न प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। 'साउण्ड एण्ड दी फ्यूरी' उपन्यास में इन प्रतीकों का तो बाहुल्य है ही, उनके 'सैंक्टूअरी' नामक उपन्यास में 'टेम्पल ब्रेक' नामक युवती को भी कुछ ऐसे ही स्वप्न आते हैं जो उसके भावी जीवन की घटनाओं की पूर्व सूचना कहे जा सकते हैं।[6]

अन्त में हम कह सकते हैं कि कहानियों में स्वप्न प्रतीकों का उपयोग भी किया जा सकता है। अंग्रेजी समीक्षक 'एटकिंस' अरनैस्ट हैमिंग्वे की कहानियों पर विचार करते हुए घोषणा करते हैं कि "यदि हम साहित्य को मनोविज्ञान का एक विभाग बनाकर रख देंगे तो उसकी पूर्ण रूप से मृत्यु हो जाएगी।"[7]

अतः हमें स्वप्न प्रतीकों की सीमाएँ स्मरण रखनी चाहिएं।

भाषा—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल अधुनातन हिन्दी कहानियों की भाषा के सम्बन्ध में अपना मन्तव्य लिखते हैं कि "भावुक, रोमांटिक, काव्यमय, लाक्षणिक गद्य तो हमारी विरासत थी ही, पर आज की कहानी ने अपनी **भाषा की अभिधाशक्ति** को अपूर्ण ढंग से बढ़ाया है। ठंडा और अनगढ़ गद्य, विशेषणों से मुक्त, और इसके उपयोग में जबरदस्त संयम—यह बहुत बड़ी बात पैदा हुई है हिन्दी गद्य में, इस नयी कहानी के माध्यम से।"[8]

१. पुस्तक नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति, लेख आज की कहानी—परमानन्द श्रीवास्तव—पृ० १३३
२. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति, लेख—आज की हिन्दी कहानी : और परिमिति, डॉ० शिवप्रसाद सिंह, पृ० १४६
३. मुरदा सराय—भूमिका—कुछ न होने का कुछ—पृ० १७
४. एक दुनिया : समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव—पृ० ६४
५. Kafka : His mind and Art, Charles Neider, Preface, P. 7-8
६. Willliam Faulkner, H. M. Campbell Rvel E. Fouster : Ch. III Dream and Symbolic Art. P. 51, 52, 61.
७. The Art of Earnest Hemingway, John Atking. Ch. XVI P. 230
८. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति—लेख—स्व-तन्त्रता के बाद हिन्दी कहानी : उपलब्धियाँ और कमियाँ—डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल—पृ० २१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही कारण है कि अत्याधुनिक हिन्दी कहानियाँ भाषा के क्षेत्र में भी प्रयोगों को अपना रही हैं। श्री कमलेश्वर एक स्थल पर लिखते हैं कि "जो भाषा हम लिखते आये हैं, वह यहां के संवेदनों और उलझे हुए अनुभव-खण्डों के व्यक्त करने में असमर्थ है। जो प्रतीक और संकेत बड़े सशक्त लगते थे, वे यहाँ आकर बड़े अशक्त, श्लथ और सीमित लगते थे। यहाँ की जिन्दगी को प्रस्तुत करने के लिए जैसे हमें सब कुछ नया और दूसरा चाहिए था।"[१]

किन्तु कभी-कभी चित्रात्मक और चकतीदार भाषा के कारण कहानियों में एक कृत्रिमता का भाव देखा जा सकता है। ऐसी भाषा की आलोचना करते हुए श्री राजेन्द्र यादव कहते हैं कि "जीवन्त चित्र नहीं, बल्कि उनके प्रभाव को स्वयं निचोड़ कर, चित्रात्मक भाषा द्वारा प्रभाव की पुनर्सृष्टि का कवि-सुलभ प्रयत्न करना निर्मल और रमेश बक्षी की अपनी धारणा हो सकती है लेकिन काव्य-कुष्ठ की चकतीदार भाषा को प्रभाव-सृष्टि का प्रयोग मानना लक्ष्मीनारायण लाल और शिवप्रसादसिंह की असमर्थता ही लगती है।"[२]

'साहित्य और अवचेतन' शीर्षक पुस्तक में एक अंग्रेजी समीक्षक कहानी की भाषा को उन चित्रों की भाषा कहकर पुकारते हैं जिन्हें स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। चित्र चाहे कितनी ही सूक्ष्म संवेदनाओं के क्यों न हों, कहानी के माध्यम से हम उन्हें देख सकते हैं। शायद इसीलिए कथा को किसी ने 'जेबी नाटक' कह डाला है।"[३]

अज्ञेय या निर्मल या रेणु की कथा-कृतियों में से ऐसे रूपवादी अलंकृत गद्य के प्रचुर उदाहरण दिए जा सकते हैं जो अपनी शब्द-योजना, बिम्ब-विधान, लाक्षणिकता आदि में अत्यन्त आकर्षक हैं पर ऐसे अंश साधारणतः उस गद्य के प्रवाह में ही बाधा नहीं डालते, कथा के अभिप्रायों को भी बाधित करते हैं, अथवा यों भी कहें कि कथा के अर्थ-संभार की अशक्ति का गोपन करते हैं।"[४]

शैली—कुछ कहानीकार अन्य पुरुष-प्रधान शैली को नयी कहानियों की पार्थक्याश्रयी विशेषता स्वीकार करते हैं। उनके विचारानुसार—"नयी कहानी इसीलिए मानव के नये उभरते और शक्ल लेते या टूटते सम्बन्धों को सर्वप्रथम रेखांकित करती है क्योंकि वह अपने 'मैं' से निकलकर 'वह' या 'उसकी' प्रामाणिक अभिव्यक्ति करती हैं और अपने 'मैं' से निकल कर जैसे ही वह दूसरे से सम्बद्ध होती है लेखक प्रतिबद्ध हो जाता है। नये कहानीकार की प्रतिबद्धता का अर्थ इसीलिए जीवन से प्रतिबद्धता का है।"[५]

दूसरी ओर रमेश बक्षी और श्री रावी जैसे कुछ अन्य कहानीकार अपनी कहानियों में उत्तम पुरुष या 'मैं' शैली का प्रयोग किया करते हैं। श्री रमेश बक्षी स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि "सामान्यतया प्रथम पुरुष-प्रधान वर्तमान काल ही मुझे उपयुक्त लगता है।"[६]

इन शैलियों के अतिरिक्त जहाँ तक कहानी के शिल्प में 'मैनरिज़्म' आरोपित करने का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में श्री कमलेश्वर ने राजेन्द्र यादव के एक भाषण से कुछ विचार प्रस्तुत किए हैं जो इस प्रकार हैं—"मैनरिज़्म' के कारण युग-बोध की पकड़ छूट जाती है। नई कथा घटना को नहीं, घटनाओं को नये सन्दर्भों, सूक्ष्म संवेदनाओं में व्यक्त करती है। ...यह कलाकार की प्रतिभा पर है कि वह परम्परा का निर्वाह करे या उससे हट कर अपने को नवीन रूप में प्रस्तुत करे। अन्दाज़े बयां जब अनुभूति से उद्भूत नहीं होता तब उसे दूसरों का मुंह

१. खोयी हुई दिशायें—कमलेश्वर—भूमिका—नयी कहानी की बात—पृ० १०
२. एक दुनिया समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव पृ० ५०-५१
३. एक दुनिया समानान्तर—भूमिका—राजेन्द्र यादव—पृ० ६८
४. नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति—भूमिका—डॉ० देवीशंकर अवस्थी—पृ० २१
५. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—पृ० १७
६. मेज पर टिकी हुई कुहनियाँ, रमेश बक्षी, भूमिका—आपके नाम—पृ० १

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखना पड़ता है।"[1]

अन्त में हम कह सकते हैं कि हिन्दी कहानियों में आजकल 'रीतिवाद' के विरोध में जीवनानुभूति की यथार्थता पर बल दिया जा रहा है। उन्हीं की रीतियों या रूढ़ियों की प्रशंसा की जाती है जो कि कहानीकार के जीवनानुभवों से निःसृत हुई हों। विशेषतः 'नयी कहानी' में रीतिवाद अथवा मैनरिज़्म का ह्रास देखा जा सकता है।

१. नयी कहानी की भूमिका—कमलेश्वर—निबन्ध—नयी कहानी और सन्त्रस्त लोग (राजेन्द्र यादव का भाषण) पृ० ५६-५७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता
हिन्दी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

'आधे-अधूरे' का रचना विधान

मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' के महत्त्व को रेखांकित करने के लिए जहाँ इसे 'मील का पत्थर' माना गया है वहाँ साथ ही यह भी कहा गया है कि इसमें विशद समस्या का अभाव है तथा यह सीमित परिवेश का नाटक है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज के बदले परिवेश में मध्यवर्ग के सामान्य और रोज़मर्रा के अभावपूर्ण जीवन, आपसी तनावपूर्ण सामान्य स्थितियों के बीच में से ही 'आधे-अधूरे' नाटक ने रूप लिया है। कथ्य के धरातल पर इस नाटक का महत्त्व समसामयिक चिन्तन धारा को नाटक की इस महत्वपूर्ण विधा के माध्यम से अभिव्यक्ति देने में है और शिल्प के धरातल पर नाटक की शास्त्रीय मान्यताओं पर प्रश्न चिह्न लगाने में है।

यह कहना इसके साथ अन्याय करना होगा कि यह मानसिक रूप से बीमार दम्पति के असामंजस्य का नाटक है; या इसमें भारतीय जीवन की पहचान आधी और अधूरी है; या इसकी आधुनिकता आरोपित सी लगती है।[1] जबकि असलियत यह है कि उद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप महानगर में रहने वाले मध्यवर्गीय परिवार के आपसी सम्बन्धों में आ जाने वाले बदलाव को इस नाटक में बड़ी कुशलता से आंका गया है। वर्तमान स्थिति में अस्तित्व बोध के संकट की यातना जितनी 'आधे-अधूरे' में परिलक्षित होती हैं उतनी हिन्दी के अन्य किसी नाटक में नहीं होती। "इसका कारण यह है कि इस नाटक की कथावस्तु के चयन में आधुनिक नगर के मध्यवर्गीय परिवारों की चेतना, संघर्ष और विद्रोह का यथार्थ अंकन है, परम्परागत संस्कार शीलता और नैतिकता के बन्धनों के टूटने की कहानी है, कलहपूर्ण वातावरण और अभावग्रस्त अर्थ-व्यवस्था के कारण बौने बने व्यक्तियों के क्षोभ, आक्रोश और संत्रास का चित्रण है, उनकी दिशाहीन निरर्थकता और अस्तित्व के लिए संघर्ष करते-करते अन्त में टूटने की करुण गाथा है।"[1] इतना ही नहीं एक अन्य स्तर पर यह व्यक्तियों की विभिन्नता के बावजूद मानवीय अनुभव की समानता का दिग्दर्शक है और मानवीय सन्तोष के अधूरेपन का नाटक है।

संरचनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आज के भारतीय नगर के मध्यवर्गीय परिवार के दिन-प्रति-दिन के सामान्य जीवन की तनावपूर्ण स्थितियों, मनःस्थितियों तथा आपसी टकराव में प्रयुक्त शब्दावली के गिर्द इस नाटक की रचना हुई है। इन्हीं शब्दों के माध्यम से नाटककार ने मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों तथा परिवेश जन्य विषमताओं को उजागर किया है। यह नाटक एक ऐसे मध्यवर्गीय घर से सम्बन्धित है जिसकी सारी समस्याओं के मूल में कहीं आर्थिक अभाव को आंका जा सकता है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि आर्थिक अभाव और दबाव ने घर के सारे वातावरण को विषाक्त बना रखा है। स्त्री की अतृप्त आकांक्षाओं के लिए उत्तरदायी भी कहीं इस घर की आर्थिक स्थिति

१. नटरंग—१०-११, पृ० ४८-५०

१. शान्तिस्वरूप गुप्त, अस्तित्व बोध का संकट (लेख) नाटककार : मोहन राकेश, सम्पादक : सुन्दरलाल कथूरिया, पृ० १५४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। आज भारत के नगर के मध्यवर्गीय जीवन में आय के सीमित साधन और स्तर को ऊँचा करने की होड़ ने एक बेकली तथा विवशता को ही जन्म नहीं दिया अपितु इसके परिणाम स्वरूप सारी सामाजिक एवं नैतिक मान्यताएँ चटकती जा रही हैं। यही स्थिति इस परिवार की भी है। घर बसाने पर भी अधूरापन खत्म नहीं हुआ। घर से बाहर उस अधूरेपन की पूर्ति का प्रयत्न है। मगर इस प्रयत्न में सारा घर ही धीरे-धीरे झुर रहा है। आर्थिक अभाव की यह छाया एक-दूसरे से कटे हुए और अपने आप में अकेले रहने वाले इन सभी पात्रों पर मंडरा रही है। कहा गया है कि इसमें असफल झल्लाहटों का चित्रण है। किन्तु प्रश्न उठता है कि सामान्य मध्यवर्ग के जीवन में असफल झल्लाहटों के अतिरिक्त है ही क्या? परिस्थितियों की भ्रम जालिकता से टकराकर इनकी आशंसाएं (expectations) क्या झल्लाहटों का रूप नहीं धारण करतीं। परिस्थितियों की इस भ्रमजालिकता को कोई एक ही तोड़ पाता है, अधिकांश आदमी आकुल, बेबस, विवश, होकर तथा झल्लाकर रह जाते हैं। इस तरह से कहा जा सकता है कि 'आधे-अधूरे' इस बहुत बड़े मध्यवर्ग के जीवन से बहुत सीधे रूप में जुड़ा हुआ नाटक है। रंगमंच पर इसकी सफलता का भी यही कारण है। इसकी आधुनिकता भी आरोपित नहीं। आज का मध्यवर्गीय व्यक्ति इन्हीं विसंगतियों में ही रूप लेता है। पुरुष 'एक' (महेन्द्रनाथ) अपने ही घर में एक विसंगत स्थिति को जी रहा है। स्त्री और पुरुष 'दो' के संवादों में भी विसंगति का बोध है।[1] स्त्री मध्यवर्ग तथा पुरुष 'दो' एक ऐसे उच्च वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिनके बीच संवाद समाप्त हो चुका है किन्तु स्वार्थपरता के धरातल पर ही वे एक-दूसरे को मिलते हैं। इन संवादों की बेतुकी बातों के माध्यम से लेखक सिंघानियाँ के वर्ग पर व्यंग द्वारा चोट करना चाहता है। इस वर्ग के प्रति लेखक की घृणा के परिणामस्वरूप यह पात्र एक 'केरीकेचर' सा बन गया है। सिंघानियाँ का इस रूप में चित्रण सोद्देश्य है। लेखक इस वर्ग के खोखलेपन, घटियापन पर चोट करना चाहता है और इसमें उसे सफलता मिली है।

अधिकांश आलोचकों ने प्रस्तावना को नाटक का संश्लिष्ट अंग नहीं माना। उनका कहना है कि यह आरोपित है और नाटक से चिपकी हुई है, उसका अभिन्न अंग नहीं। इसके द्वारा लेखक की नाटक की सार्वभौमिकता एवं पात्रों की सार्विकता की महत्वाकांक्षा पूरी नहीं हो पाई। किन्तु संरचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इस प्रस्तावना के साथ नाटक का गहरा सम्बन्ध है। प्रस्तावना ही नाटक को एक ऐसा परिप्रेक्ष्य देती है जिसमें इसकी सारी स्थितियों को समझा जा सकता है। एक ही अभिनेता द्वारा चार भूमिकाएँ करवाने की युक्ति द्वारा नाटककार जो बात कहना चाहता है वह प्रस्तावना के बिना स्पष्ट ही नहीं हो सकती। यह युक्ति प्रेक्षक को चमत्कृत करने की अपेक्षा कथ्य की एक माँग है। अलग-अलग परिस्थितियों के दबाव से बने मुखौटों के पीछे का एक चेहरा दिखाने के उद्देश्य से ही इस युक्ति का प्रयोग किया गया है। जैसा कहा गया है, कि इसमें व्यक्तियों की विभिन्नता के बावजूद मानवीय अनुभव की समानता का दिग्दर्शन है।[1] साथ ही "बिल्कुल एक-से हैं आप लोग! अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा?—चेहरा सबका एक है!" सावित्री की इस उक्ति में ही नाटक की मूल संवेदना है। इसका सीधा सम्बन्ध एक अभिनेता द्वारा चार भूमिकाएँ करवाने की युक्ति के साथ है। इससे स्पष्ट है कि यह रंग युक्ति कथ्य की मांग है। चौंकाने के लिए प्रयुक्त नहीं हुई।

शिल्प के धरातल पर भी इसे सही मायने में आधुनिक नाटक कहा जा सकता है। कथावस्तु एवं चरित्र चित्रण की शास्त्रीय मान्यताओं पर इसने प्रश्न चिह्न लगाया है। कहा गया है कि "सीधे-सादे कथ्य का यह नाटक जिस गति से खुलता है उसी गति से बढ़ता हुआ उसी पर समाप्त हो जाता है। नाटक में कहीं कसाव, तनाव या उठान नहीं आता। न ही एक ताल, एक लय पर चलते हुए नाटक के कार्य व्यापार का अन्दाज़ ही बदलता है।"[2] वस्तुतः कथानक की प्रचलित धारणा की दृष्टि से इस नाटक की समीक्षा की जाए तो यह कहना

१. नट रंग—२१
२. नटरंग—१०-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयुक्त ही है कि इसमें कसाव, विकास और उठान नहीं हैं। किन्तु इस नाटक का रचना विधान ही दूसरी प्रकार का है। नाटककार ने मध्यवर्ग के घर की स्थिति को कई पहलुओं से उघाड़ने की कोशिश की है। इस घर के विभिन्न सदस्यों के आपसी तनावपूर्ण सम्बन्धों और तेज़-तर्रार संवादों में एक पकड़ है। भले ही नाटक में कुछ नहीं घटता किन्तु इस घर की तत्कालीन स्थिति के लिए उत्तरदायी जो भी घटनाएँ हैं, उन सबकी चर्चा इसमें है: महेन्द्रनाथ का जुनेजा के साथ बिजनेस करना और असफल रहना। सावित्री की एक पूरे आदमी की तलाश में जुनेजा, विश्वजीत, जगमोहन, मनोज आदि से सम्बन्ध स्थापित करना। बिन्नी का चुपचाप अपनी माँ के प्रेमी मनोज के साथ एक रात भाग निकलना। इतना कुछ घटित होने के पश्चात इस घर की स्थिति बड़ी विस्फोटक है। तनावपूर्ण विस्फोटक स्थिति से ही नाटक आरम्भ होता है। बरसों से इस नाटक के पात्र इसी स्थिति को जी रहे हैं। बरसों से महेन्द्रनाथ से अपने आपको झटकने की कोशिश में लगी सावित्री अन्ततः इस घर को छोड़ने का निश्चय कर ही लेती है। किन्तु इस कोशिश में उसकी असफलता और महेन्द्रनाथ का घर लौट आना तथा जीवन पर्यन्त इसी स्थिति को जीने के लिए विवश होना ही इस नाटक की त्रासदी है। इस विषाक्त वातावरण में जीते हुए धीरे धीरे धीरे झुरते जाना ही इस नाटक के पात्रों की नियति है। एक परिवार की स्थिति विशेष पर प्रकाश डालने के कारण ये तनाव लगभग एक से है। किन्तु इन स्थितियों में इन पात्रों के जीवन की सच्चाईयों को उद्घाटित करने की क्षमता है। इसलिए जैसे नाटक आगे बढ़ता है प्रेक्षक इन पात्रों के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानने को उत्सुक होता है और उनके व्यक्तित्व के अनेक पहलू सामने भी आते हैं। इस तरह बिना नाटकीय स्थितियों के विकास और उठान के यह नाटक मध्यवर्गीय जीवन-वास्तव का साक्षात्कार कराता है और प्रेक्षक को उलझाए रखता है। इस कारण से आधे-अधूरे की सीमाओं की ओर इंगित करते यह कथन कि "स्थितियों के माध्यम से कुछ घटता बढ़ता नहीं है—न नाटक न चरित्र। सभी चरित्र एक स्तरीय बने रहते हैं, हाड़-मांस के ज़िन्दा लोग नहीं जान पड़ते,"[1] उपयुक्त नहीं। वस्तुतः बिना कसाव और उठान के नाटक की रचना के मूल में जहाँ प्राचीन शास्त्रीय धारणाओं पर प्रश्न चिह्न लगाने की क्षमता है वहाँ आज की विकट जीवन स्थितियों को अभिव्यक्ति देने के लिए नये नाट्य शिल्प की तलाश का भी प्रयास है।

इस नाटक के पात्रों के सम्बन्ध में भी यही बात दोहराई गई है कि इनमें गति नहीं है। मध्यवर्गीय परिवार के घर के ठहराव को अभिव्यक्ति देने वाले पात्रों में गति का अभाव स्वाभाविक है। जब नाटक में कुछ घटता ही नहीं तो भला पात्रों में गति और विकास का प्रश्न ही नहीं। घटनात्मक संघर्ष से गुज़रते हुए पात्रों के चरित्र चित्रण की बात यहाँ असंगत है। वस्तुतः इस नाटक के पात्रों की मनःस्थियों के उद्घाटन द्वारा ही उनके व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त होता है। मध्यवर्गीय परिवार के विघटन के साथ-साथ इसके सदस्यों की टूटन एवं पीड़ा का परिचय अनेक रंग युक्तियों से दिया गया है। अनेक रंग युक्तियों का प्रयोग भी इन पात्रों के संवेगों, महत्वाकांक्षाओं के परिस्थितियों के साथ टकराने और बिखरने को मूर्त रूप देने के लिए किया गया है। सावित्री न घर को छोड़ सकती है और न घर उसको छोड़ सकता है। 'सब अपने-अपने में खण्डित, त्रस्त और पस्त है। वे अपना बोझ उठा सकने में असमर्थ हैं, पर एक-दूसरे के बिना गति भी नहीं है। अखबार की रस्सी बनानां महेन्द्रनाथ की भीतरी कसमसाहट को प्रकट करता है। बिन्नी का हवा का जिक्र इस घर के विषाक्त वातावरण को रूप देता है। घर का यह वातावरण परिवार के सभी सदस्यों के जीवन को दूभर बनाए है। यहाँ तक कि विवाह के पश्चात भी बिन्नी इससे छुटकारा नहीं पा सकती। आर्थिक अभाव, अतृप्त आकांक्षाओं और मानसिक कुण्ठाओं ने इस घर के वातावरण को 'नरक' के समान बना रखा है।'

मोहन राकेश ने पात्रों की भावनात्मक स्थितियों को अनेक रंग प्रतीकों द्वारा अभिव्यक्ति दी है। किन्नी

१. शोभना भूटानी, नटरंग—१०-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का भीतर से किवाड़ बन्द कर लेना इसी प्रकार का एक भाव-स्थिति को मूर्त रूप देने वाला प्रतीक है। फाइलों से धूल उड़ाना, पैंट में कीड़ा घुस जाना, कैंची से कुतरना आदि रंग प्रतीकों से नाटक को गहराई मिली है। इन प्रतीकों को घिसी-पिटी सपाट फिल्मी युक्तियाँ कहना उपयुक्त न होगा। आधे-अधूरे में स्थूल और अनेक मोड़ लेने वाली घटनाओं से कथानक का संयोजन न करके सामान्य जीवन की सामान्यतर घटनाओं के आधार पर नाटक को निर्मित किया है। यही नाटक की उपलब्धि है। नाटकीय स्थितियों और पात्रों की भाव स्थितियों में एक संश्लिष्टता है। रंग युक्तियाँ और रंग प्रतीक भी नाटक की भाव-वस्तु का अभिन्न अंग बन कर आए हैं।

'आधे-अधूरे' नाटक के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है, 'संवादों का बढ़िया चयन और रवानगी ने कथ्य की खामियों की तरह चरित्र की घटना हीनता और विकास के अभाव को अपने में समोकर उन्हें अभिनेय बना दिया हैं।'[1] इसके संवादों और भाषा की प्रायः प्रत्येक आलोचक ने प्रशंसा की है। यह कहने में भी संकोच नहीं किया गया कि भाषा और संवादों के कारण इसके कथ्य और इसके शिल्प की सारी दुर्बलताएँ छिप जाती हैं। किन्तु वास्तविकता यह है कि बदले हुए कथ्य को अभिव्यक्ति देने के लिए नये शिल्प ने रूप लिया है। विघटन की प्रक्रिया में एक मध्यवर्गीय परिवार के जीवन खण्ड का चित्रण करने के लिए बोलचाल की सामान्य जीवंत भाषा का प्रयोग इस नाटक में किया गया है। यह भाषा इस वर्ग के जीवन से जुड़ी हुई है। इस नाटक में प्रयुक्त "शब्द" इस प्रकार के हैं कि जिनका प्रयोग मात्र इस परिवेश को स्पष्टता से सामने ले आता है। निरन्तर अनेक संदर्भों में प्रयुक्त होते रहने से वे घिसे हुए शब्द हैं। उन्हीं में ऐसी क्षमता होती है। इनके ध्वनि-बिम्ब पूरे नाटक की भाव-स्थिति को दृश्य बिम्बन बन कर ग्राह्य बनाते हैं। इस लिए यह कहना कि 'आधे-अधूरे' की भाषा कथ्य की दुर्बलता को छिपाती है असंगत है। वस्तुतः मोहन राकेश ने नाटक में कथानक और चरित्र चित्रण की रूढ़ धारणाओं पर प्रश्न चिह्न लगाते हुए, बिना कथानक के कसाव और विकास के तथा बिना चरित्र-चित्रण के उतार-चढ़ाव के मध्यवर्ग के नित्यप्रति आपसी तनावों और पात्रों की मनःस्थितियों के बीच उन्हीं द्वारा प्रयुक्त भाषा में नाटक को रूप दिया है। भाषा उस जीवन खण्ड के इतने निकट है कि लगता है जैसे इन दंश से युक्त शब्दों को सांसें दे दी गई हों। कुछेक शब्द मध्यवर्ग की "पूरी सच्चाई" को साफ तौर से सामने रखने की क्षमता रखते हैं, जैसे—'किटपिट-किटपिट-किटपिट'। इनके अलावा कुछ ऐसे भी शब्द हैं जो भाव-स्थितियों को रूप देने में विशेष रूप से सहायक हैं—जैसे चिपचिपा, गिजगिजा, लिजलिजा, जूतियां चटखाना, उधेड़ना, चीथना, दरिंदा इत्यादि।

इस नाटक की भाषा को देखते हुए यह महसूस किया जाने लगा है कि नाट्य शब्द का एक अलग अस्तित्व है। विभिन्न संदर्भों में निरन्तर प्रयुक्त होने के पश्चात घिसा हुआ शब्द जो अनेक स्तरों पर अनुगूंज लिए हुए हो, वही नाटक के लिए उपयुक्त हैं। कम शब्दों से अधिक और गहरी बात कहने वाली इस विधा में ऐसे ही शब्दों का प्रयोग संभव है जिनकी अपनी अर्थवत्ता है। असल में 'आधे-अधूरे' नाटक से ही हिन्दी समीक्षकों का ध्यान नाट्य शब्द की ओर गया है। मुझे लगता है कि इस नाटक के रचना विधान में नाट्य शब्दों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। ये गतिशील एवं हरकत लिए शब्द केवल मध्यवर्गीय जीवन के बिम्ब में रंग भरने का काम ही नहीं करते अपितु इनके पात्रों की भाव-स्थितियों और मनःस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए उनके आक्रोश, बेकली, त्रास और कुण्ठाओं को संप्रेषित करने में भी समर्थ हैं। संवादों का तीखापन और तल्खी मन को चीरती जाती है। ध्वनिबिम्ब दृश्यबिम्ब में बदलते हुए जो कुछ मंच पर देख रहे हैं, उससे कहीं व्यापक जीवन वास्तव का साक्षात्कार कराते चलते हैं। इसी में इस नाटक की भाषा की सफलता है।

लेखक की रंग-चेतना ने ही इस नाट्य रूप को नियोजित किया है। कथ्य सम्प्रेषण के लिए मोहन राकेश ने उपरोक्त अनेक रंग-युक्तियों के अतिरिक्त रंग संयंत्रों

१. बृजमोहन शाह, नटरंग-१०-११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा अन्य रंग उपकरणों का प्रयोग बड़ी कुशलता से किया है। दृश्यबन्ध में प्रयुक्त सज्जा के उपकरण मध्यवर्गीय प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हैं। शुरू में लिखा है। 'एक चीज़ का दूसरी चीज़ से रिश्ता तात्कालिक सुविधा की मांग के कारण लगभग टूट चुका है। फिर भी लगता है कि वह सुविधा कई तरह की असुविधाओं से समझौता करके की गयी हैं—बल्कि कुछ असुविधाओं में ही सुविधा खोजने की कोशिश की गयी है।" यह रंग संकेत नाटककार की रंग चेतना का परिचय देता है। मंच सज्जा के सभी उपकरण नाटक की भाववस्तु से जुड़े हुए हैं। सबसे पहले डाइनिंग टेबल आलोकित होता है और फिर स्टडी टेबल। मध्यवर्ग का सारा संघर्ष क्या रोटी और शिक्षा को लेकर नहीं है। अपने अस्तित्व को बनाए रखने और रोटी चलाने का सारा संघर्ष पूरे नाटक पर छाया रहता है। एक अभिनेता द्वारा अनेक भूमिकाएँ करने की युक्ति नाटक के मूल कथ्य का संश्लिष्ट अंग है। महेन्द्रनाथ द्वारा फाईलें झाड़ना, बिन्नी द्वारा डिब्बा नहीं खुल पाना, किन्नी का भीतर से कुण्डी बन्द कर लेनी आदि ऐसी रंगचर्याएँ हैं जो भाव-सम्प्रेषण में समर्थ हैं। पात्रों के कार्य-व्यापार भाव-सम्प्रेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। सावित्री जब जगमोहन के साथ जाने का निश्चय कर लेती है, उस समय के कार्य व्यापार[१] सावित्री के तनाव को अभिव्यक्ति देने में समर्थ हैं। स्पष्ट है कि यदि संरचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो इस नाटक की बनावट और बुनावट से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक रंगमंच की क्षमताओं और सीमाओं से परिस्वित है। शास्त्रीय नाट्य सिद्धान्तों की अवहेलना करते हुए मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' नाटक द्वारा नये शिल्प की जमीन तलाश की है। इस तलाश में उसकी रंगचेतना ने समुचित सहायता की है। वस्तु-सम्प्रेषण के लिए रंग-उपकरणों, रंग-संयंत्रों, रंग सज्जा का समुचित प्रयोग उसकी रंगचेतना की गवाही देता है। केवल इतना ही नहीं भाव-सम्प्रेषण के लिए मोहन राकेश ने खुले-मंच, खाली-मंच और मुखर-मौन का भी बहुत कुशलता से प्रयोग किया है। विशेष रूप से सावित्री के जगमोहन के साथ चले जाने के पश्चात कुछ क्षणों के लिए रंगमंच के खाली रह जाने पर उस घर का उजड़ापन-सूनापन दिलो दिमाग़ पर छा जाता है। जुनेजा और बिन्नी के संवादों के बीच-बीच का मौन भी मुखर है। 'आधे-अधूरे' में अनेक स्थलों पर मुखर मौन की योजना है।

आधे-अधूरे का कथ्य जहाँ एक ओर मध्यवर्ग के जीवन में आ गये अन्तर्विरोधों और विसंगतियों को चित्रित करता है वहाँ दूसरी ओर गहरे उतर कर परिस्थिति जन्य विवशता में जीते हुए त्रस्त और पस्त मनुष्य की तस्वीर सामने रखता है। यह उस मध्यवर्गीय आम-आदमी की तस्वीर है जो अपनी अतृप्त आकांक्षाओं के कारण परिस्थितियों से टकराता है किन्तु उनका चक्रव्यूह तोड़ नहीं पाता। **विवश-स्थिति को जीने के सिवा कोई और चारा ही नहीं। उसके सामने और कोई चुनाव ही नहीं है।** 'एक बार फिर से वही शुरूआत' शुरू का यह वाक्य अन्त में अनायास मन में गूंजने लगता है। इससे नाटक की गति वृत्ताकार बन जाती है। शिल्प की दृष्टि से नाटकीय स्थितियों की वृताकार गति भी कथ्य से जुड़ी हुई है। यह गति भंवर के उस वृत की तरह है जिसमें मध्यवर्ग का सामान्य आदमी अपनी अतृप्त आकाँक्षाओं के कारण कुलबुलाता हुआ डूब जाता है। **इस नाटक के तनाव की स्थितियाँ और पात्रों की टकराहट इसी प्रकार की है।** विवश-स्थितियों में जीते हुए भी मरे हुए के समान रहना उसकी सब से बड़ी त्रासदी हैं। इस विचार से त्रासदी की रंगत और गहरी हो जाती है जब पता चलता है कि उसके पास इस तरह जीने के सिवा और कोई चारा भी नहीं है।

इस प्रकार 'आधे-अधूरे' मध्यवर्ग के सामान्य मनुष्य के जीवन की रोज बरोज घटने वाली त्रासदी की सफल अभिव्यक्ति है।

१. आधे-अधूरे पृ० ७०-८०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आशानन्द बोहरा
हिन्दी विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, गुड़गांव
(हरियाणा)

महाकवि सन्तोखसिंह : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

कवि के काव्य-मुकर में उसका जीवन प्रतिबिम्बित होता है। वह जिस संसार से अनुप्राणित होता है उसका चित्र अपने आदर्श के अनुरूप अनुभूति एवं कल्पना के विविध रंगों के सहयोग से अंकित करता है। अतः कवि की कृति उसके व्यक्तित्व के माध्यम से ही सम्यक् रूप से आस्वादनीय बनती है। काव्य में वर्णित एवं व्याप्त गहन अनुभूति से परिचय प्राप्त करने के लिए उसके जीवन, व्यक्तित्व आदि का अध्ययन किया जाता है। उसकी मनोदशाओं एवं परिस्थितियों की पृष्ठभूमि का ज्ञान हो जाने पर उसके काव्य की आत्मा तक सहज ही पहुंचा जा सकता है। कवि के व्यक्तित्व से केवल उसकी बाह्य आकृति एवं वेशभूषा का ही नहीं, उसकी विवेक शक्ति, व्यक्तिगत और सामाजिक अनुभूतियों तथा उसकी सांस्कृतिक चेतना आदि उपकरणों का भी बोध होता है।

जीवन-व्रत

इस महाकवि के जीवन चरित्र से संबंधित घटनाओं का उल्लेख अन्य भक्त कवियों की भाँति बहुत कम मिलता है। भारतीय कवियों की परम्परा आत्म-चरित के प्रति उदासीन ही रही है। बाल्मीकि, व्यास, तुलसी आदि की तरह इनकी भी कोई प्रामाणिक जीवनी नहीं मिलती है। भक्तहृदय कवि को आत्मश्लाघा अपनी भक्ति भावना के विपरीत प्रतीत हुई होगी। प्रसंगवश गुरु, माता, पिता तथा आश्रयदाताओं आदि के कुछ संकेत उनकी रचनाओं में मिलते हैं। ये संकेत उनकी आत्मकथा संबंधी झलक ही उपस्थित नहीं करते वरन् उनके व्यक्तित्व पर भी प्रकाश डालते हैं।

महाकवि जी का जन्म ७ अश्विन्, सम्वत् १८४४ तदानुसार २२ सितम्बर, १७८८ ई० को प्रातःकाल अनुराधा नक्षत्र में करीर गोत्र के पिता सरदार[1] देवासिंह जी के घर-माता रजादी[2] (राजदेवी) के गर्भ से 'नूर दी सराँ'[3] ग्राम में हुआ। यह स्थान श्री तरनतारन साहिब से झबाल की ओर जाने वाली (लाहौर की ओर) शाही सड़क पर साढ़े तीन मील की दूरी पर स्थित है। परन्तु कवि जी इस ग्राम में केवल दस ग्यारह वर्ष की अवस्था तक ही रहे जहां उन्होंने अपने विद्वान पिता और उनके गुरमत प्रेमी साथियों की सत्संगति में प्रारंभिक विद्या प्राप्त की। फिर उच्च विद्या प्राप्ति हेतु ज्ञानी सन्तसिंह[4]

१. (क) देवासिंह पिता मम नामू।
तिन के पद अरविन्द प्रणामू।
—गु० प्र० सू० रि०। अंशु। अंक ३४ पृ० ४४६६
(ख) देवासिंह पिता ते जन्म कवि सन्तोखसिंह नाम।
—नानक प्रकाश (उत्तरार्द्ध), अध्याय,
५७ अं० १११ पृ० १२५३

२. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० ८६

३. वही, पृ० ८६

४. (क) 'सन्तसिंह गुरु अक्खर दाता,
नमो करौं तिन पद जलजाता।
—गु० प्र० सू० रि० १, अंशु। अंक ३४, पृ० ४४६६
(ख) श्री मति, सिमरन रति,
गुरु सन्तसिंह शुभ नाम।
विदिया जिन ते मैं पठी,
तिन पद करौं प्रणाम ॥
ना० प्र० अध्य० ५७ अंक १०१, पृ० १२५६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पास अमृतसर जाकर रहने लगे। भारतीय दर्शन शास्त्र के ज्ञाता, संस्कृत तथा ब्रज भाषा आदि भाषाओं के पंडित एवं लेखक, काव्यशास्त्री, कथावाचक, ज्ञानी जी के व्यक्तित्व का प्रभाव स्वाभाविक रूप से भाई सन्तोख सिंह पर पड़ा। उनके हृदय में भी कथा-कीर्तन आदि करने का शौक उत्पन्न हुआ। वे अपने गुरु को ही अपना आदर्श मानते थे। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की अमिट छाप भाई सन्तोखसिंह जी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर देखी जा सकती है। तत्पश्चात् काशी[५], बूड़िए[६], पटियाला[७] और अन्त में कैथलपति[८] भाई उदयसिंह के पास जा कर रहे और आजीवन वहीं अपना समय गुरुयश वर्णन में व्यतीत किया। कभी भी अपने जन्म स्थान पर रहने का सौभाग्य इन्हें प्राप्त नहीं हुआ।

कवि जी का विवाह वि० सं० १८७८ में बूड़िए रहते हुए जागधरी में रहने वाले 'रुहीले गोत्र' की एक लड़की 'रामकौर' से हुआ था। जैसा कि ऊपर बता आए हैं कि कविजी का गोत्र 'करीर' था और उस समय 'करीर' गोत्र वाले 'रुहीले गोत्र' से सम्बन्ध स्थापित नहीं करते थे, अपितु व्यवहार करने से भी संकोच करते थे, परन्तु कवि जी ने इस बंधन को तोड़ कर विवाह सम्बन्ध स्थापित किया।[९] कवि जी के घर पांच पुत्र और तीन लड़कियां हुईं।

(ग) दृष्टव्य : नानक प्रकाश, पू० अध्य०। अंक ३३, पृ० ६३

(घ) श्री मति सुर गुरुभजन में,
दइआ धाम अभिराम।
तिन के पगनि प्रणाम ह्वै,
सन्तसिंह शुभ नाम ।।७।।
—गरब गंजनी पृ० २

५. जीवन कथा : चूड़ामणि कवि भाई सन्तोखसिंह, पृ० १८-१९

६. गु० प्र० सू० प्र० पृ० ९४-९६

७. वही, पृ० १००

८. उदयसिंह बड़ भूप बहादुर,
कवि बुलाई राख्यो ढिग सादर।
—गरब गंजनी पृ० ३

९. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० ९६

पुत्रों के नाम इस प्रकार है (१) अजैसिंह, (२) विजैसिंह, (३) मकसूदनसिंह, (४) बलदेवसिंह और (५) अनुरुद्धसिंह। आपके छोटे पुत्र श्री अनुरुद्धसिंह का बाल्यकाल में ही देहान्त हो गया था। कवि जी की लड़कियों के नाम इस प्रकार से है—(१) खेमकौर, (२) मेमनकौर (मेमी), (३) मानकौर। सबसे बड़ी खेमकौर की शादी अकाल तख्त के पुजारी भाई शोभासिंह के पुत्र नरैणसिंह से हुई। मेमनकौर (मेमी) की शादी झबाल में हुई तथा मानकौर (मानी) की शादी मा पुर हुई परन्तु कुछ समय पश्चात् वह पटियाला आकर रहने लगी। कवि जी ने तीनों लड़कियों की शादियां गुरमत के अनुसार की।[१०]

कार्तिक वदी एकादशी सम्वत् १९०० वि० (तदानुसार २१ अक्तूबर, सन् १८४४ ई०) को कैथल रहते ही कवि जी ने इस संसार से महाप्रयाण किया[११]।

व्यक्तित्व और रूपाकृति

महाकवि भाई सन्तोखसिंह जी का व्यक्तित्व बहुमुखी है। वे प्रतिभासम्पन्न महाकवि, इतिहासकार और भारतीय संस्कृति के आख्याता ही नहीं थे अपितु काव्यशास्त्री, रसवादी आचार्य, बहु भाषाविद्, बहु शास्त्रविद्, महान वैयाकरण, महान दार्शनिक, ब्रह्मज्ञानी, गुरु भक्त, काव्यानुवादक, भाष्यकार, समन्वयवादी, लोकनायक थे। उन्हें कवि-कुल-चक्र-चूड़ामणि आदि उपाधियों से विभूषित किया गया था। ऐसे उच्च कोटि के कवि एवं राज दरबार में इतना अधिक सम्मान प्राप्त कर लेने पर भी वे विनम्रता की मूर्ति थे। वे विनयशील, निराभिमानी, अध्यवसायी, उदार, दृढ़ संकल्प, न्यायशील, अध्ययनशील, त्यागी एवं सहृदय व्यक्ति और उदार हृदय थे। ऐसी अनेक विशेषताओं से वे विभूषित थे।

उन्होंने अपने वर्ण और आकृति का निरूपण नहीं किया। उनके विषय में उनके समकालीन किसी अज्ञात कवि के एक कवित्त के आधार पर कहा जा सकता है कि

१०. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० १६८-७०

११. गुरु-प्रताप-सूरज के काव्यपक्ष का अध्ययन, पृ० १४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका शरीर गठीला और कद मझला था। उनके रूप में अद्भुत आकर्षण था। आप शाही कवि होने के कारण कानों में कुंडल और गले में मोतियों की माला धारण करते थे। सिर पर छोटी-सी दस्तार (पगड़ी) आपके पूर्ण सिक्ख होने को व्यक्त करती थी। आपके व्यक्तित्व की प्रशंसा में समकालीन किसी अज्ञात कवि का निम्न कवित्त मिलता है :—

कुंडल कपोल पर लोल करें लहि लहि,
मानो तिगमंस सोभ रही छवि छाइकै।
कटि करवार करि वार दरै करी सिर,
धर पर गिराधर धीर नहीं काइकै।
दामन दमन दमै दिग दगै दिल बीच,
मत सम शेर शमशेर मारै आइकै।
ऐसी है कुखेयस सन्तोखसिंह इर बाई,
उपमा न बनै उपमेय कवि राइकै ॥५॥[१२]

कृतित्व

'गुरु प्रताप सूरज' में उन्होंने एक स्थान पर अपनी रचनाओं की ओर संकेत किया है।[१३] इसके आधार पर उनकी पांच रचनाएं 'नानक प्रकाश', 'जपुजी टीका-गरब गंजनी (भाष्य)', 'बाल्मीकि रामायण' (काव्यानुवाद), 'आत्मपुराण' (अनुवाद) तथा 'गुरु प्रताप सूरज' हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य रचना 'नामकोश' अमरकोश का काव्यानुवाद भी मिलता है, जिसे भाई कान्हसिंह[१४], भाई वीरसिंह[१५] तथा मैकालिफ[१६] आदि ने प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। भाई वीरसिंह ने भाई सन्तोख जी की उक्त प्रामाणिक रचनाओं के अतिरिक्त दो अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है जो उन्हें उनके पिता डॉ० चरणसिंह के पुस्तक संचय से प्राप्त हुई हैं। 'श्री गुरु गोबिन्दसिंह प्रसंग', और दूसरी 'श्री गुरु उस्तुति[१७]' ये दोनों लघु पुस्तिकाएं ही हैं।

इन दो पुस्तिकाओं के अतिरिक्त भाई वीरसिंह जी ने उनकी तीन अन्य लघु पुस्तिकाओं का भी निर्देश किया है, जो उन्हें कवि जी के हस्तलिखित संग्रह में से प्राप्त हुई हैं, जिनसे कवि जी के ज्योतिषशास्त्र के विद्वान होने का परिचय मिलता है। १. प्रश्न विधि, २. घर बनाने की विधि, ३. तृतीय का नाम नहीं दिया (इसमें ग्रह, नक्षत्र, राशि आदि देखकर कुंडली भरने की विधि बताई गई है।) अतः कुल मिलाकर कवि जी की रचनाओं की संख्या भाई वीरसिंह के विचारानुसार ग्यारह हो जाती है। परन्तु कवि कीर्ति के आधार-स्तम्भ के रूप में उनकी पूर्वोक्त छः ही प्रामाणिक रचनाएं विद्वानों द्वारा स्वीकृत हैं। अतः इन्हीं का परिचय यहां अपेक्षित है।

१. नाम कोश : यह रचना देवभाषा संस्कृत के गौरव ग्रंथ 'अमरकोश' का काव्यानुवाद है। इसके रचयिता जैनी श्री अमरसिंह ने अपने इस शब्द-प्रासाद में अनेक शब्द रत्नों को अद्भुत शैली में मंडित किया था। इस ग्रंथ के विश्व की अनेक भाषाओं में अनुवाद हो चुके हैं। इस रचना ने साहित्यिक वर्ग की आवश्यकताओं को ही पूरा नहीं किया अपितु विद्यार्थी वर्ग का भी महत् उपकार किया है जिन्होंने इसे अपना कंठहार बनाकर अपने परिश्रम को सफल बनाया।

ऐसी संभावना हो सकती है कि हमारे विवेच्य कवि सन्तोखसिंह ने अपने अध्ययन काल में इस कोशग्रंथ का अध्ययन किया हो, और इसके अध्ययन में जहां उन्होंने अपनी प्रतिभा की द्युति को चमकाया हो वहां भावी विद्यार्थियों के हित के लिए इसका काव्यानुवाद प्रस्तुत करने की अपनी बलवती आकांक्षा को अध्ययन की समाप्ति पर, बूड़िया निवास के दिनों में पूरा किया हो तथा अपनी काव्यकला को और अधिक चमकाया हो। इस काव्यानुवाद की रचना उन्होंने कब की? इसका कोई संकेत उनकी रचनाओं से नहीं मिलता। हां, इसकी समाप्ति उन्होंने अमृतसर में सम्वत् १८७८ वि० में

१२. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० ६६
१३. गु० प्र० सू०रा० १, अंशु ५, अंक ६-१५ पृ० १३२५
१४. महानकोश : पृ० १८२-१८३
१५. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० ६६, १२४
१६. Macauliffe : The Sikh Religion : Introduction : lxxvi.vii
१७. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० १२४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की[१८]। अपनी अन्य रचनाओं की तरह इस ग्रंथ के आरंभ में भी उन्होंने अपने इष्ट देव एवं अन्य गुरुसाहिबान की वन्दना की है। इसमें प्रयुक्त छन्द एवं अलंकृत शैली उनके पांडित्य की परिचायक है। इस अनूदित्त ग्रंथ का भी अमरकोश की तरह तीन कांडों में विभाजन किया गया है। इसके दोहों की संख्या २०४४ है। इस कोश ग्रंथ में संकलित शब्द भंडार का प्रयोग एवं प्रभाव उनकी परवर्ती रचनाओं में स्पष्ट देखा जा सकता है।

२. **गुरु नानक प्रकाश** : यह काव्य ग्रंथ महाकवि सन्तोखसिंह के कवित्व की दृष्टि से उनका प्रथम मौलिक गौरव ग्रंथ है। इसकी महिमा एवं प्रशस्य विशेषता इस काव्य के प्रतिपाद्य विषय की महत्ता और प्रतिपादन शैली की रमणीयता के अद्वितीय समन्वय में है। यह उनका एक ऐसा अनूठा महाकाव्य है जिसमें भक्ति की भूमि पर इतिहास-पुराण, धर्म-शास्त्र, कथा काव्य, चरित काव्य और लोक काव्य का अनुपम समन्वय किया गया है। प्राचीन संस्कृत के प्रबन्ध काव्य की परम्परा में लिखा गया यह एक धर्म-ग्रंथ है। यह सिक्ख धर्म के अनुयायियों के लिए जहां उनका धर्म एवं इतिहास का ग्रंथ माना गया है वहाँ इसमें उनके गुरमत-दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों का भी सुन्दर विश्लेषण मिलता है। इसमें गुरु नानक देव जी की जीवन-कथा को पौराणिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। इस ऐतिहासिक महाकाव्य को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध नामक दो भागों में विभक्त किया गया है। इन दोनों भागों में (५७+७३) कुल १३० अध्याय हैं। इसमें कथा के वर्णन में इतिवृतात्मकता एवं उपदेशात्मकता के साथ-साथ रसात्मकता, रमणीयता एवं मंगलमयता का समन्वय दिखाई देता है। जन-मानस को भाव-विभोर कर देने वाला इसमें अनूठा कथा-रस मिलता है। इसमें परंपरागत विचार, भारतीय संस्कृति के जीवन्त विचारों का विश्लेषण, व्यवस्थित कथानक, मार्मिक स्थलों की भावुकतापूर्ण-निबन्धना, अलौकिक तत्वों का संनिवेश, रोमांचक एवं साहसिक घटनाओं का अतिरेक है तथा अज्ञान-तिमिर को नाश करने वाले सूर्य-प्रकाश से समन्वित यह काव्य भाई सन्तोखसिंह की कीर्ति का आधार-स्तंभ है।

कवि गुरुयश वर्णन द्वारा अपनी वाणी को सफल करना चाहता[१९] है। इस काव्य में कवि गुरुदेव जी की भक्तिसे अभिभूत होकर उनके जीवन-चरित का काव्यात्मक आख्यान प्रस्तुतकरता है। इस काव्य के काव्यत्व की प्रशंसा में किसी अज्ञात कवि ने ये सुन्दर पंक्तियां कही हैं:—

कवित्त:

कविता अपार है कि गुन को पहार है
कि माधुरी अगार है कि भाव काव कोश है।
भूखन है कवि के, कि दूखन हो कवि के
विदूखन के बीच वी प्रसिद्ध हरि दोष है।
वानी ही उतंग है, सु अंक हीउ रंग है
अनंग अंग भंग के विसूतन निसोस है।
नानक अरथ जाऊ कीनो कली कल सोऊ
नाम तो सन्तोखसिंह धीयवर कोश है ॥४[२०]॥

ऐसे उत्तम काव्य का सृजन कवि ने अपने 'बूड़िया निवास' के दिनों में किया। कवि जी ने सम्वत् १८७८ वि० में नामकोश समाप्त किया और तत्पश्चात् डेढ़-दो वर्ष के अरसे में ही यह ग्रंथ कार्तिक पूर्णिमा १८८० वि० को समाप्त किया। इस तथ्य की ओर उन्होंने संकेत भी किया है :—

एक आँक अर अषट करि बहुर अषट पर सून।
कार्तिक पूरनमा विखे भयो ग्रंथ वि ऊन ॥११०[२१]॥

इस काव्य ग्रंथ की कथा का आधार सरूपदास भल्ला रचित 'महिमा प्रकाश' तथा गुरु जी की जीवनी से संबंधित

१८. (क) नामकोश : ४५६, तथा महान कोश, पृ० ५६.
(ख) महान कोश, पृ० ५६.

१९. वानी सफल करन के कारन।
करिहों सतिगुर सुजस उच्चारन।
—गु० प्र० सू० राशि १, अंशु, ५, अंक ६ पृ० १३२४

२०. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० ९८

२१. ना प्र० उत्त० अध्य० ५७, अंक ११० पृ० १२५८

CG-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साखी साहित्य है। वक्ता श्रोता[22] शैली में लिखे गए इस काव्य में ऐतिहासिकता के साथ पौराणिकता का अद्‌भुत समन्वय मिलता है। अलौकिक घटनाओं के समावेश से गुरु नानक को हरि अवतार के रूप में चित्रित किया गया है। नानक-वाणी के संकलन द्वारा गुरुदेव के आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। इसमें शान्त रस के साथ-साथ काव्य के अन्य रसों का भी सुन्दर परिपाक हुआ है। मंगलाचरणों में जहां अलंकृत शैली की छटा दिखाई देती है वहां कथा-वर्णन में स्वाभाविकता की छाप दिखाई देती है। यह ग्रन्थ विविध-भावों एवं मनोवेगों की सुन्दर मंजूषा है। भाषाशैली की दृष्टि से अनेक अलंकारों से यह अलंकृत है। छन्दों की विविधता से सरसता को स्थिर रखा गया है। ब्रजभाषा के इस गौरव ग्रंथ में उदात्त-भावनाएं, सांस्कृतिक तत्वों का समावेश तथा लोक मंगल विधायिनी जीवन्तता, काव्योचित गरिमा से मंडित यह महाकाव्य गुरु यश[23] का ही नहीं अपितु कवि-यश का अद्‌भुत स्मारक है।

३. **गरबगंजनी : (जपुजी भाष्य)** : महाकवि जी ने अपने कैंथल-निवास के आरम्भिक दिनों में कैंथलपति भाई उदयसिंह के विशेष अनुरोध पर श्री आदि ग्रंथ की सर्वप्रथम लोकप्रिय वाणी 'जपुजी' या 'जपु नीसाण' की अलंकारयुत टीका लिखी। श्री आदि ग्रन्थ में संकलित समस्त वाणी इसी गंभीर रचना की व्याख्या मानी जाती है। संस्कृत भाषा में अनेक प्रकार के टीका ग्रन्थों के लिखने की परम्परा चली आती है जैसे भाष्य, वृत्ति, वार्तिक, विवरण, विवृत्ति, कारिका, तथा व्याख्यान आदि[24]। रहस्यात्मक, दार्शनिक एवं सूत्रात्मक शैली में लिखी गई अनेक रचनाओं की टीकाएं मिलती हैं। टीका-ग्रन्थों से अर्थों के समझने में सुविधा होती है। टीका को गुरुओं का भी गुरु कहा गया है—'टीका गुरुणाम् गुरु'।

'जपुजी' गुरमत दर्शन का अद्‌भुत सूत्र ग्रन्थ माना जाता है। इस ग्रंथ पर आज तक अनेक टीका ग्रन्थ लिखे गए हैं। जिनमें से कुछेक में साम्यप्रदायिक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है तो कुछेक में साहित्यिक सौंदर्य का उद्‌घाटन हुआ है। कुछेक के अमृतोपम माधुर्य पर विद्वान आज भी मुग्ध हैं। भाई सन्तोखसिंह जी ने ऐसी मधुर, सरस एवं उपयोगी टीका का प्रणयन कर पूर्ववर्ती टीकाकार साधु आनन्दघन[25] का ही गर्व नष्ट नहीं किया अपितु समस्त भ्रांतियों एवं शंकाओं का समाधान प्रस्तुत कर 'काव्य रीति' का भी सुन्दर निरूपण किया है। ब्रजभाषा हिन्दी में लिखी गई यह टीका गुरुमुखी लिपी में ही मिलती है। यह ग्रन्थ जहां रीतिकालीन रीति-प्रियता का परिचायक है वहां तत्कालीन राजा एवं भाई सन्तोखसिंह के आश्रयदाता कैंथल अधिपति की अलंकार प्रियता का भी परिचायक है। यह ग्रन्थ उनकी प्रेरणा का ही फल है और महाकवि सन्तोखसिंह की परोपकारपरायणता एवं विद्वत्ता का प्रकाश-स्तंभ है। उन्होंने लिखा भी है :—

'उदे सिंध बड़ भूप बहादुर।
कवि बुलाई राख्यो ढिग सादर॥
श्री ग्रंथ साहिब गुर जानी।
सरब शिरोमनि जपु जी बानी॥१४॥
अर्थ गंभीर महान महाने।
अस लखि कवि सो वचन बखाने॥
अलंकारयुत टीका रचीए।
निरनै अरथ करहु मति खचीए॥१५॥
होत अशंका या महि जेती।
बुधि बल करहु हरहु अब तेती॥
सुनि करि वचन नृपति को नीका।
कवि ने रुचिर रच्यो जपु टीका॥१६[26]॥

२२. बाला बरनन करन लगा बर।
ससि मुख ते इतिहास सुधासर॥३॥
—ना० प्र० तृ० अ० पृ० १४२

२३. गुर कीरति सरिता जिव बरनी।
मंगल करनि अमंगल हरनी॥८२॥
—ना० प्र० पू० अ० १, अंक ८२, पृ० १२५

२४. दृष्टव्य : 'भाषा' पत्रिका अंक सितम्बर, १९७०, पृ० ७५

२५. दृष्टव्य : डा० रत्तसिंह जग्गी : आनन्दघन दी टीका। (प्रकाशक भाषा विभाग, पटियाला)

२६. गरब गंजनी : पृ० ३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि सन्तोखसिंह जी ने अर्थ-गांभीर्य से परिपूर्ण 'जपुजी' टीका से आनन्दघन के प्रतिपादित मतों का खंडन भी किया है। इस टीका के नामकरण के विषय में भी टीकाकार ने ग्रन्थ के अन्त में संकेत कर दिया है।[२७]

इस टीका ग्रंथ के आरम्भ में अकालपुरुष एवं दस गुरु साहिबान के मंगलाचरण भी 'नानक प्रकाश' आदि की तरह दिए हैं।[२८] तत्पश्चात् कैथल के राजवंश का संक्षिप्त विवरण दिया है।[२९] इसके पश्चात् जपुजी के शब्द सुसिन्धु में अर्थ सुधा की अभिव्यक्ति के लिए काव्यदोष, अलंकार, व्यंग्य, लक्षण, ध्वनि आदि विभिन्न काव्य-शास्त्रीय विषयों के विवेचन एवं विश्लेषण द्वारा 'काव्य-रीति' का उद्घाटन किया है। इसके पश्चात् 'जपुजी' की महिमा एवं महात्म्य का वर्णन किया गया है।[३०] 'नाम जप मार्ग' की परिचायक इस वाणी के इस पांडित्य-पूर्ण भाष्य पर वैदिक साहित्य के अतिरिक्त शंकराचार्य विरचित ब्रह्मसूत्र के 'शारीरिक भाष्य' एवं वेदान्तदर्शन के अन्य ग्रंथों का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। उपनिषद् साहित्य से विभिन्न उद्धरण स्थान स्थान पर उद्धृत किए गए मिलते हैं। वेदांत के अतिरिक्त सांख्य, न्याय, मीमांसा, योग आदि के दर्शन शास्त्रीय ग्रन्थों का उल्लेख भी कई स्थानों पर मिलता है। इनके अतिरिक्त भारतीय ज्ञान-निधि का मन्थन करते हुए गुरमत के प्रतिपादक ग्रन्थों—'आदि ग्रन्थ', 'दशम ग्रन्थ,' 'वारां भाई गुरदास' आदि से भी सहायता ली गई है। 'काव्यरीति' के निरूपण में समस्त भारतीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की सहायता से 'जपुजी' की प्रत्येक पंक्ति के अलंकारों का सुन्दर निरूपण एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया है, जो उनके पांडित्य का प्रकाशक है। इस गद्य टीका ग्रंथ को भी काव्यत्व, दर्शन एवं संस्कृति का अनुपम संगम कहा जा सकता है। डॉ० गोयल के विचारानुसार, 'यह हिन्दी की ऐसी पहली आलोचनात्मक पुस्तक है जिसमें किसी रचना की दार्शनिक व्याख्या करते हुए भाषा, शब्द, शक्ति, गुण, दोष, अलंकार आदि की दृष्टि से उसके काव्यत्व की परीक्षा की गई हो।'[३१] 'हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह रचना कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है।'[३२]

४. बाल्मीकि रामायण-भाषा : भारतीय संस्कृति के समुज्ज्वल दीपस्तंभ आदि-काव्य बाल्मीकि रामायण को समग्र कवि समाज का उपजीव्य ग्रंथ माना जाता है। इसमें वर्णित रामकथा की लोकप्रियता सर्वविदित है। इसमें हमारा जातीय इतिहास वर्णित है। बाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगने वाले उस विराट् वट-वृक्ष के समान है जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाए हुए खड़ा हैं। ऐसे अद्भुत काव्य को आधार बना कर अनेक मध्य-युगीन कवियों ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने के लिए गद्य एवं पद्य में अनेक ग्रंथों का सृजन किया है। पंजाब में भी इसके आधार पर लिखे गए ग्रंथों की संख्या[३३] से इसकी लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है। इसी परंपरा में महाकवि सन्तोखसिंह ने कैथल नरेश भाई उदयसिंह की प्रेरणा से बाल्मीकि रामायण का काव्यानुवाद ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया। कवि जी ने 'जपुजी' भाष्य 'गरब गंजनी' की समाप्ति के पश्चात् उक्त अनुवाद की ओर ध्यान दिया।

यथा:—'पुनि संजोग होइ अस गयो।
रामचरित को मन हुलसयो।
बाल्मीकि क्रित कथा सुनी जबि।
छंदन बिखै रची तब हम सबि ॥११॥

२७. गरब गंजनी : पृ० १८४
२८. वही पृ० १
२९. वही पृ० २-३
३०. वही पृ० ४

३१. डॉ० जय भगवान गोयल : 'गुरु प्रताप सूरज' के काव्यपक्ष का अध्ययन, पृ० ३५ (१९६६)
३२. डॉ० जयभगवान गोयल : संक्षिप्त 'गुरु प्रताप सूरज' भूमिका—पृ० १६ (१९६८)
३३. दृष्टव्य : हृदयराम रचित 'हनुमान नाटक' (१६८० वि०), कपूरचन्द रचित 'अनूप रामायण' (१७०३), सोढी मिहरबान रचित 'आदि रामायण' इत्यादि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामकथा पावन बिसतारी।
सुनि सभ नीकी रीति उतारी।।
सुन्दर बन्यो रमाइन महां।
ततछिन लिखि लीनसि जहिं कहां ।।१२[३४]।।

कवि जी के कथानुसार इस रचना पर उन्होंने पौने दो वर्ष का समय लगाया और इस साहित्यिक रचना की सुन्दरता पर प्रसन्न होकर कैथल नरेश ने उन्हें मोरथली नामक ग्राम पुरस्कार के रूप में दिया। कवि जी ने स्वयं इसका उल्लेख इस प्रकार किया है :—

इक इक दिन महि सरग इक कर्यो सु छंदन मांहि।
यांते बन्यो शिताब बहु बिते वरख दइ नाँहि।।१४[३५]।।
सुन्दर सादर ग्रंथ बन्यो पद गुंथति नौ रस रीति भली।।
राम कथा गुन ग्राम भिमान महां मतिधाम अंनद फली।।
रंजन है भ्रम भंजन है गम गंजन है प्रद-ग्यान बली।।
कैथल नाथ प्रसंन भयो पठि ग्राम दयो
तबि मोरथली[३६] ।।१५[३७]।।

इस पद्यांश से इस ग्रंथ के आरंभ करने की तिथि के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता है। परन्तु इसकी समाप्ति के विषय में उन्होंने उल्लेख किया है :—

संवत् विक्रम जात अशट दस सहस भणिज्जै।
तोस त्रिगुणा करिय भयो पूरन लखि लिज्जै।
पुन इकानवा चढ़यों संधि दोहन की मानहु।
रुत बंसत अति शुभति चैत्र मास पछानहु।
तभि भई समाप्ति ग्रंथ की रामायण सुंदर सरस।
कवि हाथ जोरि बिनती करति चाहति चित
रघुपति दरस ।।१३[३८]।।

इस काव्यानुवाद में सात कांड (बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किंधा कांड, सुन्दरकांड, युद्धकांड, उत्तरकांड) हैं। परन्तु इसके सर्गों की संख्या में विभिन्नता पाई जाती है।[३९] इस ग्रन्थ में अन्य ग्रन्थों की तरह ही कवि ने अकालपुरुष पारब्रह्म के स्वरूप-निरूपण के साथ-साथ अपने इष्टदेव गुरु साहिबान की बन्दना के छन्द दिए हैं, तथा गुरु नानक आदि गुरु साहिबान को उसी पारब्रह्म का रूप बताया है। इसमें सरस्वती आदि की वन्दना के छन्द भी मिलते हैं। गुरुओं की वन्दना के पश्चात् श्री राम के स्तुतिपरक मंगलाचरण दिए गए हैं। बाल्मीकि ने अपने काव्य में बिना किसी प्रस्तावना के काव्य का आरम्भ अपने नायक के कुल (इक्ष्वाकुवंश) से परिचय किया है तथा साथ ही अयोध्या वर्णन भी किया[४०] है। जिसमें उनकी महिमा का भी संकेत है। बाल्मीकि रामायण के आरम्भ में श्री नारद जी से बाल्मीकि जी पूछते हैं कि इस संसार में गुणवान, वीर्यवान, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, (किए हुए उपकार को न भूलने वाले) सत्यवादी, दृढ़व्रत, अनेक प्रकार के चरित्र वाले प्राणीमात्र के हितैषी, विद्वान, समर्थ, अति दर्शनीय, धैर्यवान, क्रोध को जीतने वाले, तेजस्वी, ईर्ष्याशून्य और युद्ध में क्रुद्ध होने पर देवताओं को भी भयभीत करने वाले कौन हैं? नारद जी इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि ये सभी गुण महाराज इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न श्री रामचन्द्र जी में मिलते हैं।

'नारदं' परिपप्रच्छ बाल्मीकिर्मुनिपुंगवम् ।।१।।
को न्वस्मिन्सांप्रतं लोके गुणवाकश्च वीर्यवान।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः ।।२।।
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रिय दर्शनः ।।३।।
आत्मवान्को जितक्रोधी द्युतिमांकोऽनसूयक।
कस्य विभ्यति देवाश्य जातरोषस्य संयुगे ।।४[४१]।।

इन्हीं पंक्तियों के कवि द्वारा किए गए काव्यानुवाद की सुन्दरता निम्न पंक्तियों में दृष्टव्य हैं—

३४. गु० प्र० सू० रा०। अंशु ५ अंक ११-१२ पृ०१३२५
३५. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० १२६ पर उद्धृत।
३६. वही, पृ०। १२७ पर मुद्रित सनद की फोटो।
३७. वही, बाल्मीकि रामायण, लंकाकांड, सर्ग १३१
३८. वही, लंकाकांड, सर्ग १३०
३९. दृष्टव्य : गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० १२८ (फुटनोट)
४०. बुल्के, कामिल : रामकथाः उत्पत्ति और विकास, पृ० १४०, तथा मैकडानल: हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ३०४
४१. बाल्मीकि रामायण : बालकाँड, प्रथम सर्गः पृ० १-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भयो किस काल में विसाल गुणवान कौण ?
सभ पै क्रिपाल बलवान शांति आतमां।
दृढ़ व्रत, सत्य वाक, क्रोध जितु, बुधीवान,
एक प्रिय दासंन महान हुई धर्मातमां।
सदा अनुसूयक समर्थ विदवान सरब,
मनवसीकार जो क्रितग्य हुई महातमां।
रोस हूं को जोश. करे सुरासुर भाजें रण,
ऐसो क्रित होइ सो बताओं रिखी सातमा ।।२०[४२]।।

रामकथा के रूपक की योजना द्वारा प्रतिपाद्य विषय की महत्ता का भी प्रतिपादन किया है। देखिए :—

'मुनि बालमीक गिरवर रमणीक हूं ते,
निकसी है नीक कथा धार गंग की।
मोह आदिक पंच को प्रपंच पाप, वंचत है,
नवौ रस छवि है उतंग नित रंग की।
तीन लोक पावन करति, उज्जल बरन अपार,
अस रमाइनि गंग की बंदन बारं बार ।।८[४३]।।

इस तरह के रूपक की योजना 'गुरु प्रताप सूरज' में भी कुछ अन्तर के साथ हुई है[४४]।

उक्त रामकथा के स्वरूप में कवि जी ने किसी प्रकार का संशोधन या परिवर्तन करने का प्रयास नहीं किया है। इस संबंध में उन्होंने संकेत भी किया है :—

बालमीक मुनि की क्रित, सरब जथारथा जानि।
ज्यों बीती बरनी तथा बाध न घाट पछान ।।१४।।
मन की उकति बनाई के, नहिं कीनो इतिहास।
बोलनादि ते जिम क्रिया, जथाजोग परकाश ।।१५[४५]।।

तथा:—

मुनि को कह्यो न छोरियो और नहीं बचि पाइ।
सरब जथारथ जनीए साच भइ जिस भाइ ।।१६[४६]।।

उक्त पंक्तियों से विदित होता है कि कवि केवल मात्र अनुवादक है। उन्होंने अपनी ओर से कहीं भी कुछ घटाना या बढ़ाना नहीं पसंद किया। हाँ, कहीं-कहीं पर छन्द योजना के लिए अवश्य स्वतन्त्रता से कार्य किया है। उनकी योग्यता इस बात से भी विदित है कि वे इस ग्रंथ के प्रक्षिप्तांशों से भली भाँति परिचित थे। उत्तरकांड के २४-२८, ४८-५२, ७०-७२ इन सर्गों का उन्होंने यद्यपि अनुवाद किया है तथापि वे इन्हें प्रक्षिप्त मानते थे उन्होंने लिखा भी है :—

दस पूरबले सरग हैं इह द्वै कीन बखानि।
द्वादश कीने आन के पंडित लेहु पछान ।।१[४७]।।

इस तरह से निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यद्यपि इन अनूदित रचनाओं में कवि के पास अपने कला कौशल के प्रदर्शन का अवकाश कम था तथापि उनकी अनुवाद-कला, काव्य प्रतिभा, अनुभूतिपरकता, आलंकारिता की रुचि, छंद-योजना की विविधता, हिन्दू सिक्ख एकता की भावना, ब्रजभाषा की मधुरता आदि का निरूपण अद्वितीय बन पड़ा है।

५. आत्म पुराण-टीका : 'गुरु प्रताप सूरज' की राशि १ अंशु ५[४८] में महाकवि जी ने बताया है कि रामायण के अनुवाद के पश्चात् उन्होंने 'आत्मपुराण' की टीका लिखी है। इस वेदांत दर्शन के ग्रंथ में उपनिषद् साहित्य का संचय हुआ है। यह रचना लगभग सं० १८९१ वि० की है। कवि रचित इस ग्रन्थ की कोई भी प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है।[४९] भाई वीरसिंह जी की काफी खोज के पश्चात् एक पृष्ठ उदाहरण मात्र मिला है, जो श्वेताश्वेतर उपनिषद् के कुछ भाग की टीका है। यह टीका भी गद्य में की गयीं है।[५०]

४२. बाल्मीकि रामायण : बालकांड, सर्ग पहला, कवि कृत काव्यानुवाद। गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० १३१ पर उद्धृत।
४३. वही,
४४. गु० प्र० सू० ऐन २, अंशु ३६, अंक २३, पृ० ६४०७
४५. बाल्मीकि रामायण (भाषा) अरण्यकांड, सर्ग ७२
४६. वही, बालकांड, सर्ग ७७
४७. बाल्मीकि रामायण (भाषा) उत्तरकांड, सर्ग ७३
४८. पुन विदान्त को ग्रंथ महान।
उपनिषधनि को जहिं बख्यान।।
आतम को पुराण जिस नामु।
सकल बनायो सो अभिराम ।।१३।।
—गु० प्र० सू० राशि १, अंशु ५, अंक १३ पृ० १३२५
४९. गु० प्र० सू० ग्रं० प्र० पृ० १३३
५०. वही, पृ० १३३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६. गुरु प्रताप सूरज : 'आत्म-पुराण' टीका लिखने के पश्चात् संवत् १८९२ वि० के लगभग कवि जी ने अपनी कीर्ति के प्रकाशक ग्रंथ 'गुरु प्रताप सूरज' में सिक्ख गुरुओं के प्रताप का वर्णन किया। उन्होंने स्वयं लिखा है :—

बहुत बरख बीते जब लहे।
गुर जस रचन चाहते रहे।
उर अभिलाख निति की मेरी।
सतिगुर कृपा द्रिशटि करि हेरी ॥१४॥
भयो अचानक संचे आई सरब।
गुरनि को जसु समुदाई।
चाहुति भए आप गुर जबहुं।
मा सचे दस गुर जसु सभि हूं ॥१५॥
हेरि उमंग मोहि मन आई।
करन लग्यो इह ग्रन्थ सहाई।
राम कुईर के मुख ते कथा।
बरनो सभि में हो जथा ॥१६[51]॥

इन पंक्तियों में बहुत वर्ष पूर्व की ओर संकते किया गया है, जिनका भाव 'नानक प्रकाश' के लेखनकाल की स्मृति दिलाता है। अब जब गुरु-इतिहास की सामग्री संचित हो गई तब उन्होंने सं० १८९२ वि० के लगभग गुरु प्रताप सूरज का सृजन नियमित रूप से करना आरंभ किया। आदि ग्रंथ, दशम ग्रंथ, वारां भाई गुरदास, सिक्खां दी भक्तमाल, पाँच सौ साखी, सौ साखी, महिमा प्रकाश, गुरु विलास, (सुक्खा सिंह), गुरु शोभा (सेनापति), आदि अनेक ग्रंथों की सामग्री[52] के आधार पर तथा स्वयं देखे अनेक स्थानों,[53] लोगों से सुने समाचारों,[54] यात्राओं[55] द्वारा विभिन्न प्रकार की सामग्री के आधार पर इस विराट् प्रबन्ध काव्य का सृजन किया गया। कहा जाता है कि जीवन सिंह आदि चार लेखक इस ग्रंथ को लिखा करते थे और कवि जी बोल-बोल कर उन्हें लिखवाया करते थे।[56] इस प्रकार उक्त बिखरी हुई सामग्री को इसमें एक स्थान पर सुन्दर रीति से सुनियोजित कर प्रस्तुत करने का उनका प्रयास प्रशंसनीय है। इसमें गुरु नानक देव जी के अतिरिक्त अन्य नौ गुरु साहिबान का जीवन इतिहास बड़े विस्तार से अंकित है। रामचरित की मार्मिक कथा की तरह गुरु कथा का इस में सुन्दर वर्णन मिलता है। गुरु साहिबान के उपदेशों, आदर्शों आदि के माध्यम से जहाँ गुरमत-दर्शन का निरूपण किया गया है वहाँ भारतीय संस्कृति के विभिन्न तत्वों का भी सुन्दर प्रतिपादन मिलता है।

दसों गुरुओं के प्रताप को सूर्य के समान प्रकाशमान बताते हुए इस ग्रंथ में नौ गुरुओं के व्यक्तित्व पर सूर्य की रशियों, छः ऋतुओं, दो ऐनो (उत्तरायण और दक्षिणायण) तथा अनेक अंशुओं (किरणों) के रूपक[57] के माध्यम से प्रकाश डाला गया है। इस ऐतिहासिक कथात्मक चरित काव्य में काव्यत्व, प्रबन्धात्मकता, पौराणिकता, इतिवृत्तात्मकता, रसात्मकता, भावों की उदात्तता एवं मार्मिकता, नवरसों का निरूपण, प्रकृति चित्रण, ऋतुवर्णन, वस्तुवर्णन, आध्यात्मिकता एवं दार्शनिकता, छन्दों की विविधता तथा अलंकार-योजना की उत्कृष्टता अवलोकनीय है।

महाकवि सन्तोख सिंह का यह ग्रथ 'गुरु प्रताप सूरज' सुन्दरम् से समन्वित एवं सत्यं और शिवं का उद्‌घोषक ऐतिहासिक काव्य है। भारत वर्ष का सांस्कृतिक इतिहास जिन गौरवशाली ग्रंथों से समुज्जवल है, उन में 'गुरु प्रताप सूरज' महत्वपूर्ण स्थान पर आसीन है। इस में सिक्ख गुरु कालीन इतिहास, संस्कृति और काव्य की अनुपम मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है। इन्हीं तीनों ज्ञान-सरिताओं का इसमें संगम होने के कारण यह पावन तीर्थराज की संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। जैसे प्रयागराज को तीर्थराज कहा जाता है और इस तीर्थ की पवित्रता

५१. गु० प्र० सू० रा० १, अंशु ५, पृ १३२५
५२. गु० प्र० सू० ग्रे० प्र० पृ० १७८-१९२
५३. वही, पृ० १५१
५४. वही, पृ० १५३
५५. वही, पृ० १५३-१५५
५६. वही, पृ० १४१
५७. गु० प्र० सू० रा० १२, अंशु ६८, अंक २२-२३, पृ० ४४५३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य को इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख प्रदान करने वाली है वैसे ही इस ग्रंथ का माहात्म्य सर्वविदित ही है।

यह उत्तर भारत के ज्ञानमना महामनस्वियों द्वारा युग-युगों से सुचिन्तित जीवन की सर्वांगीण व्याख्या करने वाला प्रतिनिधि काव्य ग्रंथ है। भारतीय चिन्तन धारा की ज्ञान-ज्योति इस में नवीन रूप से ज्योतित है। यह सिक्ख मत का ज्ञानसर्वस्व होने के कारण आर्ष-ग्रंथ भी है, महाकाव्य भी है, इतिहास-पुराण भी है, धर्म ग्रंथ भी है और भारतीय संस्कृति का व्याख्याता भी। यह भारतीय धर्म-साधना और ज्ञान-परंपरा का द्युतिमान अमर स्मारक है। इस महाग्रंथ में भारतीय उच्चादर्शों की व्याख्या मिलती है। यह ग्रंथ हमारे पथ प्रदर्शक गुरु साहिबान के ऐतिहासिक जीवन चरित्रएवं उनकी जीवन साधना को ही प्रस्तुत नहीं करता अपितु मनुष्य जाति को भौतिक जीवन की तुच्छता एवं निस्सारता को दिखाकर मोक्ष प्राप्ति की ओर प्रेरित करता है। यह उनके महान ऐतिहासिक आख्यान को ही प्रस्तुत नहीं करता अपितु भारतीय धर्मशास्त्र की व्याख्याता संस्कृति एवं काव्यशास्त्रीय कला कौशल को भी व्यक्त करता है। यह एक ऐसा ग्रंथ राष्ट्र है जिससे पंजाब के अनेक ग्रंथकारों की कृतियाँ प्रभावित ही नहीं हुई प्रत्युत इसे उनका उपजीव्य ग्रंथ होने का श्रेय भी प्राप्त है।

इस ग्रंथ में ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक अनेक विषयों के बीज बिखरे पड़े हैं। इसमें भारतीय जीवन के महिमामय अतीत को वाणी मिली है। इस रचना के अन्तस्तल से एक सारा देश, एक सारा युग, अपने हृदय को और अपनी अभिज्ञता को प्रकट करके इसे सदा के लिए समादरणीय बना देता है। महाकवि संतोख सिंह ने भारतीय काव्याकाश को एक ऐसे 'गुरु प्रताप' रूपी सूर्य को भेंट किया है जिसका चिरंन्तन प्रकाश सदैव मानवता का मार्गदर्शन करता रहेगा। इस में युग कवि ने साधना पुंज एवं शौर्य वीर्य सम्पन्न गुरुओं की पुनीत जीवन कथा को ही भारतीय धर्म, दर्शन, राजनीति, आचार, इतिहास, पुराण एवं काव्य के संदर्भ में प्रस्तुत किया है। इस लोकनायक राष्ट्रकवि ने अपनी इस रचना द्वारा भारतीय इतिहास, संस्कृति और काव्य को एक नवीन दिशा एवं नवीन संजीवनी शक्ति प्रदान की है। इस में चित्रित सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक भावनाओं ने तत्कालीन प्रताड़ित भारतीय हृदय को नवीन संबल प्रदान किया है। भारतीय सांस्कृतिक एकता को अक्षय तत्व बना दिया है। तत्कालीन विभिन्न विचारधाराओं एवं संस्कृतियों को एक स्थान पर लाकर गुंफित किया है। इस महिमा-मंडित ग्रंथ में अनेक लोक कथाएँ, ऐतिहासिक आख्यान मिलकर एक प्राण हो गए हैं। इतिहास की पृष्ठभूमि पर इस काव्य-प्रासाद का निमार्ण हुआ है और संस्कृति के आख्यान स्वरूप सूर्य-प्रकाश से आलोकित होकर जन-जन के हृदय तिमिर को यह दूर करता चला आ रहा है। इस में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् साकार हो उठे हैं।

भाई सन्तोख सिंह ने समाज के व्यापक परिसर का चित्रण अपने काव्य ग्रंथों में किया है। उनमें तत्कालीन समाज की राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, दार्शनिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का संकलित प्रभाव प्रसंगानुसार संश्लिष्ट अथवा विश्लिष्ट रूप में प्रतिफलित हुआ है। उन्होंने जीवन के विभिन्न पक्षों को बड़ी सूक्ष्मता से देखा परखा था। उनकी वाणी में तात्कालीन युग का स्वर प्रस्फुटित हुआ। वे युगीन परिस्थितियों से प्रभावित थे परन्तु उन्होंने युगीन जनसमुदाय के मंगल विधान के लिए परंपरानुमोदित समाधानों को गुरमत के नवीन प्रकाश के रूप में प्रस्तुत करते हुए अपनी प्रगतिशीलता का भी परिचय दिया। वे सर्वात्मभाव की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए कवि थे। उनके ऐसे दृष्टिकोण के निर्माण में 'गुरु-वाणी' का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। गुरुओं की आराधना में तल्लीन हृदय से जो कुछ भी निःसृत हुआ उसमें मानव कल्याण की भावना निहित थी। इसी परिप्रेक्ष्य में उनके काव्य में प्रतिफलित परिस्थितियों का अवलोकन करना चाहिए। रीतिकालीन कवि होते हुए भी उनकी वाणी में भक्तिकालीन भावनाओं की छाप देखी जा सकती है।

महाकवि सन्तोख सिंह का प्रादुर्भावकाल सम्वत् १८४५ से १९०० वि० (तदानुसार सन् १७८८-१८४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ई०) माना जाता है। १८वीं शताब्दी के अन्त और १९वीं शताब्दी के मध्य में अवतरित इस युग को भारतीय इतिहास के मुग़लकाल के ह्रासकाल एवं अंग्रेजों के सत्ता एवं राज्य विस्तारकाल के अन्तर्गत माना जाता है। 'गुरु प्रताप सूरज' के अन्तिम पृष्ठों में कैथल की लूट का वर्णन मिलता है जो अंग्रेजों के राज्यविस्तार सम्बन्धी नीति के फलस्वरूप हुई। 'गुरु प्रताप सूरज' में केवल सिक्ख इतिहास ही अंकित नहीं है प्रत्युत इस में तत्कालीन मुग़ल-इतिहास की सामग्री भी संकलित है, जिस का ऐतिहासिक मूल्य भी कुछ कम नहीं है। मुग़ल सत्ता के उत्थान एवं ह्रासकाल की कहानी भी इसमें अंकित है। हमारे इस कवि ने जहाँ मुग़ल शासन काल के लगभग ३०० वर्षों की कहानी एवं परिस्थितियों का यथार्थ एवं विशद चित्र प्रस्तुत किया वहाँ रीतिकालीन प्रचलित साहित्यिक मान्यताओं का भी अनुसरण किया। उनके काव्य में ब्रजभाषा के लालित्य, छन्दविधान की सुन्दर योजना, अलंकार प्रियता, शृंगार रस का मर्यादित चित्रण, वीर रस का भव्य प्रदर्शन, बिम्ब-विधायिनी कल्पना शक्ति का अनुपम नृत्य, प्रकृति चित्रण की स्वाभाविकता आदि प्रतिबिम्बित हैं। इन के प्रातिभ संस्पर्शों को पाकर युगीन काव्य-कला भी सजीव बन गई है।

संकेताक्षर

१—गु० प्र० सू ग्रं० प्र०	गुरु प्रताप सूरज ग्रंथावली प्रस्तावना।
२—ना० प्र०	नानक प्रकाश।
३—रि०	रितु।
४—रा०	राशि।
५—पू० अध्य०	पूर्वार्द्ध अध्याय।
६—उत्त० अध्य०	उत्तरार्द्ध अध्याय।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शनकुमार जैन
हिन्दी विभाग,
डी० ए० वी० कॉलेज, जालन्धर
(पंजाब)

भाषा नाटकों में कृष्ण के विभिन्न रूप

१४वीं शताब्दी से लेकर १७वीं शताब्दी तक साहित्य में कृष्ण किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहे हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि इस काल में हिन्दी काव्य की धारा बड़े वेग से एक दूसरी दिशा में प्रवाहित होती हुई दृष्टिगोचर होती है। आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ गाने वाले कवि का स्वर मन्द होता है और बाह्य जीवन से विरक्त होकर अन्तर्मुख होने वाले कवि की स्वर-माधुरी सुनाई देती है। यह परिवर्तन मुसलमानी राज्य की स्थापना और राजपूतों की युद्ध में विफलता के कारण होता है। क्षत-विक्षत जनता के प्रतिनिधि कवि के लिए ऐसी स्थिति में शौर्य और पराक्रम की बात करना वस्तु स्थिति से मुंह मोड़ना था। अतः उसने वस्तुस्थिति को पहचान कर राम और कृष्ण भक्ति की बात कही।

काव्य में सूरदास, नंददास, मीरा आदि कवियों ने कृष्ण को अपनी भक्ति का आधार बनाया। बाललीला, माखनचोरी, कालिय दमन, रासलीला, कंसवध इत्यादि अनेक प्रसंगों को लेकर इन कवियों ने कृष्ण के नाना रूपों का चित्रण किया, जिसमें उन्हें भगवान के रूप में ही अधिक देखा गया। लेकिन रीतिकाल में परिस्थितियां बदलीं। कृष्ण का रूप भगवान का न रह गया। वह नायक बन गए और मुसलमानी शासकों की विलासी वृत्ति का प्रतिनिधित्व करने लगे। इस प्रकार सम्पूर्ण मध्यकाल में कृष्ण, कवियों के काव्य के नाना रूपों में अवलम्ब रहे।

दूसरी ओर भारत के अनेक भागों में अनेक भाषा नाटकों का निर्माण हुआ। ये नाटक मैथिली, असमियां और नेपाली भाषा में लिखे गए। इन नाटकों के अवलंब भी कृष्ण ही रहे अतः कृष्ण के विभिन्न रूपों का चित्रण इन नाटकों में भी किया गया। यह चित्रण भी कृष्ण भक्त कवियों के चित्रण की ही भाँति है। दूसरे शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि इस काल में एक ओर कविगण कृष्ण के चरित्र को लेकर काव्य-सृजन कर रहे थे तो दूसरी ओर नाटककार भी उनसे पीछे नहीं थे। दोनों ही विधाओं में कृष्ण विभिन्न रूपों में विद्यमान रहे। ऐसा क्यों हुआ ? तो इसका उत्तर भी स्पष्ट है कि साहित्य परिस्थितियों की उपज होता है। परिस्थितियाँ ही जनता की रुचि का निर्माण करती हैं और जनता का झुकाव भक्ति की ओर अधिक था अतः जनता की रुचि का साहित्य में प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही है। ज्योंही जनता की रुचि में परिवर्तन आया, साहित्य भी उत्तर मध्य-काल में परिवर्तित हो गया। यह परिवर्तन का क्रम हमें भाषा नाटकों में भी दिखाई देता है जिन पर हम आगे विचार करेंगे।

उमापति उपाध्याय, शंकरदेव, माधवदेव, रामचरण ठाकुर इत्यादि नाटककारों ने अपने भाषा नाटकों में कृष्ण के जीवन की अनेक घटनाओं को लेकर उनका चरित्र-चित्रण किया। अधिकांश स्थलों पर उन्हें भगवान के रूप में ही चित्रित किया गया है क्योंकि उनके नाटक उस काल लिखे गए हैं जब कवि लोगों को भगवान् कृष्ण की भक्ति का उपदेश दे रहे थे। जहां उन्हें भगवान् के रूप से कुछ हटकर चित्रित किया गया है वहाँ उनका रीति-कालीन रूप जहाँ झलकता है, वहाँ उनका मानवीय रूप भी दिखाई देता है। वे धीर, वीर, शौर्यवान, मृदु भाषी, दुष्टदलनकारी, पतित-उद्धारक, अच्छे मित्र और पत्नी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की 'फरमायश' पूर्ण करने वाले व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। कहीं-कहीं उनका कूटनीतिक रूप भी प्रकट हुआ है।

उमापति उपाध्याय विरचित पारिजात हरण नाटकम् (१३२५)[1] में कृष्ण को एक ऐसे पति के रूप में चित्रित किया गया है, जो अपनी मानिनी पत्नी की 'फरमायश' को पूर्ण करते हैं। अपनी पत्नी को मनाने के लिए वे सब कुछ करते हैं। यहाँ तक कि बड़ी-से-बड़ी शक्ति (इन्द्र) से भी युद्ध करते हैं ताकि पारिजात वृक्ष को प्राप्त किया जा सके। वे यहां योद्धा, वीर और पत्नी की 'फरमायश' पूर्ण करने वाले व्यक्ति के रूप चित्रित किए गए हैं, जो इन्द्र से युद्ध कर पारिजात वृक्ष को प्राप्त करते हैं ताकि सत्यभामा के मान को दूर किया जा सके।[2]

'कालिदमन नाटक' (१५१८)[3] के लेखक शंकरदेव हैं। लेखक ने यहाँ कृष्ण को ऐसे व्यक्ति के रूप में चित्रित किया है, जो लोगों के दुःखों को सहन न करते हुए कालिनाग (वाधा) को यमुना से दूर करते हैं, उसका मर्दन करते हैं तथा लोगों को उसके भय से मुक्त करते हैं।[4]

इसी नाटक में दूसरी घटना वन में अग्नि फैलने की है जिसे कृष्ण जी पी लेते हैं।[5] इस नाटक में कृष्ण के वीर रूप को ही अधिक प्रस्तुत किया गया है। बाधाओं को वीर व्यक्ति ही धैर्य पूर्वक पार कर सकता है। हाँ, दूसरी घटना कृष्ण को मनुष्य कम और भगवान् अधिक व्यक्त करती है क्योंकि अग्नि पान करना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं जान पड़ता। यह तो किसी परम पुरुष नारायण का ही कार्य है। अतः नंदनंदन मनुष्य नहीं। फिर नाटककार की अपनी श्रद्धा भी कृष्ण को मनुष्य रूप में न देखकर उसे भगवान् के रूप में ही देखती है। नांदी पाठ[6] तथा भरत वाक्य[7] भी कृष्ण को भगवान् रूप में ही प्रदर्शित करते हैं। कुछ भी हो कृष्ण को नाटक में धीर, वीर, दुष्टदमनकारी और अच्छे मित्र के रूप में ही चित्रित किया गया है, जो पर्याप्त प्रभावशाली बन पड़ा है।

शंकर देव के नाटक 'पत्नी प्रसाद'[8] में ब्राह्मण कृष्ण की भर्त्सना करते हैं पर उनकी पत्नियाँ पूजा करती हैं। अन्त में एक ब्राह्मण पत्नी की मृत्यु के कारण ब्राह्मणों के हृदय में परिवर्तन होता है। वे भी कृष्ण के भक्त बन जाते हैं। इसके पश्चात् वे कभी भी अपनी पत्नियों को कृष्ण की पूजा करने से नहीं रोकते। यहाँ कृष्ण को एक अच्छे मित्र और ब्राह्मण सुधारक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे गर्व में चूर ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान को नष्ट कर उन्हें सद्मार्ग पर लाते हैं। इस घटना (ब्राह्मण-पत्नी की मृत्यु) में उनका कूटनीतिज्ञ रूप भी परोक्ष रूप से उभरता है। नाटककार की नांदी[9] और भरतवाक्य[10] कृष्ण को भगवान् रूप में ही प्रकट करती है।

शंकरदेव के नाटक 'केलिगोपाल नाट' (१५४०)[11] में कृष्ण बाँसुरी बजा कर ब्रजनारियों के मन को मोहित करते हैं।[12] उनके काम को बढ़ाते हैं।[13] ब्रजनारियों के

१. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह सं० दशरथ ओझा, जगदीश चन्द्र माथुर, पृ० ४।
२. वही०, पृ० ७-२२।
३. अंकिया नाटक—विरंचि कुमार बरुआ, भूमिका, पृ० ३६।
४. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह (कालिदमन यात्रा) पृ० ४८-५८।
५. वही०, पृ० ५९।
६. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह (कालिदमन यात्रा) पृ० ४५।
७. वही०, पृ० ६३।
८. वही०, पृ० ६३ (पत्नी प्रसाद नाट) (वनी कांता काक्ती का मत)
९. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह (पत्नी प्रसाद नाटक) पृ० ६९।
१०. वही०, पृ० ७९।
११. वही०, पृ० ८५।
१२. वही०, (केलिगोपालनाट) पृ० ९१।
१३. वही०, पृ० ९९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान करने पर उनका त्याग करते हैं। पुनः काम-क्रीडा करते हैं। यक्ष का वध कर जल-क्रीडा आरम्भ करते हैं।[१] कृष्ण को यहाँ गोपियों के उद्धारक, यक्ष को मारने वाले वीर और काम-कीड़ा करने वाले सामान्य व्यक्ति के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।

'रुक्मिणी हरण' (१५१६)[२] नाटक भी शंकरदेव विरचित है। इसमें कृष्ण सन्देश वाहक द्वारा रुक्मिणी के अंग-प्रत्यंग के वर्णन को सुनकर विरहाकुल होने वाले, मिलने के लिए युक्तियाँ निकालने वाले, ब्राह्मणों का सम्मान करने वाले, रुक्मी को युद्ध में पराजित करने वाले, रुक्मी के केशों को मूँडने वाले तथा रुक्मिणी से विवाह करने वाले वीर, बुद्धिमान और अजय व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।[३] यद्यपि कृष्ण के साथ सम्बद्ध घटनाएँ उन्हें एक व्यक्ति के रूप में ही प्रस्तुत करती है तथापि नाटककार की नांदी उन्हें भगवान् रूप में ही प्रस्तुत करती है। नांदी पाठ में उनकी स्तुति की गई है। यह स्तुति वीर पुरुष की नहीं है अपितु भगवान् की है। स्थान-स्थान पर नाटककार की कृष्ण भक्ति उभर कर सामने आती है। कई स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि नाटककार अवश्य ही महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षित है। कुछ भी हो कृष्ण में वे सब गुण इस नाटक में दिखाए गए हैं, जो एक योग्य और वीर व्यक्ति में होने चाहिए।

'पारिजात हरण नाटक' के रचयिता शंकरदेव हैं। इस नाटक में भी ठीक वैसी ही कथा है जैसीं उमापति उपाध्याय के 'पारिजात हरण नाटकम्' में। नाटक की नांदी और भटिमा भी लगभग वैसी ही है। हाँ, यहाँ कुछ घटनाएं और नियोजित की गई हैं, जो उस नाटक में नहीं हैं। नरकासुर राक्षस का उत्पात,[४] भगवान् का उसके मस्तक को काटना, सोलह सहस्र कन्याओं को मुक्त करना,[५] इन्द्र से युद्ध और पारिजात वृक्ष की प्राप्ति[६] इत्यादि घटनाएँ ही कृष्ण के चरित्र को विकसित करती हैं। वे वीर, दुष्ट दलनकारी और अबलाओं के रक्षक के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। नाटककार का आग्रह कृष्ण भक्ति पर अधिक है।

'अर्जुन भंजन यात्रा' (१५३८)[७] माधवदेव विरचित है। कृष्ण जी को ऊखल से बाँधा जाता है। वे उसे खींचते यमलार्जुन वृक्ष के बीच से निकलते हैं जो जोर के कारण टूट जाते हैं।[८] यहाँ वे जिद्दी स्वभाव के नटखट बालक हैं।

'चोर धरा झुमरा' माधवदेव का नाटक है, जिसमें कृष्ण की माखन चोरी का वर्णन है।[९] नृत्य और स्तनपान का भी वर्णन है।[१०] कृष्ण के बाल प्रसंगों का वर्णन है। कृष्ण की चालाकी, गोपियों को तंग करना, माता यशोदा को दुःखी करना इत्यादि वही बातें हैं। उल्लेखनीय नवीनता नहीं है।

'भूमि लुटिया झुमरा' तथा 'पिघरा गुचुरा झुमरा' दोनों ही माधव देव के नाटक हैं। यहाँ कृष्ण की बाल-लीलाओं का, चालाकी का, कृत्रिम विलाप का और गोपियों से छेड़छाड़ का वर्णन है।[११] नाटकों में कोई उल्लेखनीय नवीनता नहीं है।

'भोजन विहार झुमरा' में गौओं और सखाओं के चले जाने पर कृष्ण की उदासी का वर्णन है। 'ब्रह्मा मोहन झुमरा' में भयभीत सखाओं की रक्षा का, 'रास झुमरा' में राधा द्वारा कृष्ण से अधरपान का वर्णन है। 'कोटोरा

१. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह, कैलिगोपाल नाट, पृ० ११३-११६।
२. वही०, पृ० ११३१।
३. वही०, (रुक्मिणी हरण नाटक), पृ० १५२-१७३।
४. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह (पारिजात हरण नाटक) पृ० २०२।
५. प्राचीन भाषा नाटक संग्रह (पारिजात हरण नाटक) पृ० २१३।
६. वही०, पृ० २२२-२२५।
७. वही०, पृ० २६६।
८. वही० पृ० २८३-२८५ (अर्जुन भंजन यात्रा)।
९. वही० (चोरीघरा झुमुरा) पृ० २९६।
१०. वही० पृ० २९७-३००।
११. वही पृ० ३०८-३२२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झुमुरा' में राधा को राह जाते रोकने का और 'कंस बध नाटक' में कंस के वध का वर्णन किया गया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन भाषा नाटकों में कृष्ण को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है। कहीं वे नटखट और चालाक बालक हैं, तो कहीं माता यशोदा को तंग करने वाले उत्पाती। कहीं वे गोपियों को चकमा देते हैं तो कहीं वृक्षों को समूल उखाड़ते हैं। कभी वे सखाओं की रक्षा करते हैं, तो कभी गोपियों को मार्ग में रोककर नवनीत माँगते हैं। कभी वे गोपियों के साथ काम क्रीड़ा करते हैं तो कभी उन्हें विरह-व्यथित करते हैं। कभी वे गोपियों को एकाकी छोड़कर दुःखी करते हैं,तो कभी उन्हें दर्शन सुखी करते हैं। कभी वे मित्रों को भय मुक्त करते हैं, तो कभी गोपियों की रक्षा करते हैं। कभी वे ब्राह्मणों की आलोचना सुनते हैं तो कभी नारद की वन्दना करते हैं। कभी वे नवनीत के लिए नृत्य करते हैं तो कभी अपनी पत्नी की 'फरमायश' पूरी करते हैं। कभी वे इन्द्र के साथ गले मिलते हैं तो कभी उसे युद्ध में पराजित करते हैं। कभी वे मल्लयुद्ध में मल्लों को पराजित करते हैं तो कभी कालिनाग का मर्दन करते हैं। कभी वे दुष्ट असुरों का वध करते हैं तो कभी सोलह हजार कन्याओं को बन्दीगृह से मुक्त करते हैं। कभी वे जनता के कल्याणार्थ कंस का वध करते हैं तो कभी रासलीला में मग्न हो जाते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाटककारों ने कृष्ण के नाना रूपों का कुशलता पूर्वक चित्रण किया है। इस चित्रण में अनेक घटनाओं और प्रसंगों की सृष्टि की गई है। और संभवतः यही कारण है कि कृष्ण के चरित्र में अनेकरूपता है। कृष्ण के नाना रूप उन्हें मनुष्य ही अधिक सिद्ध करते हैं। यदि नांदी और भरत वाक्यों में नाटककारों की श्रद्धा और कृष्ण भक्ति को एक ओर कर दिया जाए, तो वे प्रायः सभी नाटकों में एक ऐसे व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें परिस्थितियों के अनुरूप उत्साह, धैर्य, वीरता, बुद्धिमत्ता, मित्रता, वाक्-चातुरी, योग्यता इत्यादि के गुण-जागृत होते हैं। कुल मिला कर मध्यकालीन भाषा नाटकों में कृष्ण विभिन्न रूपों में बड़ी ही कुशलता के साथ प्रस्तुत किए गए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० पुष्पपालसिंह
हिन्दी विभाग,
मोदी कॉलिज, पटियाला
(पंजाब)

आधुनिक हिन्दी काव्य के विभिन्न युग और उनके नामकरण की समस्या

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु जी के आगमन के समय से ही हिन्दी कविता में आधुनिकता का जन्म हुआ है। पाश्चात्य सम्पर्क से समाज में जो नवीन चेतना आई, साहित्य (और काव्य) में उसी के परिणाम-स्वरूप एक नवीन जीवन-दृष्टि के दर्शन होते हैं। यह नवीन जीवन-दृष्टि ही भारतेन्दु और उनके समकालीनों की कविता को रीति या श्रृंगार काल की कविता से अलग करती है। भारतेन्दु युग की कविता नई चेतना से स्पन्दित होते हुए भी अपने को रीति युग की काव्य-चेतना से पूर्णतः विमुक्त नहीं कर पाई है। किन्तु इस काल की उपलब्धि काव्य को नई चेतना से स्पन्दित करने में ही है और इस ओर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने जो प्रयत्न किए उन्हीं के कारण इस युग को 'भारतेन्दु युग' कहा जाता है। हिन्दी काव्य में नवीनता का पूर्ण आलोक बीसवीं शती के प्रारम्भ से ही हुआ और इस समय तक ही हिन्दी काव्य अपने को रीति-संस्कारों से पूर्णतः मुक्त कर पाया। बीसवीं शती के प्रथम दो दशाब्दों में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी जी ने हिन्दी कविता को नवीन दिशा-निर्देश प्रदान किए और उनके द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' उस समय की काव्य-चेतना की प्रतिबिम्ब बन गई। इसी कारण आधुनिक हिन्दी काव्य का यह समय 'द्विवेदी युग' के नाम से जाना जाता है। इससे आगे के काव्य को 'छायावाद युग' और तदनन्तर 'प्रगतिवाद युग' माना जाता है। प्रगतिवाद के कुछ बाद 'प्रयोगवाद' और प्रयोगवाद के पश्चात् 'नई कविता' का समय है। इस आधार पर आधुनिक हिन्दी कविता के विकास-क्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता रहा है—

भारतेन्दु-युग
↓
द्विवेदी युग
↓
छायावाद युग
↓
प्रगतिवाद युग
↓
प्रयोगवाद युग
↓
नयी कविता युग

नई कविता के पश्चात् भी कुछ लोग कविता को 'साठोत्तरी कविता', 'अकविता', 'सजग कविता', 'सहज कविता' आदि नामों से पुकारते हैं किन्तु हम सन् साठ के बाद की कविता को भी 'नयी कविता' ही मानते हैं। युग की परिवर्तित परिस्थितियों के कारण जीवन में जो परिवर्तन आए हैं, युग-बोध से सम्पृक्त नयी कविता उन्हीं को वाणी दे रही है किन्तु विभिन्न नामों के झण्डे के नीचे कुछ लोग 'अगुआबाजी' और 'सरताजी' के पीछे पड़कर नारेबाजी में उलझे हुए है। वास्तविकता यही है कि सन् साठ के पश्चात् की कविता नई कविता की ही एक विशिष्ट भंगिमा है।

किन्तु काव्य के विकास-क्रम को उपर्युक्त रूप में देखने से कुछ बातें बड़ी खटकने वाली लगती हैं। प्रथम तो काव्य के इतिहास के दो युगों को तो विशिष्ट व्यक्तियों के नाम पर 'भारतेन्दु युग' और 'द्विवेदी युग' कह रहे हैं किन्तु बाद के काव्य में कोई एक विशिष्ट व्यक्ति पहले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो युगों के प्रस्थापक नेताओं के समान प्रभावशाली रूप में सामने नहीं आता या इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि छायावाद युग की कवि-त्रयी-प्रसाद, पंत, निराला—समान रूप से ही प्रभावशाली है। इसलिए छायावाद युग को एक व्यक्ति विशेष के नाम पर नहीं पुकारा जा सकता और ऐसी ही स्थिति प्रगतिवाद की है। प्रयोगवाद या नई कविता में अवश्य ही अज्ञेय जी एक शलाका पुरुष के समान हैं किन्तु नई कविता के नेतृत्व के लिए समय-समय पर अन्य लोगों के नाम भी लिए जाते रहे हैं। कुछ भी हो साहित्य के इतिहास में नामकरण का एक ही आधार होना चाहिए, कुछ युगों को व्यक्ति विशेष के नाम पर और कुछ को वादों के आधार पर नाम देना वैज्ञानिक नहीं है। उपर्युक्त विकास-क्रम में एक दोष यह भी है कि एक युग की काल-सीमा निश्चित कर लेने से हम यह मान लेते हैं कि विशिष्ट प्रकार की कविता एक समय विशेष के पश्चात् प्राप्त नहीं होती है जबकि कविता के इतिहास में कोई भी धारा न एकाएक आविर्भूत होती है और न ही एकदम विलुप्त हो जाती है, जैसे कि प्रगतिवादी और प्रयोगवादी धाराएँ बहुत सयय तक समानान्तर गति से चलती हैं। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने एक लेख 'छायावादोत्तर नई छायावादी कविता'[1] में यह विवेचित करने का प्रयास किया है कि छायावाद के पश्चात् अधुनातन कविता तक में छायावादी प्रवृत्तियाँ किस प्रकार अनुस्यूत हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि कविता के इतिहास को वादों के कालखण्ड में बाँटकर समुचित रूप से अध्ययन का विषय नहीं बनाया जा सकता।

आधुनिक हिन्दी कविता को उपर्युक्त युगों में रखकर देखने में एक बड़ा भारी दोष यह भी है कि इन युगों में आधुनिक काल की समस्त कविता को नहीं अँटाया जा सकता है। इन वादों की धारा से मुक्त एक स्वतन्त्र धारा मिलती है, स्पष्ट है जिसकी दो शाखाएं हैं—प्रथम पौराणिक विषयों से सम्बन्धित प्रबन्ध धारा जिसे 'मिथक की प्रबन्ध धारा' भी कहा जा सकता है और दूसरी-गीति-काव्य धारा। इसलिए आधुनिक हिन्दी कविता के विकास के अध्ययन का कोई समुचित आधार खोजना आवश्यक है।

कुछ समय पूर्व अज्ञेय जी ने 'दिनमान' में एक टिप्पणी में[1] यह प्रश्न उठाया था कि आधुनिक कविता के प्रारम्भिक युगों को 'भारतेन्दु युग' और 'द्विवेदी युग' कहना कहाँ तक समीचीन है? उन्होंने यह नहीं कहा कि हम इन काव्य युगों को इन नामों से अभिहित न करें, उनकी मान्यता है कि "'द्विवेदी युग' नाम सही है या नहीं, इस प्रश्न के अन्तिम उत्तर का महत्त्व उतना नहीं है, जितना प्रश्न को सही सन्दर्भ में रख देने का। अगर नाम गलत भी है, तो क्यों वह दिया जा सका यह पूछने से ही हिन्दी साहित्य की एक अर्धशती के कृतित्व का एक चित्र सामने आता है, और उसकी परवर्ती अर्धशती के सम्भाव्य कर्त्तव्यों की एक रूपरेखा भी बन जाती है।[2] इस नामकरण के प्रति शंका उठाते हुए भी आप इन युगों को, विशेषतः 'द्विवेदी युग' को इन्हीं नामों से पुकारा जाना उचित समझते हैं। अज्ञेय जी की मुख्य शंका यह है कि "साहित्य के एक युग को हम उस युग की मुख्य धारा या किसी नवोदित वाद के साथ न जोड़ें—जो कि साधारण 'वैज्ञानिक' या 'ऐतिहासिक' प्रवृत्ति होती—न ही उस युग के महान् कवि या कृतिकार के साथ जोड़ें बल्कि एक सम्पादक के साथ जोड़ें।...लेखक-कृतिकार के नाते उनकी प्रतिभा दूसरे दर्जे की ही मानी जा सकती है; ऐसी वह कदापि नहीं है कि उसकी उपलब्धियों के आधार पर एक समूचे युग के कृतित्व का नाम उनके नाम के साथ जोड़ा जा सकता—या जोड़ने की बात भी किसी को सूझती।"[3] इसी प्रकार अज्ञेय जी भारतेन्दु जी की प्रतिभा को भी दूसरे दर्जे की ही मानते हुए आगे कहते हैं "भारतेन्दु मुख्यतया कवि थे, द्विवेदी मुख्यतया

१. 'धर्मयुग' साप्ताहिक, जनवरी १९७० के दो अंकों में प्रकाशित लेख।

१. 'दिनमान' 'कुछ युग चिंतन' शीर्षक टिप्पणी, २८ मार्च १९७१ अंक।
२. वही।
३. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गद्यकार; इस अर्थ में दोनों अपने-अपने युग के युगीन थे, युग-निर्माता या प्रवर्त्तक नहीं।"[१] अज्ञेय जी ने स्वयं अपने प्रश्नों का उत्तर दिया है। 'द्विवेदी युग' के नाम को सम्पादक के नाम के आधार पर आप इसलिए संगत मानते हैं क्योंकि "इस युग में ही वास्तव में हिन्दी साहित्य ने पूरी तरह से छपाई का तर्क स्वीकार किया, साहित्य की मौखिक परम्परा से टूटकर, बढ़कर, विकसित होकर वह मुद्रण की परिधि में आ गया—आधुनिक हो गया।" वे आगे कहते हैं "भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग इसलिए भी क्रमशः भारतेन्दु और द्विवेदी के हैं और रहेंगे कि हिन्दी साहित्य को आधुनिक युग में प्रविष्ट और प्रतिष्ठित करने का काम इन दोनों साहित्य-तन्त्रियों ने किया।"[२] इस प्रकार अज्ञेय जी अपने उठाये गए प्रश्नों का समाधान स्वयं ही कर देते हैं किन्तु साहित्य के प्रबुद्ध अध्येता को सोचने के लिए विवश करते हैं कि आधुनिक हिन्दी काव्य को वैज्ञानिक आधार पर किन युगों अथवा कालों में रखकर अध्ययन किया जा सकता है।

आधुनिक हिन्दी कविता के विकास-क्रम को विभिन्न युगों में रखकर देखने से पूर्व युगों के विभाजन और नामकरण का कोई वैज्ञानिक और तर्क-संगत आधार खोजना आवश्यक है जिसके आधार पर समस्त कविता का अध्ययन हो सके। आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्ति आधुनिकता या नवीन चेतना है। इस नवीन चेतना से परिचित होकर काव्य में जितने भी आंदोलन हुए, कविता ने जितने भी नूतन मोड़ पाये, उनमें 'छायावाद' का सर्वप्रमुख स्थान है। हमारे विचार से 'छायावाद' आधुनिक हिन्दी कविता की सर्वाधिक प्रमुख और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसने आगे के काव्यांदोलनों के लिए भूमि प्रशस्त की, यद्यपि इस प्रस्थापना में वैमत्य हो सकता है कि छायावाद आधुनिक हिन्दी कविता की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टि से देश को स्वतन्त्रता मिलना आधुनिक समय की बहुत बड़ी घटना है। अतएव छायावाद और देश को स्वतन्त्रता-प्राप्ति, इन दो आधारों पर हम आधुनिक हिन्दी कविता के विकास-क्रम का अध्ययन इस प्रकार कर सकते हैं—

१. छायावाद पूर्व युग—सन् १८५८ से १९२० ई०
२. छायावाद युग —सन् १९२१ से १९३६ ई०
३. छायावादोत्तर युग—सन् १९३७ से अद्यतन
इस काल के दो विभाग—
क. स्वातंत्र्य पूर्व युग—
१९३७ से १९४७ ई०।
ख. स्वातंत्र्योत्तर युग—
१९४७ से अद्यतन।

आधुनिक युग की प्रारम्भिक सीमा १८५८ ई० इसीलिए रखी गई है कि देश प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के पश्चात् ईस्ट इण्डिया कम्पनी जैसी व्यापारिक संस्था के शासन से मुक्त होकर इंगलैण्ड की महारानी के शासन में आ गया और स्वतन्त्रता आंदोलन के पश्चात् इस समय से देश तूफान के बाद की सी शान्ति अनुभव करने लगता है। इस समय से ही देश के जनजीवन में नवीन चेतना स्पन्दित होने लगती है। साहित्य क्षेत्र में भारतेन्दु के आगमन से इस नवीन चेतना को उचित दिशा प्राप्त हो जाती है। यहाँ एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि साहित्य या काव्य के इतिहास में एक-दो वर्षों का समय विशेष महत्त्व नहीं रखता है। छायावादी शैली की कविताएँ १९२१ ई० से पहले से ही प्राप्त होने लगती हैं किन्तु इस समय तक छायावादी आंदोलन पूरी तरह प्रतिष्ठित हो चुका था और कविता की गतिविधियों की बागडोर महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के हाथ से छायावादी कवियों के हाथों में आ जाती है। १९३६ ई० में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' के प्रथम अधिवेशन ने छायावादी आंदोलन को करारा प्रहार दिया और इस समय से छायावाद युग का अन्त माना जा सकता है, एवं १९३७ ई० से अद्यतन अवधि को काव्य का छायावादोत्तर युग कहा जा सकता है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट कर देनी होगी कि छायावाद-पूर्व-युग, छायावाद-युग एवं छायावादोत्तर युग नामों से आधुनिक हिन्दी कविता की नव-

१. वही।
२. वही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चेतना, नूतन प्रवृत्तियों की ओर भी संकेत होता है।

यहाँ एक समस्या रह जाती है, हमने ऊपर डॉक्टर रामविलास शर्मा के 'छायावादोत्तर नई छायावादी कविता' जिस लेख की चर्चा की है उसमें उन्होंने जिस छायावादी काव्य को विवेचित किया है, उसे छायावादोत्तर-युग के साहित्य में रखकर कैसे देख सकते हैं? उक्त लेख में डॉ० रामविलास शर्मा ने जो कविताएँ उद्धृत की हैं वे अज्ञेय, भारती, गिरिजाकुमार माथुर, शकुंत माथुर, जगदीश गुप्त आदि की ही कविताएं हैं। कहना न होगा कि ये समस्त कवि नई कविता के समर्थ कवियों में से हैं। इनकी 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'आँगन के पार द्वार', 'शिलापंख चमकीले', 'नाव के पंख, जैसे नई कविता के सुपरिचित संग्रहों से उद्धृत कविताओं को हम छायावादी कविताएँ नहीं मान सकते। इन कविताओं के भाव-बोध और शिल्प में विद्वान् लेखक ने छायावादी वृत्ति को ही विश्लेषित किया है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि नई कविता ने विरासत में मिले शिल्प आदि का प्रयोग कर उसे विकसित किया है, ऐसी स्थिति में शिल्प आदि में **'छायावादी जैसी'** ('ध्यान रहे छायावाद की ही नहीं, 'छायावाद जैसी') कुछ प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत हो जाती हैं तो उन्हें छायावादी कविता नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त नामकरण को स्वीकार कर लेने पर प्रत्येक युग के अन्तर्गत प्राप्त कविता की समस्त प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जा सकता है; उदाहरणार्थ छायावाद युग में प्रबन्ध काव्यों की जो पौराणिक धारा विद्यमान रही है उसका अध्ययन भी हो सकेगा। इसी प्रकार प्रत्येक युग की जितनी भी प्रवृत्तियाँ और धाराएँ हैं, उन सबका अध्ययन किया जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नन्दकिशोर यादव
हिन्दी विभाग,
आर० डी० एण्ड डी० जे० कॉलिज,
मुंगेर, (बिहार)

काव्य-बिम्ब का स्वरूप

काव्य-बिम्ब प्रतिबिम्बन की क्षमता से परिपूर्ण है। यह प्रायः रूपक और उपमा का मध्यवर्त्ती है। इसका एक छोर यदि स्थूल दृश्य है तो दूसरा सूक्ष्म और अनुभवगम्य संवेदन। इस दृष्टि से बिम्ब मूर्त्तामूर्त्त स्वरूपी प्रतीत होता है। उसकी प्रकृति पदार्थात्मक भी है और गुणात्मक भी; किन्तु गुणात्मक होने पर भी उसका स्वरूप अमूर्त्त न होकर मूर्त्त ही है। मूल रूप में बिम्ब का यह स्वरूप काव्य की रचना-प्रक्रिया में निहित है। इसकी यात्रा संवेदन से अभिव्यंजन तक की यात्रा है।

कार्ल ग्रूस ने बिम्ब को संवेदन और प्रत्यय के मध्य की प्रकृति कहा है। उनके अनुसार चेतना के दो ध्रुवों, संवेदन (सेंसिविलीटी) और प्रमा (इनटेलेक्ट) के बीच अनेक मध्यन्तर स्तर हैं। इनमें एक सहजानुभूति या अति कल्पना है। बिम्ब इसी का उत्पाद्य है।[1]

बिम्ब का स्वरूप गठन साक्षात्कारात्मिका साधारणीकृत प्रतीति एवं विसर्जकता-मूलक प्रतीति दोनों से होता है। एक जीवनेच्छारूपा है तो दूसरी मरणेच्छारूपा। बिम्ब दोनों की एकत्र प्रस्तुति एवं प्रतीति है।[2]

बिम्ब सामान्य का नहीं होकर विशेष का होता है। प्रत्यक्ष ऐन्द्रियबोध से संबद्ध होने के कारण उसका विषय विशेष ही है: विशेष व्यक्ति, विशेष वस्तु, विशेष स्थान। इस प्रकार बिम्ब सामान्यभिव्यक्ति का निरास करता है।[1] सी. डी. लिविस के अनुसार बिम्ब का स्वरूप कविता में दर्पणों के विभिन्न कोणों के अनुक्रम जैसा है, जिससे कि जैसे-जैसे कथानक प्रगति करता है वह विविध पहलुओं से उन बिम्ब-दर्पणों में प्रतिफलित होता चलता है। यही नहीं वे बिम्ब जादुई भी हैं, क्योंकि वे न केवल कथानक की छाया प्रस्तुत करते हैं अपितु उन्हें जीवन्त और रूपमय भी बनाते हैं। उनमें आत्मा को दृश्य बनाने की शक्ति है।[2]

रेनेवेलेक और आस्टिन वारेन ने बिम्ब के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मुख्यतः उसे दो रेखाओं का मिलन कहा है: १. ऐन्द्रिय वैशिष्ट्य और २. अलंकृति[3]। इसके लिए वेलेक और आस्टिन ने चार्ल्स मोरिज के निम्नलिखित कथन को प्रमाण मानते हुए अपने विवेचन का आधार माना है:

"वन इज सेंसुअस पार्टिकुलेरिटी ऑर द सेनसुअस ऐन एइसथेटिक कोन्टिनम ह्विच कनेक्ट्स पोइट्री विथ म्यूजिक एण्ड पेंटिंग ऐण्ड डिसकनेक्ट्स इट फ्रॉम फिलॉसफी ऐण्ड साइंस। द अदर इज फिगरेशन और

१. बिम्ब विधान: एक सैद्धान्तिक पर्यवेक्षण—डॉ० शिवनन्दन प्रसाद, भागलपुर विश्वविद्यालय पत्रिका, मानविकी (हिन्दी), १९६९, खण्ड २, अंक १ के पृष्ठ ६६ पर उद्धृत।
२. वही, पृष्ठ ७०।

१. टु प्रेजेन्ट एन इमेज (हेन्स द नेम इमेजिस्ट······वी बिलीव द पोइट्री शुड रेन्डर पार्टिकुलर्स एक्जेक्टली ऐण्ड नॉट डील इन वेग जेनरेलिटीज। द इमेजिस्ट मूवमेंट: एस. के. काफमैन, पृष्ट २९।
२. पोइटिक इमेज: सी. डी. लिविस, पृष्ठ ८०।
३. थियरी ऑफ लिटरेचर: रेनेवेलेक एण्ड आस्टिन वारेन, पृ० १८६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ट्रोपोलोजी—द 'ओबलिक' 'डिसकोर्स' ह्विच स्पीक्स इन मेंटोनिन्स ऐण्ड मेटाफर्स पार्शिअली कम्पेयरिंग वर्ड्स प्रिसाइजिंग इट्स थीम्स वाय गिविंग देम ट्रांसलेशन्स इन टु अदर इडियम्स।"[1]

बिम्ब के स्वरूप के घटक तत्त्व :

बिम्ब-विषयक परिभाषाओं की मीमांसा से बिम्ब का स्वरूप गठित करने वाले मूलभूत तत्त्वों पर प्रकाश पड़ता है। ये तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

१. शब्दार्थ २. चित्रकला ३. ऐन्द्रियता ४. साम्य तुलनात्मकता ५. अनुभति और भावावेग तथा ६. कल्पना और अलंकृति।

शब्दार्थ :—

सामान्यत: प्रत्येक सार्थक शब्द अपने-आप में बिम्ब होता है, किन्तु शब्द के निरन्तर गोचर प्रयोग से यह बिम्ब लुप्त हो जाता है। फलत: कवि को शब्दार्थ में नए बिम्ब गर्भित करने पड़ते हैं। काव्य-बिम्ब ऐसा कभी नहीं हो सकता, जिसका शब्दार्थ नहीं हो। यह दूसरी बात है कि बिम्बपरक शब्दार्थ में बिम्ब का ग्रहण पहले और शब्दार्थ का ग्रहण बाद में होता है। काव्य-बिम्ब के अन्तर्गत शब्द रूपकात्मकता होती है। शब्द की अभिधा, व्यंजना एवं लक्षणा तीन प्रमुख शक्तियाँ हैं। शब्दों के माध्यम से कृतिकार अपने भावों को प्रभावशाली बना पाता है। लक्षणा और व्यंजना का यह चमत्कार महत्त्वपूर्ण है। काव्यशास्त्र की लक्षणा एवं व्यंजनामूलक भाषा जब अत्यन्त सुष्ठु हो पाती है, तब बिम्ब का स्वरूप और भी खुलकर प्रकट होता हैं और अत्यन्त हृदयग्राही लगने लगता है। बिम्ब का मूर्त्त या अमूर्त्त स्वरूप केवल शब्दों के द्वारा ही सुन्दर या असुन्दर बन पाता है। शब्दार्थ में भी बिम्ब वाक्य के संज्ञा, विशेषण और क्रिया में सप्राण होता है। वाक्य के वैशिष्ट्य को संज्ञा की अपेक्षा क्रियापद और विशेषण निर्विवाद रूप में व्यंजित करते हैं। क्रिया के बिम्ब से गत्यात्मक स्वरूप का और विशेषण से उसकी विलक्षणता का द्योतन होता है। शब्दार्थ के बिना काव्य-बिम्ब का कोई स्वरूप नहीं है, क्योंकि काव्य स्वत: 'शब्दार्थौ सहितम्' है।

२. चित्रात्मकता :—

चित्रात्मकता बिम्ब का स्वरूप गठन करने वाला एक अनिवार्य तत्त्व है; क्योंकि बिम्ब को शब्दचित्र माना जाता है। बिम्ब के आचार्यों ने विम्ब की चित्रधर्मिता को विशेष महत्त्व दिया है। इस दृष्टि से बिम्ब में रूपतत्त्व का प्राधान्य है। बिम्बवादी एजरा पाउण्ड के द्वारा बिम्ब को 'चित्रीय पुन: प्रस्तुतीकरण' नहीं कहने पर भी अन्याय विचारकों ने बिम्ब को एक प्रकार का चित्र घोषित किया है। हिन्दी में डॉ० नगेन्द्र की भी यही प्रतिष्ठापना है।[1] बिम्ब विधान का सामान्य अर्थ तो प्राय: काव्य में चित्रात्मकता का विधान है। छायावादी कवियों ने स्वयं इसके लिए 'चित्र-विधान' शब्द का ही व्यवहार किया है। निराला ने काव्य में श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट चित्र-विधान के लिए तीन गुणों की अवस्थिति आवश्यक बतलायी है — भाव, चित्र और शब्दचयन।[2] पंत ने इसी चित्रात्मकता के आधार पर चित्रभाषा का स्वरूप स्थिर किया है :

"कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेव की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर छलक पड़े, जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि में आँखों के सामने चित्रित कर सके, जो झंकार में चित्र और चित्र में झंकार हो।"[3]

एडिथ रिकर्ट का मत है कि बिम्ब में मानसिक चित्रा-

१. साइंस लैंग्वेज ऐण्ड बिहेवियर (न्यूयार्क, १९४६) : चार्ल्स मोरिज पृ० १२३।

१. काव्य-बिम्ब : डॉ० नगेन्द्र, पृष्ठ ५।

२. छायावादी काव्य : डॉ० कृष्णचन्द्र वर्मा, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्रथम संस्करण, १९७२, पृष्ठ ३६६।

३. पल्लव : पंत, सातवाँ संस्करण, १९६३ (राजकमल) प्रवेश, पृष्ठ ३०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्मकता अधिक होती है,[1] क्योंकि बिम्ब कवि के अन्तर्तम के गूढ़ कक्षों, चेतन-अचेतन विचार-परम्पराओं, अभिरुचियों एवं भावात्मक प्रतिक्रियाओं का उद्‌घाटक होता है। उदाहरण के लिए 'रामचरितमानस' की दो अर्द्धालियाँ लें :—

भूमि परत भा ढाबर पानी।
जनु जीवहिं माया लपटानी॥
—किष्किन्धा : १३-३१

यहाँ पृथ्वी पर पड़ते हुए पानी के लिए जीवों से लिपटती हुई माया का बिम्ब उपस्थित किया गया है। एक 'लपटानी' क्रिया अद्‌भुत ढंग से हमारे सामने जीव से माया को लिपटने का चित्र खींच देती है। यहाँ अरूप भाव का बिम्ब-विधान किया गया है, जो मूर्त्त न होने के कारण मानसिक है। इस पर मानसिकता को जागतिक वस्तुमत्ता 'लपटानी' क्रिया ही प्रदान करती है। इस संदर्भ में 'रामचरितमानस' की कुछ और पंक्तियाँ लेकर हम बिम्ब के स्वरूप-विश्लेषण में चित्रात्मकता का मूल्यांकन कर सकते हैं :—

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि।
कहत लखन सन राम हृदयँ गुनि॥
मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।
मनसा बिस्व-बिजय कहँ कीन्ही॥
अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा।
सिय मुख ससि भए नयन चकोरा॥
भए बिलोचन चारु अचंचल।
मनहुँ सकुचि निमि तजे दिगंचल॥
देखि सीय सोभा सुखु पावा।
हृदयँ सराहत बचन न आवा॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई।
बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई॥
सुंदरता कहुं सुंदर करई।
छबिगृहँ दीपसिखा जनु बरई॥
'मानस'—बाल : २२९ : १ से ४ चौपाई

इन पंक्तियों में स्पष्ट चित्रात्मकता है और चित्रों में एक क्रमबद्ध शृंखला है। यहाँ ऐन्द्रियता आदि वैशिष्ट्यों के साथ-साथ चित्रात्मकता का वैशिष्ट्य प्रबल और महत्त्वपूर्ण है, जिसके कारण यह पूरी चित्रात्मकता बिम्ब बन जाती है।

काव्य बिम्ब के अन्तर्गत चित्रात्मकता उसका अनिवार्य गुण है चाहे उसे हम जिस किसी रूप में बिम्ब की परिधि में स्वीकार करें। यह कविता का एकमात्र शाश्वत गुण है, जो उससे कभी नहीं छूटता।[1] कविता में कही बात चित्र रूप में हमारे सामने आनी ही चाहिए;[2] क्योंकि कविता अन्ततः मानव-हृदय की चित्रमयी और कलात्मक अभिव्यक्ति है।[3] इस चित्रात्मकता में कलाकार द्वारा रचित चित्र से अधिक विशेषता होती है। चित्र तो कलाकार निर्मित बनावटी रचना है, किन्तु बिम्ब मानस में उद्‌बुद्ध प्राकृतिक रचना, जिसकी भास्वर और प्रत्यग्र किरणें शब्दार्थ में प्रस्फुट होती हैं।

ऐन्द्रियता :—

बिम्ब में ऐन्द्रियक सौन्दर्यात्मक सातत्य होता है। बिम्ब सीधा चक्षु, घ्राण, स्पर्श, श्रवण एवं आस्वादन-सम्बन्धी इन्द्रियों से सम्पर्क रखता है। हमारी मानस-प्रतिमाएँ उसके सन्निकर्ष से उद्वेलित होती हैं। यह बिम्ब

१. न्यू मोड ऑफ द स्टडी ऑफ लिटरेचर : एडिथ रिकर्ट, पृष्ठ २७।

१. चक्रवाल : भूमिका (उदयाचल, १९५७, रामधारी सिंह दिनकर), पृष्ठ ७२।
२. चिन्तामणि, भाग २ : रामचन्द्रशुक्ल।
३. (क) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, वाल्यूम-१८; टी. डब्ल्यू डंटन, पृष्ठ १०६।
(ख) कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। स्कन्दगुप्त : जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ २१।
(ग) ए पोएम इज लाइक ए पिक्चर और टु ट्राय टू बी लाइक ए पोएम…ए पिक्चर इज आफ़्न साइलेंट पोएट्री, ऐण्ड पोएट्री ए स्पीकिंग पिक्चर।
लिटरेरी क्रिटिसिज्म : ए शार्ट हिस्ट्री, पृष्ठ २६४ पर उद्धृत।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का वस्तुनिष्ठ ऐन्द्रिय सन्निकर्ष है। इसके कारण ही बिम्ब काव्य में सामान्य वर्णन से विशिष्ट होकर व्यवहृत होता है। रिचर्ड हार्टर फोगल ने बहुत सच लिखा है कि मनोवैज्ञानिकों एवं आलोचकों की दृष्टि में काव्य-बिम्ब आँख, कान, नाक, रसना के जरिये उपलब्ध ऐन्द्रिय अनुभूतियों की अभिव्यंजना है। कविता में बिम्ब इस विशिष्टता के साथ इनका चित्रण करते हैं जिनसे मूल संवेदनाओं को यथासंभव वास्तविकता तथा विस्तार के साथ पाठकों को पहुँचाया जा सके।[1]

हिन्दी में कुमार विमल ने भी बिम्ब को सौन्दर्यशास्त्र, कलाविवेचन और काव्यालोचन की दृष्टि में ऐन्द्रिय प्रभाव अथवा संवेदन की मानसी प्रतिलिपि अथवा प्रतिकृति माना है।[2] बिम्ब के कई भेदोपभेदों के मूल में भी यही ऐन्द्रियता है। ऐन्द्रिय संवेदनाओं के आधार पर ही वेगोद्रेक, गत्वर, आंगिक और जैव बिम्ब उद्भूत होते हैं। शीत-ताप परक, सहसंवेदनात्मक बिम्ब आदि का भी आधार ऐन्द्रियता ही है। किन्तु आइ० ए० रिचर्ड्स ने बिम्ब की ऐन्द्रिय विशेषताओं का खण्डन किया है। वे बिम्ब में ऐन्द्रियता के अति महत्त्व के पक्षपाती नहीं हैं। उनके शब्दों में "बिम्बों की ऐन्द्रिय विशेषताओं को सदा से बहुत महत्त्व दिया जाता रहा है। बिम्ब अपनी स्पष्टता के कारण उतने प्रभावशाली नहीं होते जितने किसी मानसी घटना एवं विशेषतः संवेदन से जुड़े होने की प्रकृति के कारण होते हैं। अपनी ऐन्द्रियता में भी इनको प्रभावशालिता तभी प्राप्त होती है जब ये स्वतः संवेदन के अवशेष या प्रतिकृति होते हैं।"[3] यहीं बिम्ब के स्वरूप को उपस्थित करने वाला एक दूसरा तत्त्व हमारे सम्मुख आता है, जिसे हम सादृश्य और तुलनामूलक दिशा कह सकते हैं। रेनेवेलेक के शब्दों में,—

१. द इमेजरी आफ कीट्स ऐण्ड शेली : रिचर्ड हार्टर फोगल, चैपेलहिल, १९४९, पृष्ठ ३।
२. सौन्दर्यशास्त्र के तत्त्व : डॉ० कुमार विमल, राजकमल प्रकाशन, १९६७, पृष्ठ २११।
३. प्रिंसिपुल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म, लंदन, १९२०, अध्याय १६ : "कविता का विश्लेषण"।

"फ्राम इमेजेज ऐज द वेस्टीजिअल रिप्रेजेंटेटिव्स ऑफ सेनसेसन्स वी मूव विथ इन्स्ट्रक्टिव-ईज टु द सेकेण्ड लाइन ह्विच रन्स थ्रू आवर होल एरिया-दैट ऑफ एनोलाजी ऐण्ड कम्पेरीजन।"[1]

ऐन्द्रियता बिम्ब को ठोस की तरह एक स्पष्ट उभार प्रदान करती है। यह ऐन्द्रियता काव्य-बिम्ब का मूल उपकरण तत्त्व हैं।[2]

४. साम्य तुलनात्मकता :—

साम्य-वैषम्यमूलकता बिम्ब का वहाँ बंधान बाँधती है, जहाँ बिम्ब 'चित्रात्मक प्रतिकृति' मात्र रहने से अस्वीकार कर बैठते हैं। इसके अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यंजक रूप कहीं बिम्ब की क्रिया में, तो कहीं विशेषण में, कहीं क्रिया-विशेषण में तो कहीं संज्ञा में निहित होते हैं। बिम्ब वाक्यांश, वाक्य और वाक्यों में सर्वत्र प्राप्त हो सकता है। ये बिम्ब की शिराएँ हैं, जिनमें सूक्ष्म और व्यंजक अप्रस्तुत के माध्यम स्पन्दन आता है, एवं स्फूर्ति प्राप्त होती है। प्रसिद्ध बिम्बवादी एजरा पाउण्ड ने बिम्ब को बुद्धि और भावना-विषयक जटिल तंत्र को क्षणमात्र में प्रस्तुत कर देने वाले असदृश विचारों का युगपत् एकीकरण कहा है।[3] यहाँ तुलनात्मकता को निरूपित करने वाले बिम्ब के स्वरूप की उपस्थापना की गई है।

५. अनुभूति और भावावेग :—

बिम्ब स्वरूपतः भावावेगमय होता है। यह जब तक किसी शक्तिशाली आवेग या तद्रूप विचार से विशेषित नहीं होता तब तक यह सही अर्थ में प्रतिनिधित्व नहीं करता। आवेग साहित्य एवं ऐतिहासिक विवरण के बीच का व्यावर्त्तक तत्त्व माना गया है। आवेगहीन इतिहास

१. थियरी ऑफ लिटरेचर : पेंग्विन बुक, १९६८ संस्करण, पृष्ठ १८७।
२. छायावादी काव्य : डॉ० कृष्णचन्द्रवर्मा, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, प्रथम संस्करण, १९७२, पृ० ३६४।
३. मेक इट न्यू : एजरा पाउण्ड, १९३४, पृष्ठ ३६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में तटस्थता होती है, किन्तु भावावेग-संवलित काव्य में बिम्बमयता। बिम्बनिर्माण की प्रक्रिया को जब आइ० ए० रिचर्ड्स 'अर्द्धअन्धविश्वासमयी पद्धति' कहते हैं तब उनका अभिप्रेत बिम्ब के उस स्वरूप को ही उद्घाटित करना होता है जिसकी रचना में भावावेश से भरे क्षणों की प्रक्रिया चलती है। वस्तुतः तब हम अर्द्धचेतनावस्था में होते हैं और एक बार उस बहुमूल्य अनुभूति, राग या आवेग के प्रतिबिम्बित हो जाने के बाद जीवन में वह क्षण फिर कभी नहीं आता। टी० एस० इलिएट ने बिम्ब-निर्माण के स्वरूप के इस राग-ऋद्ध आनुभूतिक भावावेग को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "बिम्ब निर्माण के स्वरूप की आंशिक उपलब्धि कवि के अध्ययन से भी होती है। बिम्ब का सहज आविर्भाव उसके बाल्यकाल से साम्प्रतिक जीवन तक के समस्त संवेदनशील संपुंज में से होता है। न जाने क्यों हमारे दृष्ट, श्रुत और अनुभूत जीवनायाम से कुछ विशिष्ट एवं निश्चित बिम्ब ही भावोच्छ्वास से भरकर उभरते हैं? एक चिड़िया का गीत, एक मछली की उछाल, एक फूल की गंध, जर्मनी के पार्वत्य-पथ से उतरती हुई एक वृद्धा, फ्रांस के किसी छोटे से रेलवे स्टेशन पर खुली खिड़की से दृष्ट ताश खेलते छह आवारे: इन सभी स्मृतियों का प्रतीकात्मक मूल्य हो सकता है, पर इनके विषय में हम कुछ कह नहीं सकते; क्योंकि ये किन्हीं गहरी अनुभूतियों के उपलक्षण बनकर आए हैं। इनके भीतर झांक सकने की सामर्थ्य हमारे पास नहीं है।[1]

बिम्ब सचमुच कवि को अपनी आकस्मिक उद्भूति में भाविक तथा वैचारिक जटिल युग्म से अनुप्राणित कर देता है। बिम्ब का रंजन आनुभूतिकता तथा भावात्मकता के ही कारण होता है। स्मृति में आई हुई अनुभूतियाँ बिम्ब बन जाती हैं। इन पूर्वानुभवों को बिम्ब का उपादान माना जा सकता है। स्वतः स्मृतियाँ कभी बिम्ब नहीं होती हैं और न वे बिम्ब की निर्मायिका ही होती हैं। पर बिम्ब कवि की अनुभूतियों और स्मृतियों का प्रकाशक है।

कॉलरिज ने भी कवि की मौलिक प्रतिभा के प्रमाणक बिम्ब का स्वरूप स्पष्ट करते हुए इसी पक्ष पर अधिकाधिक अवधान दिया था। उसके अनुसार बिम्ब स्वरूपतः १. किसी प्रबल रागानुभूति द्वारा अनुशासित, २. रागासंग द्वारा निर्वाहित, ३. संश्लिष्ट प्रभान्विति के लिए उद्भावित एवं ४. कवि की आत्मा द्वारा उद्भासित होता है।[1] यहाँ बिम्ब के रागमय, अनुभूतिप्रवण, आवेगनिष्ठ भावमहिम स्वरूप की ही स्थापना की गयी है।

६. कल्पना और अलंकृति :—

कल्पना बिम्ब को स्फुटता, बहुवर्णिता एवं दिक्कालिता से अतिरिक्त बनाती है, बिम्ब को दार्ढ्यगुण देती है, तीसरे आयाम तक प्रसारित करती है एवं रंग-बोध में तीव्रता लाती है। कल्पना बिम्ब को शीघ्र उभारती है तथा उसे दीर्घस्थायिता देती है। स्मृति को भी कल्पना ही बिम्ब में रूपायित करती है। इसके द्वारा बिम्ब में प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। इसीलिए बिम्ब को अद्वय-प्रतीति भी कहा है।

कल्पना बिम्ब में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का विलयन कर देती है। इसीलिए अलंकृति बिम्ब का स्वाभाविक अवयव है। डॉ० जगदीशचन्द्र गुप्त के शब्दों में बिम्ब में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का अन्तर अनुभूतियों की सम्पन्नता में तिरोहित हो जाता है।[2] सी० डी० लिविस भी इसलिए बिम्ब को एक सीमा तक रूपकात्मक अथवा लक्षणागर्भित घोषित करते हैं।[3] यहाँ यह अवधान देने योग्य है कि बिम्ब का स्वरूप तभी आलंकारिक है जब अलंकार काव्य में बाहर से किन्हीं उपकरणों को नियोजित करते हुए भी काव्यानुभूति के साथ गहन सम्बन्ध स्थापित कर रहा हो। बिम्बों की आलंकारिक

१. सेलेक्टेड प्रोज : सम्पादक, जान हेवार्ड, पृष्ठ ६५।

१. बायग्राफिया लिटरेरिया : लंदन, जे० एम० डेन्ट ऐण्ड सन्स लिमिटेड, १९६०, पृष्ठ १७७।

२. नई कविता : सम्पादक डॉ० जगदीशचन्द्र गुप्त, १९६३-६४, अंक ७, पृ० २०२।

३. 'एवरी पोइटिक इमेज देअरफोर इज टु सम डिग्री मेटाफोरिकल द पोइटिक इमेज : सी० डी० लिविस, पृ० १८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वरूपता की यह सबसे बड़ी शर्त है।[1] कल्पना में सर्जनात्मक कल्पना तो काव्य-बिम्ब का करण-तत्त्व ही है।

वस्तुतः उच्च कोटि का बिम्ब-विधान कवि की उत्कृष्ट कल्पनाशीलता तथा उसकी कारयित्री-प्रतिभा की अपेक्षा रखता है। बिम्ब अभिधा, लक्षणा, व्यंजना सबको अपने स्वरूप में अन्तर्भुक्त कर लेता है।

यह बिम्ब का स्वरूप-विस्तार ही है कि इसके बुद्धि-जन्य भाषिक प्रकारों में शब्द-शक्तियाँ एवं औक्तिक प्रकारों में स्वभावोक्तियाँ, वक्रोक्तियाँ तथा रसोक्तियाँ आ जाती हैं। क्षेत्र की दृष्टि से बिम्ब का स्वरूप अत्यन्त प्रसारित-विस्तृत है। काव्य-बिम्ब नक्षत्रपरक, प्रकृतिपरक, पशुपरक, सर्पपरक, मत्स्यपरक, पक्षीपरक, पौधापरक, पदार्थपरक, कीटपरक, वृक्षपरक, फलपरक, पुष्पपरक, धातुपरक, यन्त्रपरक, रोगपरक, अस्त्र-शस्त्रपरक, वर्ण-गंधपरक, मनुष्यपरक आदि हो सकते हैं। इसकी सम्भावनाएँ अनन्त हैं। इस दृष्टि से बिम्ब प्रकृत्या सम्पूर्ण जागतिक इयन्ता का प्रतिबिम्बन करता है।[2]

बिम्ब के क्रियात्मक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि कभी-कभी बिम्ब अपनी एकल निहंगता में स्तवःपूर्ण नहीं होता। उसके साथ व्यक्त या अव्यक्त रूप से एक पूरा परिवेश ही होता है।[3] उदाहरण के लिए 'मानस' के पुष्पवाटिका-प्रसंग की 'देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहचाने।।' चौपाई से एक बिम्ब तो अवश्य प्रत्यक्ष होता है, पर यह अपने आप में सम्पूर्ण बिम्बक न होकर आनुषंगिक ही रह जाता है; क्योंकि इस बिम्ब के साथ एक पूरा परिवेश जुड़ा हुआ है। पर जब हम इस परिवेश का साक्षात्कार कर लेते हैं तब बिम्ब सिद्ध हो जाता है। इस परिवेश को उसी प्रसंग की सातत्यक्रममयी अगली पंक्तियां स्पष्ट करती है :

थके नयन रघुपति छबि देखें।
पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें।।
अधिक सनेह देह भै भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी।।
लोचन मग रामहि उर आनि।
दीन्हें पलक कपाट सयानी।

'मानस"—बाल : २३१—२ से ४ चौपाई

बिम्ब के स्वरूप में परिवेश की इस मालामयता का ठाठ महत्त्वपूर्ण है। प्रो० क्लेमन ने इसीलिए लिखा है कि एक सन्दर्भच्युत बिम्ब केवल अधूरा बिम्ब है। प्रत्येक बिम्ब और प्रत्येक रूपक बिना अपने पूर्ण परिवेश और सन्दर्भ के जीवन्त और अर्थवान् नहीं हो पाता।[1]

———

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में अप्रस्तुत विधान : डॉ० नरेन्द्रमोहन, नेशनल प्रकाशन, १९७२, पृष्ठ ६०।
२. नई कहानी की भाषा : पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु', कल्पना, नवलेखन विशेषांक १, अगस्त-सितम्बर, १९६९, पूर्णांक २१०, पृष्ठ १८५-१८६।
३. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान का विकास : डॉ० केदारनाथ सिंह, १९७१, पृष्ठ २२।

१. एनेलिसिस ऑफ इमेजरी : पी० एम० एल० ए०, १९४२, पृष्ठ ६४९।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोरमा उपाध्याय
हिन्दी विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर (राजस्थान)

बिम्ब : पुनर्विचार

बिम्ब अंग्रेजी शब्द 'इमेज' का हिन्दी रूपान्तर है। आधुनिक समय में इसका प्रयोग काव्य-कला के रूप में होता है। सामान्यतः बिम्ब शब्द का प्रयोग किसी वस्तु, स्थिति, घटना या पात्र की अनुपस्थिति में भी बिम्ब विधान द्वारा इनका मानस साक्षात्कार होता है। यह मानस साक्षात्कार अंशतः धूमिल, सूक्ष्म व सांकेतिक होता है। हमारे प्राचीन काव्य सिद्धान्तों में अलंकारों का विधान है, इन अलंकारों से भी अधिक बिम्ब में सांकेतिकता होती है। बिम्ब की यही सादृश्येतर (कुछ और) शक्ति उसे अलंकारों से अधिक काव्योपयोगी बना देती है। उदाहरण के लिए आचार्य कुन्तक जगत को 'विचित्र-चित्रकर्म' की संज्ञा देते हैं। शिव अपनी अर्न्तनिहित शक्ति से जिस अद्भुत सृष्टि की रचना करते हैं, उसे जगत् कहते हैं।[1] शिव की सृष्टि के समान ही कवि कविता में 'विचित्रचित्र कर्म' से कविता की सृष्टि करता है। बिम्ब विधान इसी 'विचित्रचित्रकर्म' का पर्याय है। इस विस्तृत दृष्टिकोण से देखने पर बिम्ब अलंकारों के वृत्त में समाहित हो जाते हैं। सामान्यतः उपमा, रूपकादि अलंकार भी किसी दृश्य या वस्तु का बिम्ब ही प्रस्तुत करते हैं। कालिदास की काव्य क्षमता मेघदूत और शाकुन्तलम् के माध्यम से अलंकारों के समीप होते हुए भी बिम्बात्मक है।

आधुनिक कविता में 'बिम्ब' शब्द का प्रयोग अधिक

१. जगतत्रितयवैचित्र्यकर्मविधायिनम्
शिवशक्तिपरिस्पन्दमात्रोपकरणनुमः
—वक्रोक्तिजीवितम्, आचार्य कुन्तक

हुआ है। सामान्यतः बिम्ब प्रतिच्छाया, प्रतिछवि या अनुकृति आदि रूपों में प्रयुक्त होता है। बिम्ब को किसी वस्तु की छाया, अनुकृति, सादृश्य और समानता के रूप में माना है।[1] 'बिम्ब' को प्रतिच्छाया के अर्थ में भी माना है।[2] साहित्यकोष में बिम्ब को मानस प्रतिमा कहा है।[3] बिम्ब शब्द की व्यापकता का प्रमाण हमें दर्शन, साहित्य तथा मनोविज्ञान के अध्ययन से मिल जाता है कि यह शब्द बहुत व्यापक है। मानव मस्तिष्क में वर्तमान परिवेश से हटकर भी कुछ दृश्य अथवा वस्तु घटना आदि की प्रतिमाएँ रहती हैं। बिम्ब इन्हीं का पुनः मानस साक्षात्कार कराता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक थार्नडाइक ने बिम्ब को भावात्मक बोध कहा है।[4] 'एक पदार्थ के लिए किसी ऐसे मूर्त अथवा अमूर्त्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान हो अथवा उसे व्यंजित करता है।'[5] इसी प्रकार—स्मृति अथवा कल्पना में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिचित्र जिसका दृष्टि बोध आवश्यक नहीं।'[6]

१. न्यू इंगलिश डिक्शनरी
२. "Images are representation or likeness of an animate and inanimate object." Encyclopaedia Britannica. Vol. 14, Page 328.
३. साहित्यकोष, धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ५१४
४. Element of Psychology, Thorndike, Page 43.
५. वेन्टर्स थर्ड न्यू इन्टरनेशनल डिक्शनरी
६. चैम्बर ट्वैन्टिएथ सेन्चुरी डिक्शनरी, विलियम जेवी डब्लू. आर. [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक अन्य—किसी पदार्थ का मानसिक प्रतिबिम्ब।[1] यह मानसिक साक्षात्कार केवल चाक्षुष नहीं होता वरन् स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, भी हो सकता है। डा० नगेन्द्र ने अनेक अर्थों का संकलन किया है—

'किसी पदार्थ का मनश्चित्र या मानसी प्रतिकृति, कल्पना अथवा स्मृति में उपस्थित चित्र अथवा प्रतिकृति, जिसका चाक्षुष होना अनिवार्य नहीं है···एक पदार्थ के लिये किसी ऐसे मूर्त्त अथवा अमूर्त्त पदार्थ का प्रयोग जो उसके अत्यधिक समान ही अथवा उसे व्यंजित करता हो, जैसे मृत्यु के लिए निद्रा का प्रयोग। मनोविज्ञान में 'इमेज' से अभिप्राय किसी ऐसे प्रत्यक्ष अनुभव की स्मृति से है, जिसका, परवर्ती अनुभव के द्वारा रूपान्तर हो जाता है और जिसमें अन्तर्मनोवैज्ञानिक तथा बहिर्मनोवैज्ञानिक उद्दीपन द्वारा उद्बुद्ध बौद्धिक एवम् रागात्मक तत्त्व अन्तर्भुक्त रहते हैं। वह संग्राहक यंत्र पर अंकित उद्दीपक पदार्थ की प्रतिच्छवि का पर्याय है।[2]

भारतीय काव्य-शास्त्र के अलंकार तथा मनोविज्ञान दोनों ही बिम्बविधान में पदार्थ की मानसिक प्रतिच्छवि पर बल देते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में उदाहरण तथा निदर्शना अलंकारों की परिभाषाओं में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त 'चित्र' को भारतीय आचार्य 'प्रतिच्छवि' के रूप में ही प्रयुक्त करते थे। अतएव चित्रकर्म या प्रतिच्छवि कर्म ही कवि कर्म हैं। जो हो रहा है या जो है, उसकी मानसिक प्रतिकृति प्रस्तुत करना ही कला है। शिवसूत्रविमर्शिनी में 'कला' शब्द की व्याख्या में कहा गया है कि कवि वस्तुओं में आत्मा को परिमित रूप में प्रकट करता है। वह यह 'कलन कार्य' रूपावेश की स्थिति में प्रकट करता है अर्थात् अविष्ट स्थिति में स्वरूप गोपन होता है। स्वरूपस्थिति (समाधि) में कला की सृष्टि नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में कवि मानसिक धरातल पर रहता है। शुद्ध ज्ञान या कैवल्य की दशा में नहीं। मानसिक धरातल पर भेद बुद्धि रहती है। इदम् अहम् का ज्ञान रहता है, अपनी कर्तृ शक्ति का बोध उपस्थित रहता है। इस 'स्थिति' में 'अहम्' का मनन होता है। बुद्धि द्वारा अहम् के मनन से चमत्कार होता है और कला ऐसा ही चमत्कार है। कला का अर्थ क्षेप, ज्ञान, संख्यान, गति और नाद है। क्षेप का अर्थ है—बहिर्उल्लानम्।[1]

इस प्रकार कला का सम्बन्ध, मानव मन के साथ है। मानव मन की अविष्ट दशा में वर्ण्यविषय के साथ तन्मयीभाव में कवि देखे हुये या भोगे हुये विषय का मानसिक साक्षात्कार करता है। वह 'चित्र कर्म' (बिम्ब विधान) द्वारा विषयों की प्रतिच्छवियाँ रचता हैं, उन्हें अपने आत्मपरामर्श (स्वचिन्तन) और आत्मस्पन्दन के साथ अभिव्यक्त करता है। अतएव उसका 'चित्र कर्म' मात्र अनुभूति नहीं होता। वह मात्र सादृश्य भी नहीं होता, वह सादृश्य होने पर भी 'कुछ और' या अनिर्वचनीय हो जाता है। अनिर्वचनीय होने का अर्थ यह है कि काव्य बिम्बों या चित्र कर्मों में मानव संवेदनों, स्मृतियों, चिरसाहचर्य जन्य मनः स्थितियों तथा धारणाओं के प्रत्यूहों को, एक साथ जाग्रत करने की शक्ति होती है। अतएव बिम्बों से वर्ण्य वस्तु का स्पष्ट साक्षात्कार ही नहीं होता मनोदशाओं अर्थों और अभिप्रायों की एक शृंखला चल पड़ती है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इस प्रक्रिया को घंटानादजन्य झंकारों के समान बताया है। मानसिक दशाओं और गूढ़ाशयों की ये झंकारें एक के बाद एक उत्पन्न होती चली जाती हैं और वे एक बार नहीं, काव्य के पुनः-पुनः पाठ से वे हर बार नई गूंजों को जन्म देती हैं। अतएव वे मात्र अनुभवगम्य होती हैं, इसी दृष्टि से उन्हें अनिर्वचनीय कहा जाता है।

जिस कवि के बिम्बों में वर्ण्य विषय की प्रतिच्छवि जितनी अधिक होती है, वह कवि उतना ही कुशल माना जाता है। साधारण अलंकारों में (मुख चन्द्र के समान

१. शार्टरी डिक्शनरी ऑफ इन्डिया
२. काव्य बिम्ब—डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६७ पृष्ठ ३

१. कलयति स्वरूपमावेशयति वस्तुनि वा तत्र तत्र प्रमातीर कलनमेव कला, दृष्टव्य-शैवदर्शन और सौन्दर्यशास्त्र, जलते उबलते प्रश्न—डॉ० वि० ना० उपाध्याय, पृष्ठ १३७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है) सादृश्य तो होता है पर ध्वन्यात्मकता बहुत कम होती है। अतएव आनन्दवर्द्धन ने सामान्य अलंकारों से भिन्न 'अलंकार ध्वनि' की धारणा प्रस्तुत की थी। काव्यबिम्ब 'अलंकार ध्वनि' के वृत्त में ही आते हैं।

काव्य बिम्बों की पाश्चात्य धारणाओं में वर्ण्यविषय के अन्तर्गत 'आन्तरिक सादृश्य' पर बहुत बल दिया है। बिम्बवादी आन्दोलन के जनक टी० ई० ह्यूम भी बिम्ब का कार्य पदार्थों के आन्तरिक सादृश्य की प्रस्तुति मानता है।[1] काव्यबिम्ब में दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य 'ऐन्द्रियता' का है। काव्यबिम्ब शब्द, अर्थ, रूप, रस, गन्ध की अनुभूति अवश्य जाग्रत करते हैं। तीसरी बात यह है कि बिम्ब पदार्थ और गुण (अमूर्त्त भाव तथा सत्यादि) दोनों को 'मूर्त्त' रूप में प्रकट करते हैं। अतः स्थूल और सूक्ष्म दोनों का मूर्ति विधान, काव्य बिम्बों द्वारा होता है। बिम्ब-विधान बिम्बात्मक शब्दार्थ द्वारा भी होता है, स्वतन्त्र मूर्त्ति विधान या प्रतिमा संरचना द्वारा भी। बिम्ब कवि की मानसिक शक्ति (सूक्ष्म राग+संवेदन+कल्पना) का प्रतिफल है।

काव्यबिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की अनुभूति रहती है।[2]

बिम्ब में ऐन्द्रियता और सौन्दर्यपरकता की निरंतरता (कन्टीनुअम) रहती है जो कविता को संगीत और चित्रकला से जोड़ देती है, और दर्शन और विज्ञान से पृथक करती है। मनोविज्ञान के बिम्बविधान में, किसी पदार्थ की मानसिक पुनः प्रस्तुति पर अधिक बल दिया है किन्तु साहित्यिकों ने ऐन्द्रियता तथा पुनः प्रस्तुति तथा पुनः प्रस्तुति के साथ सौन्दर्यपरकता की निरन्तरता को भी बिम्ब का लक्षण माना है।[3]

१. काव्य बिम्ब —डॉ० नगेन्द्र पृष्ठ ५
२. वही, पृष्ठ ५
३. इमेज सैंसुअल एण्ड ईस्थैटिक कंटीनुअम व्हिच कनैक्टस् पोइट्री विद म्यूजिक एण्ड पेन्टिग एण्ड डिसकनैक्टस फ्राम फिलॉसफी एण्ड साइन्स
—प्रिन्सीपल ऑफ क्रिटीसिज्म-वैलेक एण्ड वारेन

आई० ए० रिचर्डस् के अनुसार बिम्ब की प्रमुख विशेषता वर्ण्यवस्तु की यथावत प्रस्तुति नहीं है। उनके अनुसार बिम्ब को प्रमुखतः मानसिक घटना के रूप में समझा जाना चाहिए। यह मानसिक घटना 'विचित्र विधि' से ऐन्द्रिय-संवेदन से जुड़ी रहती है।[1]

इग्लैण्ड में बिम्बवाद टी० ई० ह्यूम और उनके शिष्य एजरा पाउन्ड के नाम से जुड़ा है। बिम्बवादियों के कई संग्रह (१९१४-१९१७) प्रकाशित हुये। १९०८ में कुछ कवियों ने कवि क्लब की स्थापना की थी। इसमें जापानी 'तंका' और 'ह्वैका' पद्धति की संक्षिप्त कविताओं के सादृश्य पर कविताएँ लिखी गयीं। इनमें विवरण, सिद्धान्तवादिता, अलंकृति से बचकर वर्ण्यवस्तु अतिसंक्षिप्त शब्दों में मूर्त्तिमान करने का प्रयत्न हो रहा था। ह्यूम के अनुसार वर्ण्य वस्तु के 'भावात्मक' वर्णन के स्थान पर उसका युक्ति-युक्त बिम्बन होना चाहिए। प्रत्येक शब्द, मूर्तिमय या बिम्बात्मक हो।[2]

ह्यूम बिम्बविधान में यथातथ्यता (एक्यूरेसी) को बहुत महत्त्व देता है। बिम्ब को देखकर मूल वस्तु का शुद्ध, सटीक और संवेदनात्मक साक्षात्कार होना चाहिए। एजरा पाउण्ड के अनुसार बिम्ब वह है जो एक बौद्धिक और भावात्मक मिथित मूर्ति को चेतना में प्रस्तुत करे।[3] एजरा पाउण्ड दार्शनिक और वर्णनात्मक कविताओं से दूर रहने का उपदेश देता है। लम्बी कविता में उत्तेजना देर तक नहीं चलती, शिथिलता आ जाती है। अतः बिम्बवादी काव्य में प्रथम भावों और प्रभावों (इमीडियेट इमोशसं) का चित्रण अधिक है, स्थायी भावों का नहीं।

१. इमेज सैंसुअल एण्ड ईस्थैटिक कंटीनुअम व्हिच कनैक्टस् पोइट्री विद म्यूजिक एण्ड पेन्टिग एण्ड डिसकनैक्टस फ्राम फिलॉसफी एण्ड साइन्स।
—प्रिन्सीपल ऑफ क्रिटीसिज्म-वैलेक एण्ड वारेन
२. आधुनिक हिन्दी कविता
—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृष्ठ ५७३
३. एन इमेज इज दैट, व्हिच प्रैजेन्ट्स एन इन्टैलैक्चुअल एण्ड इमोशनल काम्प्लेक्स इन एन इन्सटैन्ट आफ टाइम—एजरा पाउण्ड

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिम्बवादी शुद्ध कविता की खोज में थे। क्षणिक उत्तेजना तक ही वे स्वयं को सीमित रखते थे और इस क्षण विशेष में प्राप्त संवेदना को वह 'मूर्ति' को जन्म देने वाले शब्दों में बाँधने का प्रयोग करते थे।

बिम्बवाद में तर्क और अन्वितियुक्त लेखन के स्थान पर प्रतीक और मनोविज्ञान की 'साहचर्य पद्धति' का प्रयोग हुआ। प्रयोगवाद और नयी कविता में यह प्रवृत्ति अधिक मिलती है। अज्ञेय, शमशेरबहादुरसिंह, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, विजयदेव नारायण साही, लक्ष्मीकान्त, कुँअरनारायण आदि कवियों पर इस बिम्ब का बहुत प्रभाव पड़ा है। नए-नए बिम्बों और संक्षिप्त अभिव्यक्तियों का यह काव्य पारम्परिक काव्य के प्रचलन से भिन्न है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रमाकान्त शर्मा
हिन्दी विभाग,
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर

आचार्य शुक्ल की मनोव्यापारात्मक दृष्टि

मनोव्यापारात्मक दृष्टि—

आलोचना-मानों की प्रस्थापना में मनोव्यापारात्मक दृष्टि का प्रयोग शुक्ल-समीक्षा की अपनी विशेषता रही है। इन्होंने काव्य को हृदय का व्यापार माना है और इसी हृदय-तत्त्व को लेकर काव्य की परिभाषा, प्रयोजन, लक्षण, रस और साधारणीकरण आदि विषयों पर विचार किया है। शुक्ल-पूर्व हिन्दी समीक्षा में इस मनोव्यापारात्मक दृष्टि का अभाव-सा था। वस्तुतः शुक्लजी की यह अपनी मौलिक दृष्टि है, जिस पर कुछ सीमा तक पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र का प्रभाव देखा जा सकता है। संस्कृत-काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने केवल स्थूल काव्यांगों को महत्त्व दिया था, उसकी अंतः प्रक्रिया और उसके मानसिक पक्ष पर इतना बल नहीं दिया था।

काव्य-परिभाषा—

शुक्लजी ही प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य-परिभाषा में स्थूल काव्यांगों को महत्त्व न देकर मनोव्यापार को महत्त्व दिया है। शुक्ल-पूर्व संस्कृत आचार्यों ने जो काव्य-विषयक अनेक परिभाषाएँ दी थीं, उनमें शब्दार्थ, शब्द या वाक्य को ही काव्य कहा गया था—यथा

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्[1]

तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृतिपुनः क्वापि[2]

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्[3]

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्[4]

उपर्युक्त काव्य-विषयक परिभाषाएँ काव्य के बाह्य पक्ष की ओर संकेत करती हैं। शुक्लजी ने काव्य को वाणी से हटा कर मनःस्थिति पर केन्द्रित किया तथा काव्य का सम्बन्ध हृदय की मुक्तावस्था से जोड़ा—"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञानदशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं।"[5]

इस परिभाषा में भी 'शब्द-विधान' का उल्लेख हुआ है किन्तु ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ 'शब्द-विधान' गौण है, हृदय की मुक्तावस्था के प्रयत्न का ही प्राधान्य है।

काव्य-लक्षण—

काव्य-लक्षण पर विचार करते हुए शुक्लजी ने 'रमणीयता' शब्द को अधिक महत्ता दी है। वस्तुतः कविता हृदय को रमाने का कार्य करती है जिसका सम्बन्ध भावनाओं और अनुभूतियों से है। रमणीय-तत्त्व का सम्बन्ध भी हृदय-व्यापार अथवा मनोव्यापार से है, इसलिए यहाँ भी शुक्लजी की वही मनोव्यापारात्मक दृष्टि का परिचय मिलता है। शुक्लजी ने काव्य-प्रयोजन पर विचार करते हुए कहा है कि काव्य का लक्ष्य तो एक सहृदय की अनुभूति को दूसरे सहृदय तक पहुँचा देना ही

१. भामह, काव्यालंकार।
२. मम्मट, काव्य प्रकाश।
३. जगन्नाथ, रसगंगाधर।
४. विश्वनाथ, साहित्य दर्पण।
५. चिन्तामणि (भाग-१), ले० रामचन्द्रशुक्ल, १४१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। शुक्लजी परम्परित काव्य-प्रयोजनों को अधिक महत्व नहीं देते, जैसे यश, अर्थ, व्यवहार, शिवेतरक्षतये आदि।[१] वे तो काव्य का चरम् लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना मानते हुए कहते हैं—"कविता मनुष्य के हृदय को व्यक्तिगत् सम्बन्ध के संकुचित मण्डल से ऊपर उठाकर लोक सामान्य भावभूमि पर ले जाती है, जहाँ जगत के नाना रूपों और व्यापारों के साथ उसके प्रकृत सम्बन्ध का सौन्दर्य दिखाई पड़ता है।"[२] हृदय को लोक सामान्य भूमि पर ले जाना ही मनोव्यापारात्मक संकेत है, जहाँ सहृदय स्व-पर की भावना से निर्मुक्त होकर काव्यास्वाद का आस्वादन करता है।

रस और साधारणीकरण सम्बन्धी मान्यतायें—

जिस प्रकार शुक्लजी ने स्थूल काव्यांगों को महत्त्व नहीं दिया, उसी प्रकार उन्होंने स्थूल रसाँगों को भी महत्ता न देकर उसके मानसिक पक्ष का उद्घाटन किया है। शुक्लजी विभाव, अनुभाव और संचारियों की गिनती गिना देने को 'रसनिष्पत्ति' संज्ञा से अभिहित करना युक्ति संगत नहीं मानते। इन्होंने रस का मनोवैज्ञानिक धरातल पर अध्ययन किया और सर्वप्रथम हृदय और मस्तिष्क की भूमिकाओं के सम्बन्ध से रस पर विचार कर निर्णय दिया कि हृदयवाद ही रसवाद है[३] और हृदय की मुक्तावस्था ही रसदशा है।[४] साथ ही शुक्लजी का यह कहना कि लोक हृदय में हृदय के लीन होने की दशा का नाम रस दशा है,[५] उनके मनोव्यापारात्मक दृष्टिकोण का परिणाम है।

'साधारणीकरण' की परिभाषा देते हुए शुक्लजी ने साधारणीकरण की प्रक्रिया और सहृदय पर पड़ने वाले

१. मम्मट-काव्य प्रकाश—
"काव्यम् यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये, सद्यःपरिनिर्वृतये कान्तासम्मित तयोपदेश युजे।"
२. चिन्तामणि (भाग-२) ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृ०-४६
३. अभिभाषण—पृष्ठ-४३
४. रसमीमांसा (प्रथम संस्करण) ले० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ—५
५. वही—पृष्ठ २६६

प्रभाव की ओर ही विशेष रूप से विचार किया है। यद्यपि शुक्ल-पूर्व आचार्यों ने रस के विभिन्न अवयवों के साधारणीकृत होने की बात कही थी किन्तु शुक्लजी ने ही सर्वप्रथम मनोविज्ञान के प्रकाश में आलम्बनत्व धर्म के साधारणीकृत होने की बात कही। 'साधारणीकरण' की परिभाषा देते हुए शुक्लजी ने कहा है कि—"साधारणीकरण का अभिप्राय यह है कि पाठक या स्रोता के मन में जो व्यक्तिविशेष या वस्तुविशेष आती है, वह जैसे काव्य में वर्णित 'आश्रय' के भाव का आलम्बन होती है, वैसे ही सब सहृदय पाठकों या श्रोताओं के भाव का आलम्बन हो जाता है।"[१]

× × × × इससे सिद्ध हुआ है कि साधारणीकरण आलम्बनत्वधर्म का होता है। व्यक्ति तो विशेष ही रहता है; पर उसमें प्रतिष्ठा ऐसे सामान्य धर्म की रहती है जिसके साक्षात्कार से सब श्रोताओं या पाठकों के मन में एक ही भाव का उदय थोड़ा या बहुत होता है।"[२]

शुक्लजी की इसी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि को उनकी व्यावहारिक समीक्षा में भी देखा जा सकता है। वे जब किसी कवि अथवा साहित्यकार की आलोचना करते हैं उस समय प्रत्येक तथ्य की गहराई तक पहुँचने की उनकी प्रवृत्ति रहती है। किसी घटना अथवा प्रसंग विशेष से चित्त पर कैसा प्रभाव पड़ता है? सहृदयों की संवेदनाओं को वे कितना झकझोर देते हैं? इन सभी बातों पर शुक्लजी ने विशेष रूप से चिन्तन किया है। सूर की वियोग-वर्णन सम्बन्धी आलोचना में शुक्ल की इस प्रवृत्ति को देखा जा सकता है—"परिस्थिति की गम्भीरता के अभाव से गोपियों के वियोग में भी वह गम्भीरता नहीं दिखाई पड़ती जो सीता के वियोग में है। उनका वियोग खाली बैठे—का काम-सा दिखाई पड़ता है। सीता अपने प्रिय से वियुक्त होकर कई सौ कोस दूर दूसरे द्वीप में राक्षसों के बीच पड़ी हुई थीं। गोपियों के गोपाल

१. चिन्तामणि (भाग-१) ले० रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ २२६
२. वही—पृष्ठ २३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल दो-चार कोस दूर के एक नगर में राजसुख भोग रहे थे।"[१]

शुक्लजी ने यहाँ मनोविज्ञान के सहारे अपने तथ्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार जब प्रिय से अधिक दूरी ही नहीं है और न ही मार्ग में ऐसी-वैसी कोई बाधा ही है जो मामला गड़बड़ा दे फिर ऐसा निरर्थक प्रलाप कोई युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार शुक्लजी ने एक और मनोवैज्ञानिक सत्य प्रस्तुत करते हुए जायसी की आलोचना की है जिसमें कवियों द्वारा नायिकाओं के ही विशेष रूप से विरह-जीवन के चित्रण किये जाने का कारण बताया है—"ध्यान देने की बात यह है कि विरह की व्याकुलता और असह्य वेदना स्त्रियों के मत्थे अधिक मढ़ी गई है। प्रेम के वेग की मात्रा स्त्रियों में अधिक दिखाई गई है। नायक के दिन-दिन क्षीण होने, विरह-ताप में भस्म होने, सूखकर ढठरी होने के वर्णन में कवियों का जी उतना नहीं लगता। बात यह है कि स्त्रियों की शृंगार चेष्टा वर्णन करने में पुरुषों को जो आनन्द आता है, वह पुरुषों की दशा-वर्णन करने में नहीं।"[२]

शुक्लजी ने व्यावहारिक समीक्षा में इस बात पर विशेष बल दिया है कि साहित्य स्रष्टा को मार्मिक स्थलों की पहचान है या नहीं। इनकी यह धारणा कि मार्मिक स्थल ही श्रोता अथवा पाठक को अधिक प्रभावित कर सकते हैं मनोवैज्ञानिक दृष्टि का ही परिणाम है। काव्य-समीक्षा में शुक्लजी ने सदैव परिस्थिति-सापेक्ष्यता पर बल दिया है, इसलिए यदि कहीं किसी भाव का परिस्थिति-निरपेक्ष रूप से अतिरंजित वर्णन हुआ है तो वह शुक्लजी की आशंसा प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका है। शुक्लजी की दृष्टि में अतिरंजित और परिस्थिति-निरपेक्ष कल्पना सदैव हेय रही है, शायद इसीलिए इन्होंने केशव, बिहारी आदि कवियों द्वारा वर्णित अतिरंजनाओं की खिल्ली स्थान-स्थान पर उड़ाई है, यहाँ तक कि सूर जैसे समर्थ कवि भी इनकी चपेट से नहीं बच सके। यद्यपि सूर द्वारा प्रयुक्त उपमा, उत्प्रेक्षाओं की प्रशंसा शुक्लजी ने की है तथापि जब देखा कि अन्धे सूर भी व्यर्थ की उपमा टटोलने में लग गये हैं तो उनकी आलोचना बड़े व्यंग्यपूर्ण ढंग से की है—"

"हरिकर राजत माखन रोटी; बस, इतनी ही सी तो बात है, उस पर—

मनों बारिज ससि-बैर जानि जिय गह्यो सुधा सुहि छोटी
मनो बराह भूधर-सह पृथिवी धरी दसनन की कोटी।"

—एक छोटी सी रोटी की हकीकत ही कितनी, उस पर पहाड़ के सहित जमीन का बोझा लाकर रख दिया। उपमाएँ यदि न मिलीं तो बस 'शेष-शारदा' पर फिरे उनकी इज्जत लेने पर उतारू।"[१]

परिस्थिति निर्पेक्ष अतिरंजनाओं से शुक्लजी को चिढ़-सी है। बिहारी की अतिरंजनाओं को लेकर लिखा गया यह अंश इसका अच्छा उदाहरण है—"बिहारी की उन उक्तियों में जिनमें विरहिणी के शरीर के पास ले जाते-ले-जाते शीशी का गुलाबजल सूख जाता है, उसके विरह-ताप की लपट के मारे माघ के महीने भी पड़ोसियों का रहना कठिन हो जाता है, कृशता के कारण विरहिणी साँस खींचने के साथ दो-चार हाथ पीछे और साँस छोड़ने के साथ दो-चार हाथ आगे उड़ जाती है। अत्युक्ति का एक बड़ा तमाशा ही खड़ा किया है। कहाँ यह सब मज़ाक, कहाँ विरह वेदना।"[२] शुक्लजी को जहाँ अत्यन्त स्वाभाविक और परिस्थिति-सापेक्ष अतिरंजनाएँ मिली हैं, उनकी प्रशंसा शुक्लजी ने मुक्तकण्ठ से की है। गोस्वामी तुलसीदास की भावुकता को लेकर लिखा गया यह अंश इसी तथ्य की पुष्टि करता है—"कवि की पूर्ण भावुकता इसमें है कि वह प्रत्येक मानव-स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भाव का अनुभव करे। इस शक्ति की परीक्षा का रामचरित से बढ़कर विस्तृत क्षेत्र और कहाँ मिल सकता है? जीवन-स्थिति के इतने भेद और कहाँ दिखाई पड़ते हैं? इस क्षेत्र में जो कवि सर्वत्र

१. त्रिवेणी, सम्पादक—कृष्णानन्द,—पृष्ठ ७८
२. त्रिवेणी, सम्पादक—कृष्णानन्द—पृष्ठ २८-२९

१. रसमीमांसा—ले० रामचन्द्र शुक्ल, सम्पादक—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—पृष्ठ १३०
२. चिन्तामणि (पहला भाग) ले० रामचन्द्र शुक्ल—पृ० १७३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूरा उतरता दिखाई पड़ता है, उसकी भावुकता को और कोई नहीं पहुँच सकता। ……… हिन्दी के कवियों में इस प्रकार की सर्वांग पूर्ण भावुकता हमारे गोस्वामी जी में ही है।"[1]

परिस्थिति-सापेक्ष्यता को इतना महत्त्व देना भी शुक्लजी के मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचायक है। शुक्लजी इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि कौनसी अतिरंजना हृदय को छू सकती है और कौनसी व्यर्थ मज़ाक की सीमा से आगे नहीं बढ़ सकती। यद्यपि जायसी के विरह-वर्णन में अनेक अतिरंजनाएँ आई हैं किन्तु शुक्लजी उन्हें मज़ाक की हद तक पहुँची नहीं मानते[2]—

"जायसी का विरह-वर्णन कहीं-कहीं अत्यन्त अत्युक्तिपूर्ण होने पर भी मज़ाक की हद तक नहीं पहुँचने पाया है। उसमें गाम्भीर्य बना हुआ है। इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़ती, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द संकेत प्रतीत होती हैं।"[3]

इसी प्रकार राम द्वारा सेतु-बन्ध जैसी आश्चर्यजनक घटना को सुनकर केशव ने रावण के मुख से जो 'चकपकाहट'[1] पूर्ण उक्तियाँ कहलाई हैं—

"बाँधे बन-निधि ? नीर निधि ? जलधि ? सिन्धु ?
बारीस ?
सत्य, तोयनिधि ? कंपती ? उदधि ? पयोधि ? नदीस ?

शुक्लजी उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए हैं और उन्हें पूर्ण मनोवैज्ञानिक मानते हैं, क्योंकि यहां एक असम्भव कार्य एकाएक ही हो गया है। ऐसी स्थिति में उपर्युक्त वचन ओंठों पर आ जाने असंगत नहीं।

इस प्रकार यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि शुक्लजी को एक विशेष मर्मस्पर्शिनी मनोव्यापारात्मक दृष्टि प्राप्त थी, जिसका उन्होंने खुल कर उपयोग अपनी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक समीक्षाओं में किया है। हिन्दी-आलोचना साहित्य शुक्लजी की इस मनोवैज्ञानिक दीप्ति से जगमगा उठा है और इसी आलोक में कई हिन्दी-समीक्षक अपनी समीक्षा-यात्राओं के मार्ग-निर्धारण का कार्य कर रहे हैं।

———

१. गो० तुलसीदास—लेखक रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ९३-९४
२. इस सम्बन्ध में प्रस्तुत लेखक का 'शुक्लजी और उनकी सीमाएँ' वाला निबन्ध दृष्टव्य है।
३. त्रिवेणी, सम्पादक—कृष्णानन्द—पृष्ठ ४०

१. गोस्वामी तुलसीदास—लें० रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ११८-११९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महेन्द्रनाथ पाण्डेय
२४, नवीन छात्रावास प्रथम,
गोरखपुर विश्वविद्यालय,
गोरखपुर (उत्तर प्रदेश)

केशव के काव्य की समीक्षा : कुछ नये प्रश्न

एक समर्थ समालोचक अपनी बलवान लेखनी के बल पर एक जेनविन रचनाकार को किस सीमा तक उसके उचित दाय से वंचित कर सकता है, इसका समुचित ज्ञान आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास के फुटकर खाते में पड़े दो महाकवियों (केशव और घनानन्द) को देख करके सहज ही हो जाता है। शुक्ल जी ने इन दोनों के बारे में जो कुछ भी लिख दिया है, वह पत्थर की लकीर सा हो गया है। प्रयत्न करने पर भी जन-मानस, उन लकीरों से हटना नहीं चाहता है। इस निबन्ध की सीमा चूंकि केवल केशवदास तक ही सीमित है, इसलिए आगे की पंक्तियों में केवल केशवदास से ही सम्बद्ध विचार समुपस्थित किए जाएंगे।

राम-भक्ति-धारा के विश्लेषण में शुक्ल जी ने पाँच कवियों (१. गोस्वामी तुलसीदास २. स्वामी अग्रदास ३. नाभादास ४. प्राणचंद चौहान ५. हृदयराम) को स्थान दिया है। भक्ति-काल के फुटकर खाते में २२ कवियों की गणना की गई। केशव इसी फुटकर खाते में हैं। वे कवि हैं—१. छीहल २. लालचदास ३. कृपाराम ४. महापाल नरहरि वंदी जन ५. नरोत्तमदास ६. आलम ७. महाराज टोडर मल ८. महाराज बीरबल ९. गंग १०. मनोहर कवि ११. बल भद्र मिश्र १२. जमाल १३. केशवदास १४. होलराय १५. रहीम १६. कादिर १७. मुबारक १८. बनारसीदास १९. सेनापति २०. सुंदर २१. पुहकर २२. लालचंद या लक्षोदय।

यह देख करके आश्चर्य होता है कि आचार्य शुक्ल ने पता नहीं क्यों केशव के प्रति अति अनुदार और भर्त्सना का रुख ही अपनाया है। उन्होंने केशव की अलग-अलग आलोचना करने के साथ ही गोस्वामी तुलसीदास से उनकी तुलनात्मक समीक्षा करके भी उनकी विवेचना की है। **मजे की बात यह है कि एक फुटकर खाते में पड़े हुए कवि की तुलना उन्होंने राम-भक्ति-धारा के अन्य चार कवियों से न करके विश्व-साहित्य में अपना अप्रतिम स्थान रखने वाले तुलसीदास से की है।** आचार्य शुक्ल की, केशवदास के बारे में की गई समीक्षा का संक्षेपण निम्नलिखित बिन्दुओं में किया जा सकता है।

१—केशव को कवि हृदय नहीं मिला था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता नहीं थी जो एक कवि में होनी चाहिए।

२—प्रबन्ध-काव्य-रचना के योग्य न तो केशव में अनुभूति ही थी, न शक्ति।

३—केशव की दृष्टि जीवन के गम्भीर और मार्मिक पक्ष पर नहीं थी।

४—केशव की रचना में सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर लगने वाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति, जिसके कारण न तो भावों की प्रकृत व्यंजना के लिए जगह बचती है, न सच्चे हृदयग्राही वस्तु-वर्णन के लिए।

५—कहते हैं, वे एक रसिक जीव थे। युवतियों द्वारा बाबा कहे जाने पर उन्होंने एक दोहा कहा था—केशव केसनी अस करी…।

६—रीति-ग्रंथों के विवेचन की जो परम्परा चली वह केशव के अनुगमन पर नहीं चली?[1]

१. हिंदी साहित्य का इतिहास (पृ० २०१, २, ३, ४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आचार्य शुक्ल द्वारा दिए गए इन वक्तव्यों में केशवदास के व्यक्तित्व के प्रत्येक पहलू को अस्वीकृत कर दिया गया है। न तो इन्हें कवि माना गया है और न आचार्य। यहाँ रसिक शब्द का प्रयोग भी, रूप लोलुप कामुक के करीब लगता है।

शुक्ल जी की इस समालोचना का जन-मानस पर काफी प्रभाव पड़ा। इसी प्रभाव का परिणाम है कि आज तक केशव से सम्बद्ध इस प्रकार के प्रश्न पूछे जाते हैं:

१—केशव कठिन काव्य के प्रेत थे।

२—केशव को कवि हृदय नहीं मिला था।

केशव के बारे में उक्ति प्रचलित हो गई—

"कवि को देन न चहै विदाई।
पूछै केशव की कविताई॥"

—जन मानस एवं विद्वद्‌मण्डली द्वारा केशव के प्रति प्रदर्शित उदासीनता पर टिप्पणी करते हुए आचार्य पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कहना है, "हिन्दी साहित्य के इतिहासों में ये (केशवदास) भक्ति-काल के फुटकर खाते में स्थान पाते हैं। रीति-काल या शृंगार काल का प्रारम्भ चिन्तामणि से माना जाता है। इनकी चिन्ता उस युग में भी नहीं हुई जिसके प्रवर्तन का हिन्दी में इन्होंने सर्वप्रथम व्यवस्थित प्रयास किया था। हिन्दी के साम्प्रतिक युग में उनके ग्रन्थ भली-भाँति पढ़े नहीं गए। हिन्दी का स्तर शिक्षा के क्षेत्र में ऊँचा करने के फेर में पड़कर शुद्ध साहित्य की ओर उस क्षेत्र के प्रमुख कर्त्ता विधाता केशवदास की जितनी उपेक्षा हुई वह संसार के साहित्यों के इतिहास में अश्रुतपूर्व है।"[1]

यह सही है कि सर्वोत्तम रचना को दिक् एवं काल की सीमा से मुक्त होना चाहिए। उसे प्रादेशिक न हो करके सार्वभौमिक होना चाहिए, लेकिन इसके साथ ही यह भी सही है कि कवि के ऊपर देश, काल, परिस्थितियाँ, वातावरण एवं इनसे उद्‌भूत संस्कार का भी पर्याप्त असर होता है। कवि के निर्माण में युगीन परिस्थितियों का संघात बहुत ही दूरगामी प्रभाव छोड़ता है। केशव की युगीन स्थिति का अवलोकन करने पर दिखाई देता है कि केशव युग-संधि में पैदा हुए थे। जिस समय उन्होंने कविता करना शुरू किया था, उस समय साहित्य की दुनियाँ में दो युग आपस में संक्रमित हो रहे थे। साहित्य लौकिक तथा ऐहिक जीवन का स्पर्श करता हुआ अग्रसर होने की दिशा में गतिशील था। काव्य के मंदिर में भक्ति के तानपूरे धीमा पड़ते जा रहे थे और शृंगार की मंजीर झनझनाने लगी थी। काव्य के साथ-साथ शास्त्र-विनोद की चर्चा अधिक होने लगी थी। पराभूत रजवाड़े सुरा और सुन्दरी के अबाध भोग पर आमादा थे। मंदिरों में प्रतिष्ठित महंत धर्माचरण के नाम पर पापाचार में निमग्न थे। रामचन्द्रिका में काशी के साधुओं के पापाचार का जो वर्णन केशव ने किया है, उस पर युग की ही छाप है। जीविकोपार्जन के लिए केशव को राज्याश्रय में रहना पड़ता था। केशव का साहित्य इसी युग-संधि का फल है। केशव के काव्य में इस युग संधि जनित प्रभाव का वर्णन करते हुए डॉ० विजयपाल सिंह का कहना है—"केशव-साहित्य में भक्ति की अत्यन्त धीमी गूंज है और रीति-कालीन प्रवृत्तियों का सशक्त उदय। केशव अपने युग के अपवाद तो हैं, पर ऐसे अपवाद जिसमें भावी विकास की संभावना और उसके संकेतों का विलास है।"[1]

केशव की रचनाओं का स्वरूप :

गीत गोविन्दकार जयदेव की गीत पद्धति, जो विद्यापति के माध्यम से लोक-भाषा तक आयी थी; सूर और तुलसी के माध्यम से पराकाष्ठा को प्राप्त हुई। आचार्य केशवदास ने गीत-विधा को छोड़कर अपने समय तक की चली आती हुई प्रत्येक काव्य-विधा में रचना की थी। कालक्रमानुसार उनकी निम्नलिखित रचनाएँ मिलती हैं। (१) रतन बावनी (२) रसिक प्रिया (३) नख शिख (४) बारह मासा (५) रामचन्द्रिका (६) कवि प्रिया (७) छन्दमाला (८) वीरसिंह देव चरित (९) विज्ञान-गीता (१०) जहाँगीर जस चन्द्रिका।

१. केशव ग्रंथावली, खण्ड ३ (सम्पादकीय पृ० २)

१. केशव सुधा, पृ० ६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें इनके चार ग्रंथ (रतन बावनी, बीरसिंह देव चरित, जहाँगीर जस चन्द्रिका और राम चन्द्रिका) प्रबंध-काव्य है। इसमें भी 'रतन बावनी' मुक्तक प्रबन्ध है। बीरसिंह देव चरित और जहाँगीर जस चन्द्रिका प्रबन्ध काव्य हैं तथा राम चन्द्रिका महाकाव्य है। रसिक प्रिया, कवि प्रिया और छन्द माला लक्षण ग्रन्थ हैं। ये इनके आचार्य स्वरूप के प्रतिपादक हैं। विज्ञान गीता संस्कृत के 'प्रबोध चन्द्रोदय' की शैली पर लिखा गया काव्य है। इसकी विषय-वस्तु ज्ञान वैराग्य है। केशव की समीक्षा करते समय हमें उनके व्यक्तित्व के दो स्वरूपों पर विचार करना होगा—(१) आचार्य-स्वरूप (२) कवि-स्वरूप।

आचार्यत्व : केशव पण्डित-पुत्र थे। ये उस कुल की सन्तान थे जिसके दास तक संस्कृत भाषा में नित्य का व्यवहार करते थे।

भाषा बोल न जानहीं जिनके कुल के दास।
तिन भाषा कविता करी जड़मति केशवदास॥

इस दोहे में केशव की विनम्रता व्यक्त हुई है। इसे उनकी हीन भावना का द्योतक नहीं समझना चाहिए। संस्कृत देव-भाषा थी। वह पूज्य थी लेकिन सामान्य जन की भाषा होने की उसकी इयत्ता प्रतिदिन क्षीण होती जा रही थी। **कहा जा सकता है कि जिस भाषा को घर के दास तक बोल लेते हों, वह भाषा जन-भाषा कैसे नहीं हुई? इस सम्बन्ध में इतना ही निवेदनीय है कि घर के दासों का संस्कृत बोलना और समझना परिवार के पाण्डित्यपूर्ण वातावरण का परिणाम था। आज बड़े-बड़े होटलों के साधारण कर्मचारी भी आँग्ल-भाषा में अपना दैनिक व्यापार सम्पन्न करते हैं। इससे यह निष्कर्ष तो नहीं निकाला जा सकता है कि आँग्ल-भाषा जन सामान्य की भाषा है? यह परिवेशगत प्रभाव है जिसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता है।** बाल्मीकि रामायण में हनुमान जी अशोक वाटिका में सीता जी से प्राकृत (जन-भाषा) में बात करते हैं इसलिए कि उन्हें भय था कि यदि मैं संस्कृत भाषा में माता जानकी से बातचीत करता हूँ तो सीता मुझे रावण मान करके भयभीत हो जाएंगी। रावण पण्डित था। वह वांछित रूप-धारण की शक्ति रखता था। हनुमान जी यदि बन्दर तन से संस्कृत भाषा में बातचीत करते तो सीता यह समझ सकती थीं कि यह भी रावण की कोई माया ही है। ऐसी हालत में हनुमान जी ने उस सार्थक भाषा में बोलने का निर्णय लिया था जो अयोध्या के पास बोली जाती थी।

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना माँ सीता भीता भविष्यति॥१८॥
अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्।
मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता॥१९॥[1]

अपने विशाल संस्कृत-ज्ञान को अभिव्यक्ति देने के लिए देव-भाषा संस्कृत की बजाय जन-भाषा या लोक-भाषा में कविता करने के कारण को स्पष्ट करते हुए केशव का कहना है :

देव देव भाषा करी, नाग नाग भाषानि।
नर होइ नर भाषा करी, गीता ज्ञान प्रमान॥[2]

केशव पण्डित थे और इनका पाण्डिय बराबर इन पर हावी रहता था। इनका पाडित्य ही वह कारण है, जिससे, जन भाषा में विरचित होने के बावजूद, इनकी कविता जन सामान्य को पूर्णतः आत्मसात नहीं कर सकी।

केशव के आचार्यत्व पर विचार करते समय हमें संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा के सुदीर्घ विकास पर निरन्तर ध्यान रखना होगा। संस्कृत में काव्य-शास्त्र की एक सुनिश्चित और सुदीर्घ परम्परा है। इस परम्परा का अवतरण हिन्दी में भी हुआ। हिन्दी में सर्वप्रथम इसे भक्ति के साथ संयुक्त करके समुपस्थित किया गया। भक्ति-साहित्य में भावगत मूल्यों की वरीयता होती है। रूप गोस्वामी ने रस और नायिका-भेद सम्बन्धी आचार्यत्व को भक्ति-रंजित बनाया था। भक्ति के साथ काव्य-शास्त्र की सम्पृक्ति के कारण रस-सिद्धान्त को बल मिला। अलंकार सम्प्रदाय की उपेक्षा-सी हो गई। कृपा राम की "हित तरंगिणी," सूर की "साहित्य-लहरी" और नंददास की "रस मंजरी" में भक्ति के काव्य-शास्त्रीय स्वरूप को

१. सुन्दर काण्ड, तीसवाँ सर्ग।
२. विज्ञान गीता—प्रथम प्रभाव॥७॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रस्तुत किया गया है। केशव ने काव्य-शास्त्र को भक्ति रंजित न बनाकर उसके उस स्वरूप पर ध्यान दिया, जो केवल काव्य से सम्बद्ध था। यहीं से हिन्दी में शुद्ध काव्य-शास्त्र की परम्परा का प्रचलन समझना चाहिए।

संस्कृत के आचार्यों की दो कोटियाँ हैं—(१) प्राचीन (२) नवीन। प्राचीन आचार्य वे थे जो नूतन मौलिक सिद्धान्तों के उद्भावक आचार्य थे। नवीन आचार्य वे थे जिन्होंने इन मौलिक सिद्धान्तों का भाष्य किया है। केशव के प्रेरणा स्रोत प्राचीन आचार्य थे। उन प्राचीनों में उन्होंने अलंकार-वादियों पर विशेष ध्यान दिया। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि केशव ने भी नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना की है। वस्तुतः वे एक व्याख्याता एवं कवि शिक्षक आचार्य हैं। वे अलंकारवादी हैं। अलंकार को वे काव्य का शोभाकारक धर्म मानते हैं "काव्य शोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते, "संस्कृत-आचार्य की यह मान्यता उन्हें स्वीकार है। चन्द्रालोककार जयदेव ने कहा था कि जो लोग काव्य का अस्तित्व अलंकार विहीनता में भी मानते हैं वे क्यों नहीं आग को अनुष्ण मानते हैं? यानी जिस प्रकार से आग की कल्पना उष्णता विहीनता की स्थिति में असंभव है, उसी प्रकार से काव्य की कल्पना भी अलंकार हीनता में असम्भव है। केशवदास अलंकार को ही काव्य-सर्वस्व स्वीकार करते हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में उनकी यह प्रसिद्ध उक्ति विचारणीय है—

जदपि सुजाति सुलक्षणी सुबरन सरस सुवृत्त।

भूषन बिनु न बिराजहीं कविता वनिता मित्त।।

काव्य के सौन्दर्य विधायक प्रत्येक तत्त्व को अलंकार की सीमा में परिगणित करने वाला आचार्य सुजाति, सुलक्षणी, सुबरन, सरस और सुवृत्त को क्यों नहीं अलंकार की सीमा में परिगणित कर लेता है, यह समझना कठिन है। कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि अलंकार को ही काव्य-सर्वस्व मानने के बावजूद केशव बाह्य अलंकार की वरीयता को स्वीकार करते हैं। अपनी रचना 'रसिक-प्रिया' में केशव स्वाभाविक सौन्दर्य के पक्षधर दिखाई पड़ते हैं। चाहे जितने सुन्दर और बड़े नेत्र क्यों न हों यदि उनमें देखने की ताकत नहीं है तो वे बेकार हैं। उसी प्रकार से सरस वाणी के बिना बड़े-बड़े कवि भी बेकार हैं:

ज्यों बिनु दीठि न सोभिजै, लोचन लोल विशाल।

त्यों ही केशव सकल कवि, बिनु बानी न रसाल।।

इसीलिए 'रसिक प्रिया' में एक सखी अपनी दूसरी सखी से, जो सहज रूप सम्पन्न है, कहती है:

काहे को सिंगार कै बिगारति है मेरो आली।

तेरो रूप बिना ही सिंगार को सिंगारो है।।

केशव के काव्य-विकास को देखने पर ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में वे रसवादी दृष्टि के थे लेकिन ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते गये उनके ऊपर अलंकारवादी चमत्कार वृत्ति और पाण्डित्य की गरिमा सवार होती गई। 'रसिक प्रिया' का यदि आज भी लक्षण विहीन, मात्र पद्यों का एक संग्रह निकाला जाए तो उस युग के किसी भी सरस सहृदय कवि से वह अच्छा होगा। "चंपे की सी कली वृषभानु की कुमारिका" और "वचन विलास सुनि, चौगुनो सुरति हूं तो स्याम सुख पायों जूं" जैसी उक्तियाँ बेजोड़ हैं।

'कवि प्रिया' में जाकर केशव की दृष्टि कवि-शिक्षा पर जाती है। संस्कृत साहित्य में प्राप्त काव्य के "अगाध वर्णन-पंथ" को बालक तक आसानी से समझ जाए यह केशव का लक्ष्य हो गया। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख करके उन्होंने 'कवि-प्रिया' की रचना की। 'बुध जनों' से क्षमा माँगते हुए केशव लिखते हैं:

समुझै बाला बालकनि बरनन पंथ अगाध।

कवि-प्रिया केशव करी छमियो बुध अपराध।।

रसिक प्रिया में केशव रसों का समाहार और नायिका भेद दिखा चुके थे। कवि-प्रिया में अलंकार और दोष वर्णन के प्रकरण को उन्होंने पूरा किया। लक्षणों का निर्माण और पुनः उनके उदाहरणों की रचना करके उन्होंने इस ग्रंथ को पूरा किया था।

वस्तुतः, केशवदास एक व्याख्याता और कवि शिक्षक आचार्य है। 'हिन्दी में भी काव्य शास्त्रीय ग्रंथ होने चाहिए' इस पर सबसे पहले केशव ने ही ध्यान दिया था। कहा जा चुका है कि केशव के पूर्व कृपाराम आदि आचार्यों ने काव्य शास्त्र को भक्ति रंजित करके प्रस्तुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया था। काव्य-शास्त्र को भक्ति-मुक्त करके उसे विशुद्ध काव्य-शास्त्र के रूप से प्रस्तुत करने का काम केशव ने सम्पन्न किया। संस्कृत-आचार्यों की विशाल ज्ञान-राशि की तुलना में अपनी ओर से किसी भी प्रकार की नवीन मौलिक उद्‌भावना किसी भी व्यक्ति के लिए एक दुष्कर कर्म था। संस्कृत-आचार्यों द्वारा प्रस्तुत ज्ञान-राशि को सर्व-जन सुलभ बना देना ही उस समय के लिए एक महान् कर्म था। इसमें सन्देह नहीं है कि मध्यकाल में केशव के द्वारा यह महान् कार्य सम्पन्न हुआ। रीति-कालीन विवेचन परम्परा, इनके द्वारा बतलाए गए मार्ग पर न चल करके यदि चिन्तामणि के अनुगमन पर चली तो इससे केशव के प्रयत्न की गहनीयता नहीं खण्डित होती है। केवल इसीलिए उनके आचार्य स्वरूप को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। भारत की स्वतन्त्रता १९४७ में महात्मा गाँधी के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप मिली। गाँधी की अहिंसा एवं असहयोग वाली नीति को लोगों ने अधिक समर्थन दिया, लेकिन इसी आधार पर १८५७ की क्रांति में स्वतन्त्रता की वेदी पर बलि हो जाने वाले वीरों एवं गाँधी जी के ही समानान्तर अपने प्रयत्नों में सचेष्ट क्रांतिकारियों द्वारा, स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए किए गए यत्नों को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता है। भवन के गुम्बद के सौन्दर्य की सराहना में हम नींव के पत्थर के महत्व को नजरंदाज नहीं कर सकते हैं। भले ही केशव के अनुगमन पर रीतिकालीन विवेचन परम्परा नहीं चली लेकिन केशव ने भक्ति काल के भीतर बैठ करके जिस दिशा की ओर प्रयत्न शुरू किया था आगे की धारा गई उसी दिशा में। नेतृत्व उसने चिन्तामणि का ग्रहण किया, यह दूसरी बात है।

काव्यत्व—प्रभावोत्पादकता के लिए सहृदयता एक अनिवार्य अपेक्षा है। कवि यदि सहृदय नहीं होगा तो मर्मस्पर्शी अंशों का ऐसा चित्रण या कि उनकी ऐसी प्रस्तुति नहीं कर पाएगा जिससे वे पाठक, सहृदय, सामाजिक या श्रोता को तदनुरूप भाव विभोर कर सकें अथवा तदनुरूप भावानुभूति के लिए प्रेरित कर सकें। जिस कवि का प्रत्यक्ष अनुभव जितना ही तीखा होता है उसके अंदर कामना एवं कल्पना का सर्जनकारी वैभव उतना ही अधिक होता है। केशवदास पंडित थे, आचार्य थे, राजदरबारी थे। यही कारण है कि उनके काव्य में पाण्डित्य जनित काठिन्य स्वभावतः आ गया है। लेकिन ऐसा नहीं है कि उनके अन्दर सहृदयता का नितान्त अभाव था। स्थिति ऐसी नहीं है कि उन्हें हृदयहीन तक कह दिया जाए। उनमें मर्मस्पर्शी स्थलों का अनुकूल वर्णन करने वाली प्रतिभा का अभाव नहीं था। दो एक उदाहरण देखें :

अशोक वाटिका में सीता कैद है। हनुमान जी ऊपर से रामांकित अँगूठी गिराते हैं। उस अंगूठी को देख करके सीता को पहले प्रसन्नता होती है फिर दुःख, मुद्रिका को सम्बोधित करके सीता कहती हैं, "मुद्रिके! श्रीराम जी के साथ तीन स्त्रियाँ थीं, जिसमें से लक्ष्मी ने उन्हें नगर मे ही छोड़ दिया। मैंने बीच में ही त्याग दिया और तुमने बीच में ही अनीति का आचरण किया। अब तुम्हीं बताओ स्त्रियों के इस आचरण को देख करके कौन ऐसा होगा जो उन पर विश्वास करेगा?"

श्रीपुर में वन मध्य हौं, तूं मग करी अनीति।
कहु मुंदरी अब तियन की को करिहैं परतीति॥

क्या यह वर्णन मार्मिक नहीं है? ग्राम वधुओं वाले प्रसंग को शुक्ल जी ने राम-कथा का सर्वाधिक मार्मिक प्रसंग माना है। उनके अनुसार केशव ने इस स्थान पर अभावुकता का परिचय दिया है। वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। केशव की ग्राम वधुओं की कल्पना में परस्पर वैभिन्य है। उसमें किसी की कल्पना अत्यन्त उत्तम है तो किसी को "ठग और ठगौरी" की याद आती है। केशव के इस प्रसंग पर विचार करते समय यह मान कर चलने की बजाय कि सुन्दर को देख करके सारी कुटिल वृत्तियाँ सुन्दर हो जाती हैं, यह मान कर चलने की जरूरत है कि प्रकृति और प्रवृत्ति कभी परास्त नहीं होतीं है। जिसकी जैसी प्रकृति और प्रवृत्ति होती है, वह उसी प्रकार की धारणाएँ भी रखता है। प्रकृति और प्रवृत्ति का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से होता है। सौन्दर्य के दर्शन मात्र से यदि कुवृत्तियाँ समाप्त हो जातीं तो कंस, दुर्योधन, रावण, कुम्भकर्णादि को भी अपनी बुरी आदतें छोड़कर श्रीराम और श्रीकृष्ण का भक्त हो जाना चाहिए था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेकिन ऐसा हुआ नहीं। गांव के सभी लोग सुवृत्ति सम्पन्न ही तो होते नहीं हैं। ग्राम-वधुओं में से जो अच्छे विचार वाली थीं, उन्होंने अच्छी कल्पनााएँ कीं और जो बुरे विचार वाली थीं उन्होंने बुरी कल्पनाएँ कीं।

वस्तुतः केशवदास किसी भी वस्तु के उभयपक्ष की अभिव्यक्ति करते हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत सूर्योदय-वर्णन में भी यही बात है। यहाँ पात्रानुकूल कल्पनाएं हुई हैं। राम चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र हैं इसलिए अरुणोदय की लाली उन्हें वाणव-ज्वाला की लाली के साथ-साथ फैले हुए पद्मराग मणियों के चूरे की लाली दिखाई पड़ती है। उनके सूर्योदय-वर्णन में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। सूर्योदय-वर्णन में पात्रानुकूल कल्पनाएँ हुई हैं।

राम चक्रवर्ती सम्राट के पुत्र हैं इसलिए अरुणोदय की लाली उन्हें पद्मराग मणियों का चूरा लगती है। उनका कहना है कि सूर्य के घोड़ों की तेज खुर से आहत होकर के पद्मराग मणियों का चूरा बन गया और वही क्षितिज पर फैल गया है। एक चक्रवर्ती सम्राट के राजपुत्र की ऐसी वैभवशालिनी कल्पना उसके संस्कार और उसकी गरिमा के ही अनुकूल है। लक्ष्मण उग्र एवं वीर भावापन्न हैं। अतः उनकी कल्पना में राजसी ठाठ के साथ-ही-साथ वीर-भावना की भी प्रधानता है। सूर्योदय के सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित कल्पनाएँ हैं :

(१) मानहुँ केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय
(२) परिपूरण सिन्दूर मंगल-घट
(३) मणि मायूख पट खचित सक्र को छत्र
(४) कापालिक काल को श्रोनित कलित कपाल।
(५) दिग् भामिनि के भाल को लाल।

आलोचकों के अनुसार इसमें काल रूपी कापालिक के हाथ में लोहित सर वाली कल्पना कुरूप है। इसके स्पष्टीकरण के लिए हमें संस्कृत कवियों द्वारा प्रस्तुत उस वर्णन पद्धति को सामने रखना होगा, जिसमें विरूप और सुरूप दोनों को समानान्तर रूप में प्रस्तुत किया जाता है। पं० माघ इसके सर्वोत्तम उदाहरण हैं। अपने सूर्योदय-वर्णन में उन्होंने सुख-दुख, सुन्दर और असुन्दर दोनों को चित्रित किया है। उनका वर्णन है :

"कुमुद-वन अपश्री से युक्त हो गया। अम्भोज खण्ड श्री युक्त हुआ। उलूक दुखी हो गये। चक्रवाक सुखी हुए। सूर्य उदित हो रहा है। चन्द्रमा अस्ताचलगामी हो गया। हाय! विधि द्वारा निहित यह विचित्र विधान है।" पूरा श्लोक इस प्रकार है—

कुमुद वनमपश्री, श्रीमदम्भोजखण्डं,
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं,
हत्! विधि निहितानां हा विचित्रोविपाकः॥

सूर्योदय जनित परिवर्तन देख करके विधि की व्यवस्था पर हाय करने वाले पं० माघ को हम अभावुक और अरसिक तो नहीं कहते हैं। क्या "श्रोनित कलित कपाल" वाली कल्पना को क्रोधित मनःस्थिति के व्यंजक रूप में नहीं रखा जा सकता है? संस्कृत साहित्य के पं० माघ और भारवि की वर्णन-परम्परा को जानने वाले व्यक्ति को इस प्रकार का वर्णन आश्चर्य में नहीं डालता है।

सूर्योदय के वर्णन में केशव ने विश्वामित्र के द्वारा जो कल्पना प्रस्तुत करायी है, वह सर्वाधिक रूप में उपयुक्त है। विश्वामित्र राज्य छोड़ चुके थे। उनका निवास अब जंगल में था। जंगली दृश्य उनके लिए नित्य व्यवहार की वस्तु बन गये थे। विश्वामित्र के समक्ष यह दृश्य अत्यन्त सामान्य रहा होगा। वे देखते होंगे उस लाल मुंह वाले बन्दर को जो दौड़ कर सपुष्प वृक्ष पर चढ़ता था और उसे झकझोर करके पुष्पहीन बना देता था। भावना (प्रत्यक्ष अनुभव) के अनुरूप ही कामना और कल्पना का व्यापार सम्पन्न होता है। सूर्योदय के वर्णन में विश्वामित्र ने कल्पना की कि लाल मुंह वाला सूर्य रूपी बन्दर दौड़ करके तारागण रूपी पुष्पों से सज्जित इस गगन-वृक्ष पर चढ़ गया। उसने वृक्ष को झकझोर करके उसे पुष्प-हीन बना दिया है। अरुणोदय के ठीक पूर्व तारागणों का छुपना ही पुष्प का झरना है। मूल पंक्तियाँ हैं :

चढ़्यो गगन तरु धाइ दिनकर बानर अरुण-मुख,
कीन्ह्यो झुकि झहराइ सकल तारका कुसुम बिनु।

अपने चारों ओर के वातावरण से प्राप्त अनुभव के आधार पर ही व्यक्ति कल्पना करता है। किसी क्षेत्र विशेष के विशेषज्ञ भी अनजानी बातों में अपने प्रत्यक्ष ज्ञान की बुनियाद पर ही कल्पना करते हैं। इसके उदाहरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए गर्ग-संहिता के एक स्थल का उद्धरण भी दृष्टव्य है। उग्रसेन के अश्वमेध-यज्ञ में श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों के भोजन के लिए सामग्री परोसने का कार्य-भार संभाला था। उन ब्राह्मणों में से कुछ कंद-मूल खाकर जीने वाले थे, कुछ दुर्वासा थे (दूब का रस पीने वाले), कुछ वायु पीकर जीवन-यापन करने वाले थे।

"जब उनके सामने भाँति-भाँति के भोजन परोसे गये, तब उन्हें देखकर वे विस्मित हुए। कोई भात को मालती का फूल समझने लगा, कोई लड्डुओं को गूलर का फूल। किसी ने खीर एवं फेणिका को चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब समझा। किसी ने पापड़ फेड़िका को देख करके उसे पलाश के पत्ते समझा। मधु-शीर्षक मिष्टान्न को आम का फल मान लिया। लप्सी और चटनी को कितने ही ऋषियों ने घिसा हुआ चन्दन समझ लिया। कितने ही लोगों ने मीठा चूरन और शक्कर को बालू समझा।"[१]

ऐसे ज्ञानियों के मन में इस तरह की कल्पना उत्पन्न कराने वाला कवि अभावुक तो नहीं कहा जाता है। वस्तुतः केशव के काव्य में मार्मिक स्थलों की खोज करते समय हम तुलसी के स्थल निरन्तर याद करके चलते हैं। यही कारण है कि हम निष्पक्ष निर्णय नहीं ले पाते हैं। निरपेक्ष दृष्टि से देखने पर केशव के काव्य में मार्मिक स्थलों की नितान्त कमी नहीं नजर आती है।

राज दरबार का भरपूर ज्ञान होने के कारण केशव के संवादों में मार्मिकता, व्यंग्य और दूर तक चोट करने की ताकत है। कवि-हृदय की अस्वीकृति के बावजूद आचार्य शुक्ल ने भी केशव के संवाद-सौष्ठव को स्वीकार किया था।

विवेचन के इसी क्रम में केशव द्वारा प्रदत्त उस उपमा पर भी विचार अपेक्षित है, जिसमें राम को उलूक से उपमित किया गया है। केशव की मूल पंक्ति है : "वासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत"। केशव की इस उपमा पर आपत्ति उठाने के पूर्व हमें उपमा और सर्वांग-रूपक के भेद पर निरन्तर ध्यान देना चाहिए। उपमा में गुण साम्य की माला पर ध्यान दिया जाता है। इस तथ्य को नजरंदाज करके, यदि हम केशव पर व्यर्थ का आक्रमण करते हैं तो तुलसी के इस दोहे का क्या होगा ?

कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं कहँ प्रिय दाम।
तिमि रघुवीर निरन्तर प्रिय लागहुँ मोहिं राम॥

क्या हम यहाँ भी उसी प्रकार का आक्षेपात्मक रुख अख्तियार करते हैं ? यदि नहीं तो यह विशेष छूट क्यों ?

पं० माघ ने शिशुपाल-वध के प्रथम अध्याय में स्वर्ण सिंहासनारूढ़ श्रीकृष्ण की उपमा सुमेरु पर्वत पर जामुन के फल और धवल चन्द्रमा की गोद में स्थित दाग से दी है। हमने वहाँ तो कोई आपत्ति नहीं खड़ी की है, फिर केशव के साथ ही इस प्रकार का आक्रामक रुख क्यों ?

केशवदास के किसी भी ग्रन्थ में अप्राप्त जिस दोहे को उद्धृत करके (केशव केसनि अस करी…) उन्हें रसिक जीव कहा गया है; वह अवमूल्यन के ही तेवर में है। शुक्ल जी ने जिस मुद्रा में उन्हें "रसिक जीव" कहा है वह मुद्रा व्यंग्य और उपहास की मुद्रा है। संदर्भ देखने पर रसिक शब्द का प्रयोग रूप लोलुप, कामुक के अर्थ में लगता है। विचारणीय बात यह है कि क्या रसिक शब्द का प्रयोग भारतीय परम्परा में इसी अर्थ में होता रहा है ? यदि रसिक का यही अर्थ है तो कालिदास को रूप लोलुप कामियों की कमी पड़ गई थी क्या ? क्या वे इन्हीं रूप लोलुप कामुकों की तलाश कर रहे थे ? उन्होंने ब्रह्मा से निवेदन करते हुए कहा था, "सखे चतुरानन ! मेरे कर्मफल के रूप में और चाहे जो कुछ भी लिख देना लेकिन अरसिकों के समक्ष कवित्व निवेदन करना पड़े यह मत लिखना।"

इतर कर्म फलानि यथेच्छया,
विलिखितानि सखे चतुरानन।
अरसिकेषु कवित्व निवेदनं,
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥

राज दरबारी होते हुए केशवदास रूप लोलुप कामी नहीं थे। "सड़क पर जाती हुई हर औरत के साथ सोने" वाली उनकी आकांक्षा नहीं थी। "रसिक प्रिया" में उन्होंने भोग्य नारियों की भी सीमा निर्धारित की है।

१. गर्ग संहिता (अध्याय ५७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ पर कठोरता से निषेध-पद्धति का आश्रय ग्रहण किया गया है।

केशवदास की समीक्षा उनकी मान्यताओं और उनके युग को ध्यान में रख कर के होनी चाहिए। वस्तुतः केशव के प्रति कटुतापूर्ण वातावरण के विनिर्माण के मूल में है केशव और तुलसी की तुलना। केशव और तुलसी की तुलना नहीं होनी चाहिए क्योंकि दोनों में बुनियादी अंतर है। उनकी तुलना करने के पहले हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना चाहिए :

१. तुलसी एक सिद्ध कवि हैं। देवता की कृपा के प्रसाद से उनके काव्य का प्रादुर्भाव हुआ।

संभु प्रसाद सुमति हियँ हुलसी।
राम चरित मानस कवि तुलसी।।

लेकिन केशव कवि हैं केवल कवि। उनका ज्ञान, उनका अध्ययन और उनका बल, उनको किसी देवता के सहयोग से नहीं मिला है। देव-बल और मानव-बल को एक ही तुला पर नहीं रखा जा सकता है।

२. केशव का काव्यादर्श अलंकार है जबकि तुलसी का रस-विशेष। दोनों दो ध्रुवों के यात्री हैं।

(क) जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषन बिनु न विराजहीं कविता बनिता मित्त।।
(केशवदास)

(ख) बसन हीन नहिं सोइ सुरारी।
सब भूषन भूषित नर नारी।।
बिधु वदनी सब भाँति सँवारी।
सोह न बसन बिना बर नारी।। (तुलसीदास)

३. केशव ने पण्डितों के लिए, कवि शिक्षा के लिए, राजा के लिए और काव्य-कलामर्मियों के लिए कविता की हैं। इसके विपरीत तुलसी ने "निज गिरा पावन करन कारन" राम-जस का गान किया। "सुरसरि सम सब कर हित होई" में जीवों का कलि से उद्धार छिपा है। उनकी कविता का प्रतिपाद्य आध्यात्मिक अधिक है, जबकि केशव कवि-शिक्षक आचार्य हैं।

यह आवश्यक है कि केशव को केशव की मर्यादाओं में ही जांचा परखा जाय। उन्हें तुलसी काम्प्लेक्स से मुक्त किया जाए जिससे साहित्य के विद्यार्थियों के मन में उनके प्रति बन गए व्यर्थ के खिंचाव को समाप्त किया जा सके।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० अमरसिंह राठौड़
उपसम्पादक,
जनसम्पर्क निदेशालय
राजस्थान, जयपुर

पहेली साहित्य की पृष्ठभूमि

जीव-जगत् के लिए बौद्धिक शक्ति प्रकृति की एक अनुपम देन है। जीवन में पग-पग पर बौद्धिक विकास की आवश्यकता होती है। बुद्धि के प्रभाव में शारीरिक बल भी विशेष सफल नहीं होता तथा बहुत सी बातें तो बुद्धि के द्वारा ही ठीक से सम्पन्न हो सकती हैं। वहाँ शारीरिक बल कोई काम नहीं देता। जीवन में कई बार हम ऐसी उलझनों में फंस जाते हैं कि हमें क्या करना चाहिए ? इसका कोई मार्ग नहीं सूझता। बुद्धि उस समय हमारा मार्ग-दर्शन कर, उलझनों को सुलझाने में सहायता करती है। नित्य नवीन आविष्कार एवं ज्ञान-विज्ञान की खोज बुद्धि के द्वारा ही संभव है। अन्य प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में बुद्धि विशेष रूप से विकसित पाई जाती है। छोटे से लेकर बड़े किसी भी कार्य में बुद्धिहीन एवं बुद्धिमान के समान रूप करने पर भी उसकी प्रणाली की सुन्दरता व शीघ्रता से सुचारुता का एवं भद्दापन, सफलता एवं विफलता का जो अन्तर नजर आता है, वह बौद्धिक विकास की तारतम्यता के कारण ही है।

बीरबल की प्रसिद्धि उनकी हाज़िर जवाबी एवं कुशाग्र बुद्धि के कारण ही है। जैन साहित्य में महाराजा क्षेणिक और उनके पुत्र अभयकुमार के बौद्धिक चमत्कारों के उदाहरण मिलते हैं। जैन समाज के व्यापारी वर्ग अपने खातों में अभयकुमार के समान बुद्धि होने की कामना अंकित करते हैं।

'चार प्रत्येक बुद्धि चरित्र' में एक चितेरे की लड़की ने किस प्रकार नई समस्या मूलक कहानियां कहकर अपने पति (राजा) को छः महीने तक नित्य उन कहानियों एवं उनमें आई हुई समस्याओं के परिणाम को सुनने के लिए जाने को बाध्य किया, इसकी रोचक कथा पाई जाती है।[1]

राजस्थान में विवाह आदि के अवसर पर जामाता को सालियां तथा अन्य स्त्रियां ससुराल में रात्रि के समय बौद्धिक परीक्षा के लिए अनेक प्रकार की आड़ियां अथवा पहेलियां पूछती हैं। यदि जामाता उनका उचित उत्तर नहीं दे पाता है, तो उसे नीचा देखना पड़ता है तथा स्त्रियां उसे भौंदू समझ लेती हैं। इस समय स्त्रियां ऐसा गीत गाया करती हैं, जिसमें कुछ अटपटी बातें कही जाती हैं। उन समस्याओं का उत्तर जामाता से पूछा जाता है। कभी-कभी मनुष्य ऐसी भाषा का प्रयोग करता है जो साधारण जनता की समझ से परे होती है। आपस में बातचीत में गुह्य और दुर्बोध कथन-पद्धति का कार्य पहेलियां करती हैं।[2]

पहेलियां लोक-साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग हैं और उसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। मानव और पहेली का सम्बन्ध अत्यन्त ही प्राचीन है। इसकी पुष्टि इस प्रकार की गई है :—

क्रीड़ा गोष्ठी विनोदेषु तज्ज्ञाराकीर्ण मंत्रणे।
पर व्यामोहने चापि सोपयोगाः प्रहेलिकाः॥[3]

१. अगरचन्द नाहटा : प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृष्ठ १

२. श्री मोहन कृष्ण दर —कश्मीर का लोकसाहित्य, पृष्ठ ३०१

३. साहित्य दर्पण —दशम् परिच्छेद, पृष्ठ ४९६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अर्थात्—खेल, गोष्ठी तथा विनोद काल में प्रहेलिका जानने वाले पारस्परिक विचार-विनिमय अर्थात् परामर्श एवं श्रोतृ-वृन्द को मोहित करने के लिए अथवा आश्चर्य चकित करने के लिए इनका उपयोग करते हैं। हमारे साहित्य के आदि ग्रन्थ वेदों में उनके उदाहरणों की प्राप्ति यह संकेत देती है कि कभी वे शिष्ट साहित्य की विभिन्न रूप-विधाओं में एक विशिष्ट विधा के रूप में प्रचलित रही थी।[३] इन पहेलियों की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। संस्कृत में ब्रह्मोदय भी कहा गया है।[४] महाभारत के 'कूट-श्लोक' तथा श्रीमद्भागवत 'वाचककूट' भी इन्हीं के रूप कहे जा सकते हैं। वैदिक युग में वह बाल समाज और ग्रामजनों के मनोरंजन का ही साहित्य नहीं थी अपितु अश्वमेघ यज्ञ जैसे महत्वपूर्ण अनुष्ठानों में 'होता' और 'ब्रह्मा' के मुख से उच्चरित होकर ब्रह्मोदय की संज्ञा वाली विशिष्ट साहित्य-विधा समझी गई थी।[५] वेद ज्ञान राशि के प्रमुख स्रोत हैं और उनमें पहेलियों का अतुल प्रयोग उपलब्ध होता है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूत्र, में ५२ मंत्र प्रायः प्रहेलिका मय हैं। उसी के दशम मण्डल के ७५वें सूत्र के प्रथम १३ मंत्र पहेली स्वरूप हैं। सम्भवतः इसीलिए ऋग्वेद को पहेलियों का वेद कहा है। महाभारत काल में यक्ष और युद्धिष्ठिर के संवाद के रूप में हमें उसकी सक्ष और महत्ता की जानकारी मिलती है। संस्कृत काव्य-शास्त्र के आचार्य दण्डी, माघ और भामह के काल में उसे अन्तर्लापिका और बहिर्लापिका के रूप में अलंकारों के अलंकार से अलंकृत किया गया। प्राकृत और अपभ्रंश काल में वह विदग्धजनों का मुख-मण्डन बनीं और आगे चलकर कबीर आदि सन्तों के शब्दों में उलटबांसी तथा सूरदास के शब्दों में दृष्टकूट बन गई। आधुनिक काल तक आते-आते वह समाप्त तो नहीं हुई, परन्तु उसकी अवभावना अवश्य की गई। अब वह शिक्षित समाज की दृष्टि में लोक-साहित्य-परक शोध-प्रबन्धों और स्फुट निबन्धों के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में ही चर्चित होती है। स्वतंत्र विधा के रूप से उसका वह पूर्व स्वरूप और महत्ता प्रायः लुप्त-सी हो गई है। परन्तु शिक्षितों द्वारा विस्मृत यह विधा ग्राम समाज में आज भी अपना अटल एकच्छत्र आधिपत्य स्थापित किए हुए हैं। ग्रामों में उसके बिना न बालकों का मनोरंजन होता है, न वयस्कों के विवाह की सौभाग्य रात्रि सम्पन्न होती है और न वृद्धों की बहुश्रुत और अनुभूत बुद्धि का सिक्का ही नव-सिखियों के मस्तिष्क पर जम पाता है।[१]

राजस्थान में गूढ़ा, हियाली, आड़ी, पहाड़ी, पाली, फियाली आदि अनेक शब्द सामान्यतः पहेली के लिए प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत में पहेली के लिए प्रहेलिका शब्द प्रयुक्त होता है। वैदिक ऋषियों ने अनेक ऋचाओं की रचना की है, जिनका अर्थ कुछ रहस्यात्मक बन गया है। ऋग्वेद का एक मंत्र है।

चत्वारि श्रृंगा त्रयौ अस्य पादा,
द्वे शीर्ष सप्त हस्तासो अस्य,
त्रिधों बद्धो वृषभो रोरवीति,
महो देवो मर्त्यां आविवेश।।[२]

विद्वान अभी तक यह नहीं बता सके हैं कि इस मंत्र में वर्णित वृषभ कौन हैं, या यह शब्द किसके लिए प्रयोग किया गया है। संस्कृत साहित्य में पहेलियों की भरमार है। कुछ पहेलियां ऐसी हैं, जिनका अर्थ भी साथ दिया गया है। जैसे—

का काशी कामधुरा का शीतल वाहिनी गंगा।
कंसजघान कृष्णः कम बल्वंतम् नबाधते शीतम्।।

इसका अर्थ है, मधुर कौन-सी वस्तु है? कामदेव की धुरी का चक्र। शीतल वाहिनी गंगा कहां है?

३. अगरचन्द नाहटा —प्राचीन काव्यों की रूप परम्परा, पृष्ठ १४५
४. परम्परा (अंक २०-२१वां)—राजस्थानी पहेलियां और दृष्टिकूट (सौभाग्यसिंह शेखावत)
५. डॉ० सत्येन्द्र —ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन, पृ० ४६४

१. परम्परा (अंक २०-२१वां): सौभाग्यसिंह शेखावत राजस्थानी पहेलियां और दृष्टि कूट, — पृष्ठ ८५
२. ऋग्वेद—४।५८।३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काशीतल वाहिनी गंगा। कृष्ण ने किसको जान से मार डाला? कृष्ण ने कंस को मार डाला। किस बलवान व्यक्ति को जाड़ा नहीं लगता? जिसके पास ओढ़ने के लिए कंबल (कंबलवंत) है, उसे जाड़ा नहीं लगता। ऋग्वेद में प्रयुक्त ब्रह्मोदय से ज्ञात होता है कि पहेलियां जन की विकासोन्मुख अवस्था के साथ ही क्रमशः विकसित हुई। पूर्व वैदिक काल के मौखिक साहित्य ने वेदों के निर्माताओं को अपनी महत्ता से आकर्षित किया। इसलिए आज जब हम लोक में प्रचलित इस बुद्धि-परक साहित्य के विस्तार का अध्ययन करते हैं, तो कुतूहल होता है। हमारे देश में पहेलियां बूझने की कला बहुत प्राचीन काल से मिलती है। प्राचीन काल में राज-दरबारों और नागरिक-सम्मेलनों तथा मनोविनोद के अवसरों पर पहेलियां बूझी जाती थीं।[1] पहेलियां बूझने की कला प्राचीन भारत की चौंसठ कलाओं में मानी गई है। आदिवासी जातियाँ भी पहेलियों का प्रयोग करती हैं। वैवाहिक अवसर पर पहेलियों द्वारा परिजनों की बुद्धि परीक्षा सभी जातियों में समान रूप से विद्यमान है। किन्हीं अंशों में आर्येतर जातियों में इसका प्रचलन था। कालान्तर की आर्येतर जातियों में यह प्रथा उसी तरह विद्यमान थी जिस तरह आर्य जातियों में है।

पहेलियों के उद्घाटन अथवा विकास के विषय में विद्वानों की अलग-अलग धारणायें हैं। ईश्वर की सृष्टि रचना की महत्ता के प्रथम प्रश्न के साथ मानव मस्तिष्क तर्क की तरफ बढ़ा और उसने सूर्य, चन्द्रमा, उषा, वायु, अग्नि को अपने कार्य में अटल परिश्रम करते देखा। तब तत्काल उसके सामने इस लीला का एक बड़ा प्रश्न पहेली का रूप धारण करके आ टिका। परमात्मा की सृष्टि सचमुच विश्व की आदि पहेली है। उसे सुलझाने के लिए असंख्य युगों से विश्व के सहस्रों दार्शनिकों, योगियों ने साहित्य रचना की है। आज भी मानव ज्ञान-विज्ञान, आचरण-संस्कृति और खोज उपलब्धियां इस सृष्टि की पहेली के प्रति सतत सजग हैं।[1] फ्रेजर महोदय ने बताया है कि पहेलियों की रचना अथवा उदय उस समय हुआ होगा जब कुछ कारणों से वक्ता को स्पष्ट शब्दों में किसी बात को कहने में किसी प्रकार की अड़चन पड़ती हुई प्रतीत हुई होगी।[2] पहेलियां विश्व के सभी साहित्य में मिलती हैं। 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ अमेरिका' में लिखा है—"एनिग्माज आर डेवल सेइंग वेहर फ्रीक्वेन्टली यूज्ड बाइ दि एनसियन्ट टू डिग्नाइज इम्पोर्टेन्ट ट्रूथ्स ह्विच इट वाज नाट ड्रीम्ड सेफ आर एडवाइजेबल देट एवरीवन शुड नो। किंगस सेन्ट आर डिलीवर्ड दियर मेसेज इन दिस फार्म एण्ड दि मैसेज ऑफ दि गॉड्स वेहर फ्रिक्वेन्टली कन्वेयड इन दि फार्म ऑफ एनिग्मा।

अंग्रेजी तथा अन्य योरपीय भाषाओं में पहेलियों की परम्परा रही है। बाइबल की पहेलियां अधिकांशतः सृष्टि के छिपे हुए रहस्यों के प्रकटीकरण की ओर संकेत करने के लिए प्रसिद्ध हैं। कई कवियों ने मात्र पहेलियों की रचना करके ही प्रसिद्धि प्राप्त की है। इनमें 'स्फिनिक्स' का नाम उल्लेखनीय है। पहेलियों की रचना यूनानियों का प्रिय विषय रहा है। वहां पहेली प्रतियोगिताएं आयोजित की जाती थीं। यूनान के (११वीं शताब्दी) सेनस, वासिक्स, मेगालो, मितिस तथा ओलिकालमस नामक प्रसिद्ध कवियों ने केवल पहेलियों की रचना की है। यूनान में तो यह प्रथा थी कि सफल व्यक्तियों के वरण के लिए प्रतियोगिता का आयोजन किया जाता था। वहां तो यहां तक होता था कि पहेली बुझाने के प्रश्न पर दो शासकों में प्रतिद्विन्द्वता होती थी और न बुझा सकने वाले को मौत के घाट उतार दिया जाता था।

मध्यकाल में आंग्ल-लेटिन कवियों ने छन्द-बद्ध पहेलियां लिखीं। प्राचीन हिब्रू कविता की भी पहेली तैयार करना एक विशेषता थी। यहूदी कवियों ने भी छन्द-बद्ध पहेलियां लिखीं। यहूदी कवि अलहटी (१३वीं

१. डॉ० पुरुषोत्तमलाल मेनारिया : राजस्थानी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २०१

१. नानूराम संस्कर्त्ता : राजस्थानी लोक साहित्य, पृष्ठ २०१

२. दी गोल्डन बाउ, वोल्यूम ६, पृष्ठ १२१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शताब्दी) ने पहेलियाँ लिखीं। इंगलैण्ड में स्विफट ने स्याही, कलम, पंख जैसे विषयों पर पहेलियां लिखीं। इसी परंपरा के उपरान्त शिलेर तथा अंग्रेजी के परवर्ती कवियों ने पहेलियों के निर्माण में कलात्मक एवं साहित्यिक सौंदर्य लाकर इन्हें मनोरम रूप प्रदान किया। फ्रांस में १७वीं शताब्दी में पहेली बनाना साहित्यकारों का प्रिय विषय बन गया। अफ्रीका तथा अन्य देशों में भी पहेली लिखने का रिवाज प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। एक पौराणिक कथा के अनुसार मिस्र के राजा 'एपेसिस' तथा 'इथोबी' के राजा में पहेली प्रतियोगिता का उल्लेख मिलता है।[१] भारत के मूल निवासियों में से मण्डला के गोड़ और प्रधान तथा मीर घैर जातियों के विवाह के अनुष्ठानों में पहेली बूझाना भी एक आवश्यक बात मानी गई है।[२]

पहेली बुझोवल नृ-विज्ञान की दृष्टि से भी बहुत महत्वपूर्ण अनुष्ठानिक कर्म रहा प्रतीत होता है। फ्रेजर ने 'गोल्डनबाउ' में विविध आदिम जातियों में विविध संकट और संशय के क्षणों में पहेली बुझोवल की सत्ता के उदाहरण दिए हैं। पहेलियों का जन्म कब और क्यों हुआ यह बता पाना सहज कार्य नहीं है। पर प्रत्येक कार्य के आविष्कार के मूल में कोई न कोई कारण तो अवश्य होता है। पहेलियों पर इस दृष्टि से विचार करते हैं, तो लगता है कि इनके उद्घाटन में गुप्तता का भाव व्यापक रहा है। गोपनीय बात अथवा कथन को असम्बन्धित व्यक्ति न जान ले के भाव के साथ गोपनीय की गोपनीयता बनाये रखने में पहेलियों की सार्थकता मानी जाती थी।

संकेत से बात करने की प्रवृत्ति प्राचीन काल से चली आ रही है। जब मानव के पास वाणी नहीं थी तब वह भी पशु-पक्षियों की भाँति संकेतों के माध्यम से ही अपनी आवश्यकता, आकांक्षा प्रकट करता था। आज भी मूक व्यक्ति संकेतों के आधार पर अपनी बात दूसरों को समझाते हैं और अन्य लोगों से उत्तर ग्रहण कर संतोष का अनुभव करते हैं। किन्तु जब वाणी प्राप्त हो गई और लिपि का भी आविष्कार हो गया, तब पहेलियों का उपयोग गोपनीय प्रसंगों के आदान-प्रदान के रूप में होने लगा। लोक-साहित्य की प्रणय-कथा में परकीया नायिकाओं तथा विधिवत विवाह के पूर्व नेत्र-प्रेमियों के संदेशों के रूप में पहेलियों का प्रयोग मिलता है। इन कथाओं में नायिका अपनी चतुर सहेली, दासी, नायण, मालिन आदि के द्वारा अपने मन की व्यथा के प्रति समर्पण और नायक का चतुर कुम्हारी, मालिन आदि के माध्यम से प्रेमिका को अपना संदेश भिजवाने के अनेक सन्दर्भों में प्रहेलिकाओं के प्रयोग के उदाहरण उपलब्ध होते हैं। तदनतर जब समाज में विधिवत विवाह और मर्यादा का विधान दृढ़ हुआ, तब पहेलियों का वह गोपनीय स्वरूप विवाह तथा द्विरागमन के समय नायक अथवा दूल्हे के समक्ष दुल्हिन की सखियों, सालाहेलियों और सालियों के द्वारा खुले रूप में पहेलियां पूछने के रूप में प्रचलित हो गया। हरियाणा प्रदेश के गांवों में जवाई की बुद्धि परीक्षा के लिए पहेलियों के रूप में 'सींटणे' पूछे जाने की प्रथा प्रचलित है, जिन्हें कहीं-कहीं छूने या छन्द भी कहते हैं।[१] अतः ऐसा प्रतीत होता है कि पहेलियों का जन्म तब हुआ जब मानव के बौद्धिक विकास के उपरांत उसकी बुद्धि की परीक्षा लेने की आवश्यकता प्रतीत हुई होगी।[२]

भारतवर्ष में पहेलियों की परम्परा वेदों के उपरान्त लौकिक हुई प्रतीत होती है, या लोक क्षेत्र में भी यह साथ-साथ चली। इसके साथ ही जीवन और मरण से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध होगा, ऐसा विदित होता है। महाभारत में यक्ष ने पाण्डवों से इसी प्रकार की पहेलियां पूछी हैं। यक्ष सारस का रूप धारण करके एक जलाशय में खड़ा हो गया था। वहां पर नकुल, सहदेव, अर्जुन और भीम

१. प्रतापसिंह नरुका : राजस्थान पहेलियां (अप्रकाशित लघुप्रबन्ध), पृष्ठ १६
२. मैन इन इंडिया का एन इण्डियन रीडल बुक, अंक संख्या ४ में वेरियर एलिविक लिखित नोट आन दी यूज आफ रीडल्स इन इंडिया, पृ० ३१६

१. डा० शंकरलाल यादव : हरियाणा प्रदेश का लोक साहित्य, पृ० ४३६
२. डा० कन्हैयालाल शर्मा : हाड़ौती लोक साहित्य (साहित्य खण्ड), पृ० २३०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक-एक करके पानी लेने गये, किन्तु यक्ष की पहेलियों का उत्तर न दे सकने के कारण न तो वे पानी ले सके और न ही वे लौट सके। वहीं पर उनकी मृत्यु हो गई। अन्त में युधिष्ठिर गए, उन्होंने यक्ष की पहेलियों का उत्तर दिया और यक्ष ने प्रसन्न होकर चारों पाण्डवों को जीवन दान दिया। इस प्रकार पुराण काल की पहेलियों का इस रूप में हमें उदाहरण मिल जाता है। लोक कथाओं के संग्रह में तो इसकी परम्परा और भी अधिक पुष्ट है। कथा सरित् सागर में कई कहानियां हैं, जिनमें पहेली बुझौवल को एक अभिप्राय: के रूप में माना गया है।

भारतीय भाषाओं में पहेलियों का प्राचीन काल से ही सर्वत्र बोल-बाला रहा है। वैदिक काल में वह ब्रह्मोदय के रूप में प्रचलित थी। महाभारत में अनवरत लेखन के समय 'वेद व्यास' बीच-बीच में कुछ सोने के लिए कूट वाक्यों का प्रयोग करते थे, उन्हें बिना भली-भाँति समझे 'गणेश जी' को भी लिपिबद्ध करने की आज्ञा न थी। इस तरह इस किंवदंती के अनुसार पहेलियों की आड़ में ही दोनों को विश्राम व अवकाश सोचने-समझने के लिए मिलता जाता था। अतएव वृहद् महाभारत में पहेलियों के प्रतीक वाक्यांश अनेक स्थलों पर जिज्ञासुओं को दिखाई देते हैं। इस संकेत से पता लगता है कि महाभारत में भी पहेलियों की परम्परा रही थी। लोक-जीवन में बराबर पहेलियों का निर्माण होता ही चला गया, किन्तु पहेलियों की दृष्टि से लिखित साहित्य भी सम्पन्न रहा है।

भारतीय परिवेश में आगे चलकर यह परम्परा जैन-साहित्य में भी रही। इसमें 'हिंयाली' जैसी रचनाएं पहेलियों की अनुरूपता की सूचक हैं। इनके १२वीं तथा १३वीं शताब्दी में होने के प्रमाण मिलते हैं। चौदहवीं शताब्दी से लेकर १६वीं शती तक जैन कवियों द्वारा लिखी गई पर्याप्त हियाल्यिां उपलब्ध हैं।

जैन कवियों के अतिरिक्त निर्गुण सन्त साहित्य परम्परा में हठ योगियों ने भी इसे अपनाया।

"गंगा यमुनर्योर्मध्ये बालरण्डा, तपस्विनी
बलात्कारैण गृहर्णी-यात विष्णो परम पदम्।"[१]

१. हठयोग प्रदीपिका ३।१०२।

यहां बाल विधवा तपस्विनी के साथ बलात्कार करने की बात कर, श्रोता को आतंकित करने की चेष्टा की गई है, किन्तु अर्थ में वे बताते हैं कि इड़ा गंगा है, पिंगला यमुना है तथा इड़ा और पिंगला के बीच कुण्डलिनी ही बाल विधवा है।

प्रतीकों के माध्यम से गोपनीय प्रसंगों की अभिव्यक्ति की परम्परा वेदों से चलती हुई आई। बाद में तांत्रिक गुह्य उपासना में इसका विशेष स्थान रहा। वामाचार में तो प्रायः अभिव्यक्तियां प्रतीकात्मक हो गईं। प्रतीकों के प्रयोग से ऐसी परस्पर विरोधी स्थितियों को नियोजित किया गया कि पाठकों के लिए विस्मय कारिणी बन गईं। कबीर, दादू, रज्जब, निर्गुण सन्त धारा के और भी अनेक सन्त कवियों ने प्रतीकात्मक उलटवासियों के माध्यम से ऊंची-ऊंची (गहनतम अस्पष्टतम्) अनुभूतियों को स्पष्ट किया। उलटवासियां पूर्ण रूप से पहेली नहीं, परन्तु इसी परम्परा और शैली की हैं। इसलिए पहेलियों के क्रमिक विकास में उलटवासियों की चर्चा नितान्त आवश्यक है। गोरख वाणी के संवादों में पहेलियों की झलक दिखाई देती है।

प्रेमाख्यानक काव्यों में पहेलियों की लिखित परम्परा उपलब्ध होती है। ढोला मारु रा दूहा, सदयवत्सवीर प्रबन्ध, माधवानल कामकंदला प्रबन्ध में पहेलियों के उत्कृष्ट रूप देखे जा सकते हैं।[१] हिन्दी में अमीर खुसरो की पहेलियां और मुकरियां भी पहेली परम्परा की कड़ी हैं।[२]

———

१. तरुणी पुणोवि गहियं परीच्चय मितरण पिउ दिट्ठं।
कारण कवण समाणे दीपक्को धणए सीसं।
—सं० त्रय, ढोला मारु रा दूहा, संख्या ५७५

२. एक पुरख जब मद पर आय,
लाखों नारी संग लपटाय।
जब नह नारी मद पर आय,
तब वह नारी नर कहलाय॥
—खुसरो की पहेलियां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुशेश्वर चौधरी
द्वारा डॉ० शशिभूषण 'शीतांशु'
कॉलेज पथ, मुंगेर (बिहार)

प्रसाद के नाटकों के चरित्र-चित्रण में राष्ट्रीय-भावना

चरित्र-चत्रिण के लिए नाटक श्रेष्ठ कला है। नाटक में चरित्र-चत्रिण सहज नहीं है। केवल छंटी हुई दृश्यावली के कारण सम्पूर्ण चरित्र की एक-सूत्रता स्थापित करने में विशेष प्रतिभा एवं शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। साहित्य की कोई भी विधा इसमें वंचित नही रहती। साहित्य अपनी सभी कलाओं के साथ रंगमंच पर उतर पड़ता है। नाटकीय रंगमंच पर हम कभी तो शान्ति का गान सुनते हैं तो कमी क्रान्ति का आह्वान, कभी मुस्कान तो कभी रोदन, कभी दार्शनिक का चिन्तन तो कभी पागल का प्रलाप। इसलिए नाट्य साहित्य को साहित्य की 'तिलोत्तमा विधा' कहा गया है। जीवन अपनी सम्पूर्ण सत्यता के साथ नाटक के रंगमंच पर उपस्थित होता है। अत: निकोले ने सत्य ही कहा है—'Drama is a copy of life, truth of action and reality of religion.' पात्रों की मानसिक और भावात्मक परिस्थतियों के चित्रण द्वारा उसकी आंतरिक और वाहय वृत्तियों को प्रकाशित किया जाता है। चारित्रिक उत्थान-पतन, मानसिक उतार-चढ़ाव और विभिन्न भावों और आदर्शों का अंकन नाटक में सर्वत्र ही होता है। उपन्यास और नाटक के चरित्र-चित्रण में अन्तर रहता है क्योंकि उपन्यासकार के पास स्थान और समय की कोई कमी नहीं होती। वह अपने उपन्यास के अन्तर्गत कहीं भी कथोपकथन या वार्तालाप द्वारा चारित्रिक विशेषताओं को प्रदर्शित कर सकता है। वह अपनी इच्छा से भी टीका-टिप्पणी करके चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट कर सकता है। लेकिन नाटककार को यह स्वतंत्रता नहीं रहती। उसके पास निर्मंत्रित स्थान और समय होते हैं। वह पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्वयं प्रकाशित नहीं कर सकता है। वह चरित्रगत विशेषताओं को कथावस्तु, घटनाओं और कथोपकथन द्वारा ही बतला सकता है। आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र ने नाटक में तीन प्रकार से चरित्र-चित्रण संभव बताया है।

(क) "कथोपकथन द्वारा, जब पात्र आपस में वार्तालाप करते हैं तब हम पात्रों की बातचीत के ढंग से उनके चरित्र का अनुमान लगा सकते हैं। जब वे एक दूसरे के विषय में बातचीत करते हैं तो वे स्वयं एक दूसरे की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित करते हैं।

(ख) स्वगत कथन भी चरित्र चित्रण का एक उत्कृष्ट प्रकार है। एकांत में मनुष्य जब अपने आप सोचता है और विचार की अभिव्यक्ति करता है तो वह स्वयं ही अपनी चारित्रिक विशेषताओं को प्रकाशित कर देता है। आंतरिक संघर्ष का चित्रण भी स्वगत कथन द्वारा हो सकता है।

(ग) कार्य कलाप मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन का प्रमुख साधन है क्योंकि हम मनुष्य की उच्चता और नीचता का अनुभव उसके कार्यों द्वारा ही कर सकते है।"[1]

प्रसाद जी के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक हैं। ऐतिहासिक नाटक में पात्रों के चरित्र-चित्रण की कुछ

१. प्रसाद और स्कन्दगुप्त, आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र, पृष्ठ ४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमाएं हैं। इस तरह के नाटक के सभी प्रमुख पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति ही होते हैं। ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध में लोगों की जानकारी बहुत कुछ पहले से ही रहती है। फिर भी नाटककार को इतनी स्वतंत्रता तो अवश्य रहती है कि वह कुछ नवीन प्रवृत्तियों, उद्देश्यों तथा मानसिक अवस्थाओं का समावेश पात्रों में इस प्रकार करे जिससे वे सर्वसाधारण के लिए सहानुभूति के पात्र हों और हमारे साथ पात्रों का साधारणीकरण हो जाय। उदाहरण के लिए चन्द्रगुप्त नाटक के चाणक्य को देखा जाय। चाणक्य को इतिहासकार ने अत्यंत नृशंस हृदय का बतलाया है, लेकिन प्रसाद जी ने सुवासिनी के प्रति स्नेहाकर्षण का समावेश करके उसमें एक ऐसी मानवीय विशेषता भर दी जिससे वह सर्वसाधारण के लिए आकर्षक बन गया है।

इतना होने पर भी नाटककार को यह स्वतंत्रता नहीं रहती है कि वह अपने पात्र को इतिहास की परम्परा से पूरा बदल सके। ऐसा होने पर लोगों का ऐतिहासिक नाटककार पर से विश्वास ही उठ जायगा।

इसी मानदंड से प्रसाद के पात्रों के चरित्र-चित्रण को देखना चाहिए। प्रसाद जी को अपने ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र-चित्रण में काफी सफलता प्राप्त हुई है। प्रसाद जी ने अपने नाटक में तीन प्रकार के पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है—देव, दानव और मानव। प्रेमानन्द, (विशाख नाटक) वेदव्यास, च्यवन (जनमेजय का नागयज्ञ), सुएनच्यांग, दिवाकर मित्र (राज्यश्री नाटक), भगवान बुद्ध (अजातशत्रु नाटक), तथा दाण्ड्यायन (चन्द्रगुप्त नाटक), ऐसे ही पात्र हैं जिन्हें देव वर्ग में ज्यादा रखा जाता है। इन महात्माओं को उपस्थित करने से युग प्रभावित रहा है। देवदत्त (अजातशत्रु नाटक), विजया (स्कन्दगुप्त नाटक), तथा शान्तिभिक्षु (राज्यश्री), दानव पात्र की श्रेणी में आते हैं। ऐसे पात्र अपनी कुवृत्तियों के कारण समाज का अहित करते हैं। ये पात्र पतन के गर्त में ही गिरते चले जाते हैं। तीसरी कोटि, मानव श्रेणी वाले पात्र ही प्रसाद के नाटक में अधिक हैं। इन पात्रों में कुछ मानवोचित दुर्बलताएँ भी हैं, लेकिन वे इन दुर्बलताओं से युद्ध करते हुए आगे बढ़ते हैं। अवसर आते ही अपने चरित्र को ऊँचा उठाते हैं। ऐसे पात्रों में चारित्रिक विकास दिनों-दिन अत्यधिक होता जाता है।

प्रसाद जी ने इन तीनों कोटियों के पात्रों का चित्रण उनके अपने निजी गुणों के अनुसार ही किया है। उनके चरित्र का स्वाभाविक विकास होता गया है। कोई भी चरित्र प्रयास पूर्वक नहीं चित्रित किया गया है। सभी पात्रों की अपनी-अपनी विशेषताएं हैं जो नाटक में सर्वत्र एक सी हैं। कुछ पात्रों का चरित्र अंत में परिवर्तित हो गया है। ऐसा प्रसाद जी ने इसलिए किया कि मानव परिस्थितियों का दास है। हर मनुष्य के अन्दर दैवी वृत्तियां और राक्षसी वृत्तियां मौजूद रहती हैं। दोनों में परस्पर संघर्ष चलता रहता है। परिस्थिति के प्रभाव से राक्षसत्व पर देवत्व की विजय होती ही रहती है। यह विजय प्रसाद जी हृदय-परिवर्तन के सदेश द्वारा दिलाते हैं। प्रसाद जी के नाटकीय पात्रों की सामान्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए डा० बच्चन सिंह ने उन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया है—

१. महत्वाकांक्षी पात्र—विकट घोष (राज्यश्री नाटक), कुणीक, विरुधक (अजातशत्रु नाटक), भटार्क (स्कन्द गुप्त नाटक) आदि।

२. राष्ट्रीय एकता और स्वतंत्रता के लिए सब कुछ उत्सर्ग कर देने वाले स्त्री पुरुष—स्कन्द-गुप्त, चन्द्र-गुप्त, चाणक्य, सिंहरण, अलका, मालविका, देवसेना आदि इसी तरह के पात्र हैं।

३. कूट के आचार्य।

४. भारतीय आध्यात्मिकता के प्रतीक महात्मा और ऋषि: गौतम बुद्ध, दाण्डयायन और मिहिर देव आदि।

५. भारतीय नारीत्व के प्रतिनिधि पात्र: मल्लिका। आदि।

६. परिस्थितियों से टूटने और निर्मित होने वाली स्त्रियां—ध्रुवस्वामिनी आदि।

७. गीतिमय पात्र-कोमा आदि।[1]

अब प्रसाद जी के नाटकों में अलग-अलग चरित्रों

१. हिन्दी नाटक-डॉ० बच्चन सिंह, पृष्ठ ६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को लेकर राष्ट्रीय भावना की दृष्टि से उसकी समीक्षा की जाय। "चन्द्रगुप्त नाटक" के नायक चन्द्रगुप्त का चरित्र एक युवा, बुद्धिमान, उत्साही, वीर, दृढ़-प्रतिज्ञ, आत्म-सम्मानी, प्रतापवान एवं दिव्य व्यक्ति का चरित्र है। एक राष्ट्रभक्त व्यक्ति में जो भी आदर्श गुण होने चाहिए वे सब के सब चन्द्रगुप्त में दिखलाई पड़ते हैं। राष्ट्रीय भावना का मन्त्र फूंकने के लिए ही प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के चरित्र को लिया है। नाटक के प्रारम्भ से अंत तक हम देखते हैं कि चन्द्रगुप्त के हृदय में राष्ट्रीय भावना लबालब भरी हुई है। उसके हृदय में आर्यावर्त के प्रति असीम प्रेम है। वह नाटक के प्रारम्भ में ही आम्भीक को गर्व पूर्वक कहता है…"प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतन्त्र है। उसे कोई बंदी नहीं बना सकता।"[1] साहस और धैर्य का उसके पास अक्षय भंडार है। वह आत्म-सम्मान को जीवन की सर्वश्रेष्ठ विभूति मानता है। वह अकेले ही यवन सेना को देश से बाहर कर देने की प्रतिज्ञा चाणक्य के सामने करता है। सिकन्दर जब उससे कहता है… "मगध का वर्तमान शासक नीच-जन्मा जारज सन्तान है। उसकी प्रजा असन्तुष्ट है और तुम उस राज्य को हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहे हो?" तो चन्द्र गुप्त जिस गर्वोक्ति से उत्तर देता है वह एक भारतीय युवक के लिए ही संभव है—"हस्तगत! नहीं, उसका शासन बड़ा क्रूर हो गया है, मगध का उद्धार करना चाहता हूँ।"[2]

चन्द्रगुप्त यूनानी शिविर में है। वहाँ सिकन्दर उसे मिलाना चाहता है लेकिन वहां भी चन्द्रगुप्त सिकन्दर को फटकार देता है—"मुझे लोभ से पराभूत गान्धार राज आम्भीक समझने की भूल न होनी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ, परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।[3] वह ग्रीक शिविर में रह कर भी ग्रीक को लुटेरा घोषित का देता है। उसी समय वह आम्भीक से भी स्पष्ट शब्दों में कहता है—"स्वच्छ हृदय भीरु कायरों की सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य्य! देश द्रोही! आम्भीक! चन्द्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया हैं।"[1] चन्द्र गुप्त की नस-नस में वीरता भरी हुई है। उसके पास अलौकिक साहस है। वह चाणक्य को अकेले ही बन्दीगृह से छुड़ा लेता है। जब ग्रीक शिविर में फिलिप्स, एनिसाक्रटीज, आम्भीक उस पर टूट पड़ते हैं उस समय भी वह अलौकिक, असाधारण वीरता से तीनों को घायल करता हुआ निकल जाता है। उसकी इस अलौकिक वीरता की सराहना सिल्यूकस भी सिकन्दर से करता है।—"चन्द्रगुप्त वीर युवक है। यह आचरण उसकी भावी श्री और पूर्ण मनुष्यता का द्योतक है, सम्राट!"[2]

युद्ध की सारी योजना चाणक्य बनाता है लेकिन उसे कार्य-रूप में परिणत करता है चन्द्रगुप्त ही। वह घोर संकट-काल में भी नहीं घबराता। चाणक्य और सिंहरण भी जब उसका साथ छोड़ देते हैं तब वह अकेले ही हर संकट का मुकाबला करने को तैयार है। उसने विजय को ही अपना चिर-सहचर बना लिया है।

इन गुणों के अलावा चन्द्रगुप्त माता-पिता की सेवा के लिए हमेशा तैयार रहता है। यहां तक कि वह चाणक्य की आज्ञा का हमेशा पालन करता है। चाणक्य जब उससे रूठकर चले जाते हैं तो वह पुनः चाणक्य को मनाने के लिए जाता है और अपनी भूल स्वीकार करता है। प्रसाद जी ने चन्द्रगुप्त के चरित्र के द्वारा भारत के प्रत्येक व्यक्ति को संकट एवं गुलामी की घड़ी से मुकाबला करने के लिए तैयार कर दिया है। वे भारत को स्वतन्त्र देखना चाहते थे और स्वतंत्रता के मार्ग में चाहे कितनी भी बाधाएँ क्यों न हों उनका सामना करने के लिए प्रत्येक नागरिक को कटिबद्ध कर देना चाहते थे।

"चन्द्रगुप्त नाटक" के महत्वपूर्ण पात्र चाणक्य का चरित्र-चित्रण एक राजनीतिक, दूरदर्शी, कर्मठ, दृढ़ आत्मविश्वासी तथा अपने अथक परिश्रम से सभी

१. चन्द्रगुप्त नाटक, प्रथम: अंक, पृष्ठ ५७
२. चन्द्रगुप्त नाटक, द्वितीय अंक, पृष्ठ १०४
३. चन्द्रगुप्त नाटक, द्वितीय अंक, पृष्ठ १०५

१. चन्द्रगुप्त नाटक, द्वितीय अंक, पृष्ठ १०६
२. चन्द्रगुप्त नाटक, द्वितीय अंक, पृष्ठ १०६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाटकीय घटनाओं को अपने अनुकूल मोड़ देने की सामर्थ्य रखने वाले एक अद्भुत प्रभावशाली व्यक्ति के रूप में हुआ है। वह वही काम करता है जो अपने मन में सोचता है। उसके अनुकूल ही सब काम होता है। उसका एक ही स्वप्न है, आर्य्यावर्त को स्वतंत्र कर उसे अखंड राज्य बना देना। इसी स्वप्न की पूर्ति के लिए आजीवन कठोर संघर्ष करता है। कर्त्तव्य की पुकार पर वह प्रेम को भी तिलांजलि दे देता है। नाटक के प्रारम्भ में हम उसे तक्षशिला विश्वविद्यालय के एक आचार्य के रूप में देख रहे हैं। वहां चन्द्रगुप्त और सिंहरण जैसा देश-भक्त उसका शिष्य है। वह तक्षशिला के गुरुकुल में भी अपने शिष्यों से देश की तात्कालिक राजनीतिक स्थिति की चर्चा करता है और अपने शिष्यों को शास्त्र के अलावा शस्त्र विधा की भी शिक्षा देता है। चन्द्रगुप्त एवं सिंहरण से देशोद्धार की बात करता है।

नन्द की राजसभा में भी वह नन्द के सामने आर्य्यावर्त की दुःस्थिति पर प्रकाश डाल रहा है। लेकिन नन्द उसे भरी सभा में अपमानित करता है। इसी क्षण चाणक्य का स्वाभिमान गरज उठता है और जब उसकी शिखा पकड़कर घसीटा जाता है तो चाणक्य बोल उठता है—"खींच ले ब्राह्मण की शिखा! शूद्र के अन्न से पले हुए कुत्ते! खींच ले। परन्तु यह शिखा नन्द कुल की कालसर्पिणी है, वह तब तक न बंधन में होगी, जब तक नन्द कुल निःशेष न होगा।"[1] और सचमुच नन्द की हत्या होने के कुछ ही क्षण पहले वह अपनी शिखा बांधता है। यवन सेना को मार भगाने का सारा कार्यक्रम वही तैयार करता है। सिल्यूकस और सिकन्दर भी उसकी सराहना करते हैं। वह आजीवन श्रम करता है लेकिन अपने श्रम के बदले पारितोषिक नहीं लेना चाहता। अपने स्वाभिमान का इतना पक्का है कि ज्यों ही चन्द्रगुप्त उसकी अवज्ञा करते हैं, वह सन्यास लेकर चल देता है। लेकिन उस हालत में भी वह देश हित नहीं भूल पाता। महात्मा गाँधी की तरह ही चाणक्य का भी चरित्र है, जिन्होंने आजीवन देश की सेवा की और उस सेवा का कोई मूल्य नहीं लिया। सेवा करते हुए ही उनकी मृत्यु हो गई। यही स्थिति चाणक्य की भी हुई। भारतवर्ष के इतिहास में निःस्वार्थ देश-प्रेम के लिए चाणक्य का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा। ऐसे व्यक्ति की ही आवश्यकता है इस भारतवर्ष को। अगर इस तरह के दस-बीस व्यक्ति भी भारतवर्ष में जन्म ले लें तो भारत दुनियां के सब देशों से आगे बढ़ जायगा। सुवासिनी तो चाणक्य के लिए सर्वस्व समपर्ण करने को तैयार थी मगर चाणक्य ने देश-प्रेम के नाम पर उसे भी त्याग दिया। अपने माता-पिता के लिए उसके हृदय में असीम स्नेह है। वह बार-बार जन्मभूमि की याद करता है। क्षमा, दया जैसे ब्राह्मणों का मूल धर्म हो गया है। चाणक्य भी अंत में सब को क्षमा कर देता है। अपनी मृत्यु चाहने वाले को भी चाणक्य क्षमा कर देता है। न्याय के लिए कितना भी युद्ध क्यों न करना पड़े चाणक्य की दृष्टि में थोड़ा ही है। अपने लिए दया किसी से न मांगना और अधिकार तथा अवसर मिलने पर कुपात्र पर दया न करना यही चाणक्य की नीति थी। वह पूर्ण नीति-कुशल व्यक्ति था इसीलिए हम आज भी उसके नीति शास्त्र की सराहना करते हैं।

चन्द्रगुप्त नाटक में सिंहरण का चरित्र भी राष्ट्रीयता की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है। नाटक के प्रारम्भ में ही वह चाणक्य को आर्य्यावर्त की स्थिति के बारे में बता रहा है। यही कारण है कि वह तक्षशिला के गुरुकुल में शास्त्र की अपेक्षा शस्त्र की शिक्षा ग्रहण करना ज्यादा महत्वपूर्ण मानता है। उसका चरित्र पूर्ण निर्भीक है। राजकुमार आम्भीक को भी वह निर्भीकता पूर्वक उत्तर देता है और उसके द्वारा की गई गलतियों की ओर ध्यान आकर्षित कराता है। युद्धभूमि में भी वह हर समय देश के चरणों में अपने को बलिदान करने के लिए तैयार रहता है। युद्ध के समय वह अपने हृदय से स्वार्थ का त्याग कर चन्द्रगुप्त को मालव का सेनापति मान लेता है। वह अपनी मालव सेना के साथ मरने-मारने को तैयार रहता है। अंत में हम कह सकते हैं कि सिंहरण के चरित्र में वीरता और प्रेम की परिपूर्णता साथ-साथ पाई जाती है।

१. चन्द्रगुप्त नाटक, प्रथम अंक, पृष्ठ ७७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चन्द्रगुप्त नाटक के पुरुष पात्रों में कुछ अन्य भी पात्र है जिनके चरित्र में राष्ट्रीयता की झलक मिलती है, जैसे आम्भीक और पर्वतेश्वर फिर सिल्यूकस और दाण्डयायन। आम्भीक और पर्वतेश्वर अन्त में स्वार्थ त्याग कर देश भक्ति के लिए तैयार हो जाते है। दाण्डयायन के चरित्र से भारतीय अध्यात्म का परिचय मिलता है, एवं ऋषि-महात्माओं को मुक्त जीवन बिताने की सूचना मिलती है। ऐसे लोग तपस्या और साधना के द्वारा देवत्व को प्राप्त कर लेते थे। वे जो कुछ भी भविष्यवाणी कर देते वह अवश्य घटित हो जाता था।

अब नारी पात्रों के चरित्र को देखा जाय। प्रसाद जी ने स्त्री पात्रों के चरित्र को पुरुष पात्रों से भी ज्यादा निखार दिया है। स्त्री पात्रों के चित्रण में प्रसाद जी ने अधिक कुशलता दिखाई है। ऐसे पात्रों में अलका, कार्नेलिया, मालविका और सुवासिनी मुख्य हैं। इस दृष्टि से अलका का चरित्र सबसे ज्यादा महत्व का है। उसके चरित्र में व्यक्ति-प्रेम और देश-प्रेम का अपूर्व समन्वय पाया जाता है। वह त्याग और कर्त्तव्यपरायणता की प्रतिमा सी दिखलाई पड़ती है। देशोद्धार के लिए पिता का राजभवन एवं राजकीय सुखों को छोड़कर सैनिकों का संचालन तथा दुर्ग रक्षा का कार्य करती हुई युद्ध में आहत सैनिकों की सेवा-शुश्रूषा करने वाली अलका को प्रसाद ने साक्षात् श्रद्धा के रूप में चित्रित किया है। कार्नेलिया एक विदेशी पात्र है फिर भी प्रसाद जी ने उसे भारतीय अन्तःकरण प्रदान किया है। भारतीय वातावरण में वह पूर्णतया घुल-मिल गई है। भारतीय नारी की तरह उसका प्रेम भी संयमित और गम्भीर है। भारतवर्ष के राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाने में वह भी योगदान देती है। प्रसाद जी ने कार्नेलिया का चरित्र-चित्रण भारतीयता में रंग दिया है।

कल्याणी का चरित्र-चित्रण भी प्रसाद जी ने एक आदर्श रमणी की तरह किया है। पर्वतेश्वर के द्वारा अपमानित होकर वह हमेशा अपने अपमान का बदला वसूलने की फिक्र में रहती है। वह चाहती है कि यवन-युद्ध में पर्वतेश्वर के पराजित होते ही यवनों से युद्ध करेगी। यवनों को पराजित कर और अपने शौर्य का प्रदर्शन कर पर्वतेश्वर को लज्जित करेगी। ऐसा अवसर कल्याणी को हाथ नहीं आता फिर भी पर्वतेश्वर युद्ध-भूमि में उसे देखते ही लज्जित हो जाता है। नन्द का वध हो जाने पर पर्वतेश्बर कल्याणी को बल-पूर्वक पकड़ना चाहता है लेकिन उसी समय वह पर्वतेश्वर का वध कर देती है। पुनः जब चन्द्रगुप्त को वरण करने का प्रश्न उसके सामने आता है तो वह पितृ-विरोधी होने के कारण लोक-लाज की मर्यादा को स्थायी रखने के लिए चन्द्रगुप्त के सामने ही आत्महत्या कर लेती है। इससे कल्याणी के चरित्र-चित्रण में प्रसाद जी ने एक वीर क्षत्राणी की वीरता और आत्म-सम्मान का भाव भर दिया है। मालविका का चरित्र मूक बलिदान का आदर्श चित्रण है। वह चन्द्रगुप्त की जीवन-रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राण उत्सर्ग कर देती है। चन्द्रगुप्त नाटक के सभी चरित्रों के आदर्श को देखकर ही डॉ० दशरथ ओझा ने कहीं लिखा है—"प्रसाद जी जिस प्रवृत्ति और उद्देश्य को लेकर नाटक निर्माण में तल्लीन हुए थे, उसका चरम् उत्कर्ष चन्द्रगुप्त नाटक में प्रगट होता है।"

'स्कन्द गुप्त नाटक' में स्कन्द गुप्त का चरित्र-वीर, निराभिमानी, गंभीर, धैर्यवान्, स्वावलम्बी, उदार, विनीत, दृढ़-संकल्प, कर्त्तव्यपरायण, व्यवहार-कुशल, मृदु-भाषी और शीलवान् का चरित्र है। निष्काम् भाव से जीवन के कठोर कर्मक्षेत्र में वह अवतीर्ण होता है। जीवन के विविध व्यापारों में वह निरंतर संघर्ष करता है। अंत में वह अपने अतुलनीय पराक्रम से उपार्जित साम्राज्य को अपने छोटे भाई पुरगुप्त को दान कर पूर्णतया निष्काम हो जाता है। घोर से घोर संकट का सामना करते हुए भी स्कन्दगुप्त आर्य-साम्राज्य के संगठन, रक्षा और उद्धार में जिस साहस, धैर्य, पराक्रम और उत्साह से प्रवृत्त होता है वह उसके महान् चरित्र की विशेषता है। सम्राट् होकर भी एक सामान्य सैनिक जीवन बिताने की इच्छा, विपत्तियों के भंवर-चक्र में फंसे रहने पर भी शरणार्थी की सहायता के लिए हमेशा तैयार रहना, गुरुजनों एवं परिजनों के प्रति शील एवं नियमयुक्त आचरण करना भारतीय राष्ट्रीय चरित्र-चित्रण के ही नमूने हो सकते हैं। स्कन्द-गुप्त अपने अनुपम शील, सौजन्य, उदारता एवं कर्त्तव्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निष्ठा से भारतीयता का प्रतीक बन जाता है। राष्ट्र की रक्षा, सुव्यवस्था और उसके उद्धार के लिए वह आजीवन अनेक संकटों का साहसपूर्वक सामना करता है तथा कभी भी अपने ध्येय से विचलित नहीं होता। नाटक के अन्त में स्कन्दगुप्त का चरित्र इतना निखर कर सामने आया है कि वह अपने त्याग और राष्ट्र-प्रेम के द्वारा सबों को आकर्षित कर लेता है। वह अनन्तदेवी की इच्छा को पूरा कर देता है और भटार्क से कहता है—'भटार्क ! मैंने तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी की। लो, आज इस रणक्षेत्र में पुरगुप्त को युवराज बनाता हूँ। देखना, मेरे बाद जन्म-भूमि की दुर्दशा न हो।'[1]

ऐसा व्यक्ति जिसने जीवन भर रणभूमि में अपना जीवन बिताया हो और शत्रुओं को पराजित करने के बाद वह गद्दी का अधिकारी होने पर भी अपने छोटे भाई को सिंहासनारूढ़ कर स्वयं सिंहासन न ले—आधुनिक युग में भारतवर्ष क्या सम्पूर्ण विश्व में नहीं मिलता। अपने जीवन की एक मात्र-प्रेमिका देवसेना को भी नहीं स्वीकर करता यही है प्रसाद जी का राष्ट्रीय चरित्र-चित्रण।

इसके अलावा स्कन्द गुप्त नाटक के अन्य पात्रों का भी चरित्र-चित्रण राष्ट्रीयता की दृष्टि से काफी महत्व-पूर्ण है। गोविन्द गुप्त अपने भाई कुमारगुप्त से रूठकर कहीं दूसरी जगह रहता है और साधु के वेश में छिपे-छिपे ही साम्राज्य की स्थिति को देखता है। हूणों के आक्रमण के समय प्रकट होकर हूणों से वे लोग युद्ध करते हैं और मार भगा देते हैं। युद्ध छिड़ने का समाचार जानकर वे अत्यन्त चिन्तित हो जाते हैं और मालवा जाने को तत्पर दिखाई पड़ते हैं। पर्णदत्त का चरित्र-चित्रण एक स्वामिभक्त, शूर, साहसी, धैर्यवान् और कर्त्तव्यपरायण, मगध के महा-नायक के रूप में किया गया है। वह गुप्त-साम्राज्य की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। स्कन्दगुप्त भी कहता है—"आपकी वीरता की लेख माला शिप्रा और सिन्धु की लोल-लहरियों से लिखी जाती है, शत्रु भी उस वीर की सराहना करते हुए सुने जाते हैं।"[1] स्वयं पर्णदत्त के मुख से भी उसके चरित्र की महानता व्यक्त हो रही है। पर्णदत्त स्कन्दगुप्त से कहता है—"इस वृद्ध ने गरुड़ध्वज लेकर आर्य चन्द्रगुप्त की सेना का संचालन किया है। अब भी गुप्त-साम्राज्य की नासीर सेना में—उसी गरुड़ध्वज की छाया में पवित्र क्षात्र-धर्म का पालन करते हुए उसी के मान के लिए मर मिटूं—यही कामना है। गुप्तकुल-भूषण ! आशीर्वाद दीजिए, वृद्ध पर्णदत्त की माता का स्तन्य लज्जित न हो।"[2] वृद्ध शरीर होने पर भी जिसे अपने साम्राज्य की इतनी चिन्ता है वह व्यक्ति स्वयं तो महान है ही, अपनी महानता से दूसरों को भी महान् बना दे सकता है। नाटक के अन्त में पर्णदत्त देवसेना के साथ साम्राज्य-सेवा के लिए भीख मांगता है। उसके चरित्र की महत्ता उसके इस कथन से और भी स्पष्ट हो जाती है…"अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का। प्रकृति ने उन्हें हमारे लिए—हम भूखों के लिए—रख छोड़ा है।"[3] इतना महान् व्यक्तित्व और कर्मठता का प्रतीक, पर्णदत्त की मृत्यु भी हूणों के अन्तिम युद्ध में सम्राट् की प्राण-रक्षा में होती है। एक महानायक के लिए जो भी त्याग और संघर्ष अपेक्षित है वह प्रसाद जी ने पर्णदत्त के चरित्र में यथेष्ट रूप में लाकर भर दिया है।

इस नाटक में बंधु वर्मा और भीम वर्मा का चरित्र भी राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से उज्ज्वल है। मालव राज्य पर शक और हूणों का आक्रमण हो गया है। बंधुवर्मा बड़ी बहादुरी के साथ युद्ध करता है। बंधुवर्मा युद्ध के समय साम्राज्य की अखंडता को बचाये रखने की कोशिश करता है, जो आज के युग में किसी के लिए भी एक अनिवार्य मांग है। बंधुवर्मा यह जानता है कि आर्य्यावर्त का जीवन केवल स्कन्दगुप्त के कल्याण में है, अतः मालव को स्कन्दगुप्त के हाथ में सौंप देता है। अपनी पत्नी जय-माला के विरोध करने पर बंधुवर्मा द्वारा दिया गया उत्तर उसके चरित्र में राष्ट्रीय गौरव भर देता है।

१. स्कन्दगुप्त नाटक, पंचम अंक, पृष्ठ १४५

१. स्कन्दगुप्त नाटक, प्रथम अंक, पृष्ठ ६
२. वही
३. वही, पंचम अंक, पृष्ठ १३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक राष्ट्र भक्त के लिए बंधुवर्मा का यह विचार पर्याप्त है। "बंधुवर्मा—यदि उसे स्वप्न में भी यह ध्यान में आता कि उसकी पत्नी वैभव व ऐश्वर्य के लिए उसकी इच्छाओं को ठुकरा सकती है तो वह कुटुम्ब की कमनीय कल्पना को दूर ही से नमस्कार का आजीवन अविवाहित रहता।"[1] उसकी मृत्यु भी हूणों की सेना से विकट युद्ध करते हुए होती है। भीमवर्मा भी अपने भाई के समान ही त्यागी और वीर हृदय का है।

राष्ट्रीय-भावना की दृष्टि से इस नाटक में नारी का चरित्र-चित्रण निखर उठा है, जैसे देवसेना का चरित्र। देवसेना के चरित्र द्वारा मानों प्रसाद जी ने सम्पूर्ण नारी जगत् के आगे त्याग का एक उदाहरण स्वरूप सामने रख दिया है। वह असीम साहसी, कर्त्तव्य-परायण, देशसेवा के लिए कृत-संकल्प नारी है। वह एक वीर क्षत्राणी बाला की तरह शस्त्र चालन द्वारा अपने अदम्य साहसी हृदय का परिचय देती है। वह भीख मांग कर सैनिकों का भरण-पोषण करती है। भिक्षा मांगते समय भी वह धैर्य नहीं खोती है और लोगों का कटाक्ष तक बर्दाश्त करती है। प्रेम तो अपने जीवन में वह सिर्फ स्कन्दगुप्त से करती है मगर इस प्रेम में वासना की गंध तक नहीं आने देती। देवसेना का प्रेम जीवन-मार्ग पर बढ़ने वाला वह उज्ज्वल प्रकाश है जो इस जन्म में क्या दूसरे जन्म में भी प्रेम-मार्ग को प्रकाशित करता रहेगा। इसके अलावा देवकी, विजया, कमला, रामा आदि नारी पात्र भी समय-समय पर देश-रक्षा के नाम पर संघर्ष करती रहती हैं। देवकी क्षमा का अनुपम उदाहरण है। जयमाला पति से प्रभावित होकर देश-सेवा में जुट जाती है। विजया भी अपना छिपा धन सैनिकों के पुनः संग्रह के लिए दे देती है।

'अजातशत्रु नाटक' में भी पात्रों का चरित्र-चित्रण राष्ट्रीयता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। बिम्बसार के चरित्र में त्याग और परहित की भावना कूट-कूट कर भरी हुई है। भिक्षुक के अपने दरवाजे से खाली हाथ लौटते समय उनके हृदय को गहरी वेदना होती है। मल्लिका के चरित्र में भी राष्ट्र-प्रेम दिखाई पड़ता है एवं एक सेनापति का अपने राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य भी स्पष्ट हो जाता है। क्षमा तो जैसे उसके जीवन का सबसे बड़ा आभूषण है। विरुद्धक की क्रूरता एवं विश्वासघात से वह सोहाग से वंचित होकर भी विश्व-मैत्री के अनुरोध से न तो उससे किसी प्रकार का द्वेष ही करती है और न कभी उदासीन ही होती है। वह नाटक में सम्पूर्ण पात्रों पर अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से छा जाती है। डा० बच्चनसिंह ने मल्लिका के इन्हीं चारित्रिक गुणों से प्रभावित होकर कहा है—"स्त्री-सुलभ सौजन्य और सम्वेदना तथा कर्त्तव्य और धैर्य की जीवन्त प्रतिमा मल्लिका के आगे सारिपुत्र, प्रसेनजित, अजातशत्रु और विरुद्धक के साथ पाठकों का शीश भी श्रद्धावनत् हो जाता है। विधाता की सृष्टि का अपार सौन्दर्य, अमिताभ गौतम की असीम करुणा, स्त्री की सम्पूर्ण सरलता और स्निग्धता उसे एक ही साथ प्राप्त हैं।"[1] मल्लिका इस नाटक की एक प्रमुख नारी पात्र है जो विश्व मैत्री की साकार प्रतिमा है। वह किसी से द्वेष करना नहीं जानती। यहां तक कि अपने पति की हत्या का षड्यंत्र रचने वाले घायल प्रसेनजित की सेवा करती है। कोशल रानी महामाया के द्वारा यह जानने पर भी कि उसका पति सेनापति बंधुल मारा जाने वाला है, वह अपने पति को कर्त्तव्य-च्युत नहीं करती बल्कि रानी से कहती है—"रानी! बस करो। मैं प्राणनाथ को अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं करा सकती और उससे लौटने का अनुरोध नहीं कर सकती। सेनापति का राजभक्त कुटुम्ब कभी विद्रोही नहीं होगा और राजा की आज्ञा से वह प्राण दे देना अपना धर्म समझेगा—जब तक कि स्वयं राजा, राष्ट्र का द्रोही न प्रमाणित हो जाय।"[2]

अजातशत्रु का व्यक्तिगत एवं पारिवारिक चरित्र जो भी हो लेकिन प्रसाद जी ने उसके चरित्र में भी वीरता और साहस भर दिया है। वह अपने आत्मविश्वास एवं साहस से आक्रमणकारियों से युद्ध करता है एवं मगध साम्राज्य में स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखता है।

१. स्कन्दगुप्त नाटक, दूसरा अंक, पृष्ठ ६८

१. हिन्दी नाटक, डॉ० बच्चनसिंह पृष्ठ ८९

२. अजातशत्रु नाटक, दूसरा अंक, पृष्ठ ७२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में ध्रुवस्वामिनी, चन्द्रगुप्त, मन्दाकिनी आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण राष्ट्र-हित एवं समाज हित की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो गया है। चन्द्रगुप्त नारी की मर्यादा की रक्षा करता है, एवं एक आततायी और मर्यादाविहीन शासक रामगुप्त का नाश करके ही शांति प्राप्त करता है। ध्रुवस्वामिनी सम्पूर्ण नारी जगत् का प्रतिनिधित्व कर रही है एवं अपने चरित्र के प्रभाव से नारी-समाज को गौरव के उच्च शिखर पर पहुंचाती है। मन्दाकिनी रामगुप्त के कायरपन पर पश्चाताप करती है। ध्रुवस्वामिनी को रामगुप्त के द्वारा शकराज के यहाँ पहुँचाने पर वह कहती है—"मूर्खों ने स्वार्थ के लिए साम्राज्य के गौरव का सर्वनाश करने का निश्चय कर लिया है। सच है, वीरता जब भागती है, तब उसके पैरों से राजनीतिक छलछन्द की धूल उड़ती है।"[1] उसके इस कथन में नारी हृदय के जागरण का स्वर भी स्पष्ट हो रहा है। उसे पुरुष के इस कुकृत्य पर घोर पश्चाताप है।

'जनमेजय का नागयज्ञ' नाटक में सरमा का चरित्र विश्व-मैत्री का प्रतीक स्वरूप है। वह दो जातियों को एक प्रेम सूत्र में लाती है। नागराज के कल्याण के लिए ही सरमा वृद्ध तपस्वी से परिणय सम्बन्ध स्थापित करती है। जनमेजय और मणिमाला के विवाह द्वारा आर्य और नागजाति का वैरभाव सदा के लिए समाप्त कर दिया जाता है।

भारतीय नारी के आदर्श के रूप में राज्यश्री ने किस प्रकार अपना योगदान किया है, 'राज्यश्री' नाटक के माध्यम से प्रसाद जी ने इसे दिखाया है। राज्यश्री दान देते-देते कभी थकती नहीं थी। राज्यश्री की ही प्रेरणा से हर्षवर्द्धन कान्यकुब्ज और प्रयाग में अपना वस्त्र तक दान दे देता है। हर्षवर्द्धन पुरुष जाति की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखता है। राज्यश्री एक वीर क्षत्राणी की तरह युद्धभूमि में लड़ती है और अन्त में चिता में भस्म हो जाना चाहती है।

'कामना' नाटक में प्रसाद जी ने मानव-जाति की विभिन्न प्रवृत्तियों के माध्यम से पात्रों का चरित्र-चित्रण किया है। मानवजीवन में इन सभी वृत्तियों का महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन में जब तक विनोद और सन्तोष का प्राधान्य रहता है तब तक हमें किसी प्रकार का अभाव नहीं खटकता है। हम अपने सीमित साधन में ही सुखी रह सकते हैं। इस नाटक के पात्रों के माध्यम से प्रसाद जी ने भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति की गरिमा की ओर ध्यान दिलाया है कि किस प्रकार हम सुखी और सन्तोष-प्रद जीवन बिताते थे। ज्यों-ज्यों जीवन में कृत्रिमता का समावेश होता गया त्यों-त्यों हमारा जीवन कष्टप्रद होता गया। कृत्रिमता के आने से जीवन में नित्य नई-नई कामनाएं, विलासमय वातावरण, बुरे आचरण, क्रूरता, लालसा, झूठी महात्वाकांक्षा और दम्भ का आगमन होता गया। हमारा जीवन दिनों-दिन भारग्रस्त होता गया। जीवन की नित्य नवीन कामनाएँ जीवन को सरल मार्ग से हटाकर पथ-भ्रष्ट कर देती हैं। पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में भारतीय जीवन में भी अनेक कृत्रिमताएँ आ गई। इस विलासमय वातावरण से जीवन नरक बन गया। अतः प्रसाद जी ने विभिन्न प्रवृत्तियों का पात्र रूप में चरित्र-चित्रण कर प्राकृतिक जीवन में लौट जाने का संदेश दिया है जिससे हम एक बार फिर सुख-चैन की वंशी बजा सकें। प्रसाद जी भला भारतीय संस्कृति की महत्ता को कैसे छोड़ देते? अतः अपने इस नाटक में उन्हें यह अवसर मिला है।

'विशाख' नाटक में भी प्रसाद जी ने लगभग वही काम किया है जो अपने 'कामना' नाटक में। नाटक के चरित्र-चित्रण में भी भारतीय संस्कृति की अर्हता का ही गुण-गान किया है मगर माध्यम उन्होंने दूसरा लिया है। प्रेमानन्द एक सन्यासी है जिसके चरित्र के द्वारा प्रसाद जी ने शांति, अहिंसा, करुणा, परोपकार आदि मानवीय गुणों का संदेश दिया है। चन्द्रलेखा के सरल स्वभाव से उस समय के जीवन में सरलता एवं निश्छल स्वभाव का ज्ञान होता है। विशाख एक आदर्श ब्राह्मण नागरिक है। वह अपने शरीर पर कष्ट झेलकर भी चन्द्रलेखा पर होने वाले अत्याचार से रक्षा करने को सदैव तत्पर रहता है। चन्द्रलेखा के चरित्र में पूर्ण भारतीय रमणी जैसा गांभीर्य एवं शांति विराजमान है।

अतः प्रसाद जी ने अपने इन नाटकीय पात्रों के चरित्र-चित्रण के माध्यम से पुरुष और नारी समाज का नैतिक उत्थान किया है। इन चरित्रों के कार्यकलापों से हमें अपनी प्राचीन संस्कृति का ज्ञान होता है। ये चरित्र भारतीयों के लिए एक प्रेरणा-स्रोत का काम करते हैं।

१. ध्रुवस्वामिनी नाटक, प्रथम अंक, पृष्ठ २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० नरेश
हिन्दी विभाग,
पँजाब यूनिवर्सिटी,
ईवनिंग कॉलेज, चण्डीगढ़

आधुनिक हिन्दी कविता में उर्दू छन्दों का प्रयोग

हिन्दी कविता के आधुनिक युग में कवियों तथा आलोचकों ने छन्द को भावात्मक दृष्टिकोण से देखा तथा लय को ही छन्द की आत्मा स्वीकार किया है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने कविता को प्राणों का संगीत स्वीकार करते हुए, छन्द में लय की विद्यमानता को ही कविता का स्वभाव माना है। उनके विचारानुसार, "अपने उत्कृष्ट क्षणों में हमारा जीवन छन्द में ही बहने लगता है।"[1] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छन्द को आवेग का वाहन स्वीकार करते हुए इसे अभिव्यंजना का उपकरण माना है। उनके निकट अर्थमयी भाषा एवं संगीत के मिलने से ही छन्द की सृष्टि होती है।[2] आधुनिक हिन्दी कविता, जब प्रतिष्ठा की ओर अग्रसर होने लगी, तब उर्दू कविता अपने पैर जमा चुकी थी। निस्सन्देह, हिन्दी के अधिकांश कवि, संस्कारवश, संस्कृत छन्दशास्त्र से लाभ उठा कर, संस्कृत छन्दशास्त्र को ही अपना सकते थे, परन्तु उर्दू छन्दशास्त्र का मोह उनसे न छूट सका। इसका कारण यह था कि संस्कृत तथा फ़ारसी, दोनों ही आर्य परिवार की भाषाएँ थीं, तथा दोनों के छन्द शास्त्र में इतना साम्य था कि हिन्दी के कवियों ने उनके पृथकत्व को महत्त्व ही नहीं दिया। उर्दू ग़ज़ल साहित्य में इतनी प्रतिष्ठापित हो चुकी थी कि हिन्दी कवि अंधाधुंध उसका अनुकरण करने लगे। छायावादी युग में तो हिन्दी कविता पर उर्दू की ग़ज़लों का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा। श्री दुष्यन्त कुमार के शब्दों में, "स्पष्ट ही इन पर (छायावादी गीतों पर) उर्दू की ग़ज़लों का गहरा प्रभाव पड़ा है। अनगिनत गीतों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि गीतकारों ने गीतों को ग़ज़ल का हिन्दी पर्याय बनाने की सी चेष्टा की है, जिसके कारण गीत के भाव की आन्तरिक एकता (नेचुरल यूनिटी) कम हुई और भावों के फुटकरपन तथा असम्बद्धता की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिला।[3]" इसका कारण हिन्दी कवियों की चित्त की उदारता थी। श्रीधर पाठक प्रभृति कवियों की मान्यता थी कि विदेशी भाषाओं के कोई छन्द यदि हिन्दी में सरसता के साथ आ सकें तो उनका ग्रहण भी अनुचित न समझना चाहिए।[4] इसी प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का विचार था कि आजकल की बोलचाल की हिन्दी की कविता, उर्दू के विशेष प्रकार के छन्दों में अधिक खुलती है। अतः ऐसी कविता लिखने में तदनुकूल छन्द प्रयुक्त होने चाहिएँ।[5] अतएव, हिन्दी कवियों ने प्रचलित उर्दू बहरों में भी कविता की। पहले कवियों में घनानन्द ने अपनी 'विरहलीला' में उर्दू बहर का प्रयोग किया। बाद को, ललित किशोरी, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, पं० प्रतापनारायण मिश्र, पं० बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, बा० बालमुकुन्द गुप्त, पं० नाथूराम शंकर शर्मा, नारायण प्रसाद बेताब, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, लाला भगवान दीन, पं० गया प्रसाद शुक्ल स्नेही आदि प्रमुख हिन्दी कवियों ने उर्दू बहर में

१. सुमित्रानन्दन पन्त : पल्लव : पृ० ११
२. हजारीप्रसाद द्विवेदी : साहित्य का मर्म : पृ० ४१
३. दुष्यन्तकुमार : कल्पना : अप्रैल १९५४
४. श्रीधर पाठक : प्रथम हिन्दी साहित्य सम्मेलन कार्य विवरण : दूसरा भाग : पृ० ३१
५. महावीरप्रसाद द्विवेदी : रसज्ञ रंजन : पृ० १५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी अच्छी कविता की।[१]

इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उर्दू बाह्य प्रेरणा की प्रतीक रही है। हिन्दी के जिस कवि में बाह्य प्रेरणा जितनी भी उद्वेगशील है, उस पर उर्दू का प्रभाव उतना ही स्पष्ट है।[२] इसके अतिरिक्त हिन्दी का दोहा-छन्द तथा उर्दू का शेऽर, कविता की भाषा को समासिकता तथा भावों को प्रकृष्टता प्रदान करके, काव्य के सम्मिलित प्रभाव को जिस तीव्रता और गम्भीरता से हृदयस्थ रस को आन्दोलित करके काव्याग्रह को मूर्त्त करने में सक्षम एवं अन्यतम हैं, वैसी अभिव्यक्ति अन्य काव्य छन्दों में निश्चित रूप से दुर्लभ है। शेऽर द्वारा भावों की प्रेषणीयता इतनी सीधी और तात्कालिक होती है, कि उसकी समय-सीमा का अनुमान असम्भव है।[३] भारतेन्दु युग में, स्वयं भारतेन्दु तथा उनके सहयोगी कवियों ने, न केवल हिन्दी में उर्दू की बहरों का ही प्रयोग किया अपितु स्वतन्त्र रूप से उर्दू कविताओं की रचना भी की। हिन्दी कवियों ने उर्दू की विषय वस्तुओं में अस्पृष्ट रहकर उसके छन्दों और मुहावरों को अपनाने का प्रयत्न किया। इस प्रकार इस सम्पूर्ण युग में हिन्दी कवियों ने उर्दू कविता के कलापक्ष से थोड़ी बहुत प्रेरणा ली है।[४] श्री सुधीन्द्र के शब्दों में ही, "उर्दू की बहरों का प्रभाव तत्कालीन कवियों ने लिया। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र ने इसका श्रीगणेश किया था। इस काल में श्री हरिऔध, श्री दीन, श्री स्नेही, श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने विशेष रूप से इधर ही अभिरुचि दिखाई। यों इस कला में हाथ सभी ने दिखाए हैं।"[५] मिश्रजी ने तो बराबर खड़ी बोली के लिए उर्दू बहरों का प्रयोग किया है।[६]

द्विवेदी युग में भी उर्दू बहरों का प्रयोग निरन्तर चलता रहा। द्विवेदी युग के बाद की कविता एक ओर संस्कृत की शाद्वलता लेकर आई (प्रसाद से हृदयेश तक) दूसरी ओर उर्दू की तीव्रता लेकर (माखनलाल चतुर्वेदी से अंचल तक)। जिस प्रकार संस्कृत परिवार में प्रसादजी अग्रगण्य हैं उसी प्रकार उर्दू के दायरे में माखनलालजी।[७] माखनलाल चतुर्वेदी को तो हिन्दी में उर्दू काव्य-शैलियों का प्रतिनिधि स्वीकार किया गया है।[८] छायावादी युग में निराला ने जहाँ भी हिन्दी कविता में उर्दू का प्रवाह भरा वहाँ उसे सरिता का कलकल निनाद प्रदान कर दिया।[९] यद्यपि उर्दू छन्दों में हिन्दी छन्दों से अधिक प्रवाह होने के कारण ही द्विवेदी युग में ला० भगवानदीन जैसे कवियों ने उर्दू छन्दों को अपना कर वीरकाव्य की रचना की थी,[१०] परन्तु हिन्दी के छन्दों में संस्कृत का सौंदर्य भरने वाले और सामासिक पदावली में काव्य-रचना करने वाले कवि निराला ने उर्दू-फ़ारसी छन्दों-बहरों को अपनाया और 'कुकुरमुत्ता', 'वेला', 'नए पत्ते' नाम की तीन पुस्तकों में उर्दू के प्रयोग किए।[११] दूसरी ओर हरिवंशराय बच्चनर उद्गार प्रधान कवि हैं। भावों को गणित के ढंग से सयुक्तिक बना कर उद्गारों की कश्रृंखला से उन्होंने काव्य में मुक्तक निबंध की रचना की। काव्य का यह ढंग उर्दू का है। इसमें भाव उतना नहीं, जितनी आरजू। इनके अतिरिक्त अंचल पर उर्दू की रसिकता का बेहद प्रभाव है। उर्दू शायरी को यदि हिन्दी छायावाद का सम्पर्क मिल जाता, तो जो उसका रूप होता, वही अंचल की कविताओं का है। उर्दू का उच्छ्वसित् आवेग उनकी कविता का ओज है। नरेन्द्र शर्मा भी उर्दू से प्रभावित, रोमान्स के कवि हैं, किन्तु

१. पद्मसिंह शर्मा : हिन्दी उर्दू हिन्दोस्तानी : पृ० ६१
२. शान्तिप्रिय द्विवेदी : सामयिकी : पृ० २०७
३. प्रतापसिंह चौहान : कविता में प्रयोगवादी परम्परा: पृ० २८
४. सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर : पृ० १०४
५. वही : पृ० ४२८
६. किशोरीलाल गुप्त : भारतेन्दु तथा सहयोगी कवि : पृ० ३१२
७. शान्तिप्रिय द्विवेदी : सामयिकी : पृ० २०६
८. हरदेव बाहरी : हिन्दी काव्य शैलियों का विकास : पृ० २१६
९. त्रिलोकीनाथप्रेमी : गल्पभारती : फरवरी : १९६४
१०. सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर ; पृ० १०२
११. रमेशचन्द्र मेहरा : निराला का परवर्ती काव्य : पृ० १०९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंचल की अपेक्षा संयत।[1] श्री मन्मथनाथ गुप्त बच्चन और नरेन्द्र शर्मा पर उर्दू के प्रभाव को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि "दोनों ही कवि उर्दू काव्य से प्रभावित थे। बच्चन के गीतों में ग़ज़ल की खूबियों ने झलक मारी और दिनकर में हाली, चकबस्त और इक़बाल की तेजस्विता जगमगा उठी।[2]

हरिकृष्ण प्रेमी स्वयं स्वीकार करते हैं कि, "उर्दू की ग़ज़ल और हिन्दी के गीतों का सम्मिश्रण मैंने अपनी रचनाओं में किया है। मेरे गीत का प्रत्येक जोड़ा अपने आप में पूर्ण हैं, लेकिन अपूर्ण भी, क्योंकि आगे की पंक्तियों से सम्बन्ध क़ायम है। ......ग़ज़ल को हिन्दी साहित्य में ले आने का यत्न तो बहुत पहले से चल रहा है और महाकवि कहे जाने वाले प्रतिभापति भी ग़ज़ल रचना की कसरत करते रहे हैं, किन्तु उर्दू वाला निखार, शोख़ी और अदा के दर्शन अभी तक नहीं हुए। इस उर्दू की बेटी से मैंने भी मुहब्बत की है। मैं इसे मना रहा हूँ। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह मुझसे कुछ प्रसन्न तो हुई है। 'रूप दर्शन' में मैंने १३६ ग़ज़लें दी थीं, 'रूप रेखा' में १५२ दी हैं। इतनी अधिक संख्या में ग़ज़लें हिन्दी में किसी ने नहीं दीं।"[3] भगवतीचरण वर्मा पर भी उर्दू का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। बच्चन ने भी उर्दू के प्रभाव को स्वीकार करने में हिचकिचाहट से काम नहीं लिया। 'बुद्ध और नाचघर' में बच्चन लिखते हैं, "हिन्दी पद्यों में बोलचाल की लय का अभाव देखकर, मैंने यह काम उर्दू के शेऽरों से लिया। इससे पंक्तियों में एक विशेषता, नाटकीयता एवं गति आई। उर्दू की लयों से हमारी मात्राओं के कसे बंधन कुछ ढीले किए जा सकेंगे।"[4] नवीनतम हिन्दी कविता पर उर्दू का प्रभाव और भी गहरा हो गया है। प्रयोगवादी कवियों के नवीनता के मोह ने, उन्हें उर्दू के बहुत निकट ला दिया है। नवीनता की खोज में उन्होंने उर्दू कविता से आत्मसात करने का प्रयास भी किया है। बच्चन तक तो हिन्दी गीतों के छन्द केवल हिन्दी के छन्द से लगते थे, अब वे उर्दू के पास पहुँच रहे हैं।[5] इन कवियों में शमशेर पर उर्दू का काफ़ी प्रभाव है। उनकी कविताओं में बहुत सी कविताएँ उर्दू की हैं।[6] उन्हें हिन्दी की कविताएँ दो कारणों से स्वीकार किया जाता है, एक तो यह कि वे देवनागरी लिपि में हैं। दूसरे यह कि स्वयं शमशेर, उन्हें हिन्दी कविता से भिन्न स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि, "मैं अपनी ग़ज़लों को अपनी हिन्दी रचनाओं से कभी अलग नहीं रखना चाहूँगा। ग़ज़ल एक लिरिक-विधा है जिसकी अपनी कुछ शर्तें हैं, अपना प्रतीकवाद है, अपनी जीवन्त परम्परा है।[7]

अस्तु, उर्दू ग़ज़ल का हिन्दी पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। भारतेन्दु बाबू से लेकर अब तक, अधिकांश कवियों की प्रवृत्ति ग़ज़ल को अपनाने की रही है। हिन्दी के कवियों में भारतेन्दु बाबू ने ग़ज़ल कही, उसकी भाषा खड़ी बोली है, जो उर्दू के समीप है। जयशंकर प्रसाद की 'भूल' शीर्षक कविता इसी पद्धति की है। निरालाजी ने ग़ज़ल की शैली अपनायी है। दिनकर जी ने भी इसे सजाया संवारा है।[8] भारतेन्दु काल में, क्योंकि खड़ी बोली की क्रियाएँ कवित्त सवैयों आदि के ढाँचों में विशेष बाधा उत्पन्न करती थीं, इसलिए उर्दू ढंग के छन्दों, लावनियों और ख़्यालों का उपयोग शुरू हुआ। इनके अतिरिक्त उर्दू ग़ज़ल और रेख़ता संस्कृत के द्रुत-बिलम्बित और शिखरिणी भी मिलते हैं।[9] स्वयं भारतेन्दु ने काफ़ी सफलता से उर्दू ग़ज़ल को अपनाया। उनकी एक ग़ज़ल का मतला देखिए—

उसको शाहन्शाही हर बार मुबारक होवे।
क़ैसरे हिन्द का दरबार मुबारक होवे।

१. शान्तिप्रिय द्विवेदी : समसामयिकी : पृ० २१३-१५
२. मन्मथनाथ गुप्त : रामधारीसिंह दिनकर : पृ० ११
३. हरिकृष्ण प्रेमी : रूपरेखा : भूमिका
४. बच्चन : बुद्ध और नाचघर : पृ० १७
५. रामावतार त्यागी : आठवाँ स्वर : पृ० ६
६. डॉ० कामेश्वर प्रसाद सिंह : साहित्य सन्देश : अप्रैल १९६०
७. शमशेर : कुछ और कविताएं : पृ० ७
८. हिन्दी साहित्य कोश : खण्ड १ : पृ० २५२
९. डॉ० हरदेव बाहरी : हिन्दी काव्य शैलियों का विकास : पृ० १६६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़ल की शैली से प्रभावित होकर कई लोकगीत भी लिखे गए हैं। श्रीधर पाठक ने 'भारत गीत' जैसे कई गीत लिखे हैं। ला० भगवानदीन ने ग़ज़ल गीत की ही शैली को अपनाया और उसी में अपना 'वीर पंचरत्न' लिखा। इसी प्रकार के ग़ज़ल गीत केशवप्रसाद मिश्र, भगवन्नारायण भार्गव, राष्ट्रीय पथिक आदि ने भी लिखे।[1] बदरीनाथ भट्ट जैसे पद-लेखक ने भी उर्दू ग़ज़ल में ही मौत का डंका सुना—

मैं आ गई महाशय खोलो किवाड़ खोलो।
होकर नितान्त निर्भय खोलो किवाड़ खोलो।

प्रसादजी ने भी ग़ज़ल शैली में लिखा, जिसमें हिन्दी की शब्द-सुषमा है—

विमल इन्दु की विशाल किरणें प्रकाश तेरा बता रही हैं
अनादि तेरी अनन्त माया जगत् को लीला दिखा रही हैं।

ग़ज़ल का प्रभाव प्रसाद के पदगीत पर भी दृष्टव्य है—

आज इस घन की अंधियारी में,
कौन तमाल झूमता है इस सजी सुमन क्यारी में।
हँसकर बिजली सी चमका कर हमको कौन रुलाता,
बरस रहे थे ये दोनों दृग कैसी हरियारी में।

इसी प्रकार, 'भारत भारती' के अन्त में मैथिलीशरण गुप्त ने सोहनी लय का गीत, ग़ज़ल शैली में लिखा है। माखनलाल चतुर्वेदी ने ग़ज़ल लिखने में बहुत सफलता प्राप्त की है। उनकी ग़ज़ल का एक शेऽर देखिए—

वीराना हो वृन्दावन हो तुमको बनवास नहीं लगता।
चढ़ जाए चरण पर सहस बार तुमको तो पास नहीं लगता।

निराला के यहाँ तो उर्दू छन्द खुल खेले हैं। कुछ छन्दोबद्ध रचनाओं में निरालाजी ने उर्दू की ग़ज़ल शैली का अनुकरण ही किया है। ये प्रयोग दो प्रकार के हैं।[2] प्रथम वे, जिनमें उर्दू शब्दावली की प्रधानता है, परन्तु ऐसे पद्य अधिक नहीं हैं। दूसरे वे, जिनमें छन्द तो उर्दू का है परन्तु भाषा हिन्दी-संस्कृत की रखी गई है। देखिए—

उर्दू पदावली—

बदली जो उनकी आँखें इरादा बदल गया।
गुल ऐसे चमचमाया कि बुलबुल मचल गया।

संस्कृत गर्भित पदावली—

स्नेह की रागनी बजी देह की सुर बहार पर।
वर विलासिनी सजी प्रिय के अनुहार पर।

'कुकुरमुत्ता' के प्रसंग में निरालाजी की शैली भी दृष्टव्य है। हास्य व्यंग्य प्रधान यह रचना छन्दोबद्ध न होने के कारण उर्दू की गद्य शैली के अधिक समीप है। तथा 'नए पत्ते' में निराला स्वयं कहते हैं कि, "नए पत्ते' में उर्दू शैली की रचनाएँ अधिक संख्या में हैं। बल्कि कहना चाहिए कि इस संग्रह की २८ रचनाओं में से ५-६ को छोड़कर शेष सब उर्दू की ही हैं। नई बात तो यह है कि अलग-अलग बहरों की ग़ज़लें भी हैं, जिनमें फ़ारसी के छन्द शास्त्र का निर्वाह भी किया गया है।"[3]

नर्मदेश्वर उपाध्याय ने भी ग़ज़ल शैली को अपनाया। शमशेर ने भी बहुत सी ग़ज़लें लिखी हैं। उनकी कुछ ग़ज़लें उर्दू में हैं, कुछ हिन्दी में, तथा कुछ मिली-जुली भाषा में। दोनों प्रकार की ग़ज़लों से एक-एक शेऽर देखिए—

उर्दू—

हक़ीक़त को लाए तख़य्युल से बाहर,
मेरी मुश्किलों का जो हल कोई लाए।

हिन्दी—

मत उपेक्षा से मुझे देखो कि हूँ वह मौन स्वप्न,
जो तुम्हारे ही हृदय का मर्म अव्यक्तेन था।

गिरिजाकुमार माथुर ने 'शामली धूप' में उर्दू की छोटी बहर को तोड़, उसके काल-मान और लय के आधार पर नया मुक्त छन्द रचा है। इसी प्रकार 'नए साल की साँझ' का छन्द भी ग़ज़ल के काल-मान पर लिखा गया है।[4] श्यामसुन्दर खत्री की ग़ज़लों में भावों की तीव्रता नहीं है, परन्तु बहर की दृष्टि से उनकी ग़ज़लें काफ़ी शुद्ध हैं। भैयाजी बनारसी की ग़ज़लें संख्या में बहुत हैं परन्तु उनमें ग़ज़ल के नियमों को प्रायः भंग

१. सुधीन्द्र : हिन्दी कविता में युगान्तर : पृ० ४४३-४५
२. वही : पृ० १०६
३. निराला : बेला : आवेदन
४. गिरिजाकुमार : धूप के धान : पृ० १५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है। बहर का टूटना तो कई स्थलों पर बहुत ही अखरता है। गंगा प्रसाद पाण्डेय की तकनीक तो ग़ज़ल की है, परन्तु भावों की क्रमबद्धता के कारण इन्हें शुद्ध ग़ज़लें नहीं कहा जा सकता। 'चोंच' की ग़ज़लों की विषय-वस्तु भले ही हास्य-व्यंग्य है, परन्तु तकनीकी पक्ष से उनकी ग़ज़लें सही हैं। दिनकर के भाव उर्दू के से हैं तथा उनकी ग़ज़ल शैली में उर्दू कविता की तीव्रता भी परिलक्षित होती है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने ग़ज़ल की तकनीक पर कविताएँ लिखी हैं। नरेन्द्र शर्मा ने भी क़ाफ़िया रदीफ़ की पाबन्दी के साथ ग़ज़ल के ढंग की कविताएँ लिखी हैं। त्रिलोचन शास्त्री की ग़ज़लें भी बुरी नहीं हैं, यद्यपि इनमें ग़ज़ल का शरीर तो है, ग़ज़ल की आत्मा का दर्शन इनमें नहीं होता। जगदीश शर्मा की ग़ज़लें तो उर्दू की अनुकृति मात्र हैं।

रुबाई तथा क़तअे में हिन्दी कवियों को प्रायः धोखा हुआ है। रुबाई, वास्तव में, उर्दू की एक अलग काव्य-विधा है। इसमें चार पद होते हैं। प्रथम, द्वितीय तथा चतुर्थ पद में तुक का निर्वाह किया जाता है। तीसरा पद तुक-मुक्त होता है। इसके अतिरिक्त छन्द की दृष्टि से भी रुबाई का लयखण्ड निश्चित है।[१] हिन्दी कवियों ने रुबाई को क़त्आ का पर्याय समझ कर अपने मुक्तकों को भी रुबाई कह डाला है। पंजाबी कविता में तो यह भूल अपनी चरम-सीमा पर है। पंजाबी के कवि प्रायः ग़ज़ल सुनाने से पहले कहते हैं, "एक छोटी सी रुबाई सुनिए।" रुबाई छोटी क्या और बड़ी क्या? रुबाई तो रुबाई ही होती है, निश्चित लयखण्ड तथा निश्चित पंक्तियों की योजना से। उनकी रुबाइयाँ भी कभी आठ शेऽरों की होती हैं, कभी दस की। हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त ने रुबाई-पद्धति का अनुकरण किया है। उन्होंने तीस और इकतीस मात्राओं के ताटंक, शोकहर, कुकुभ और वीर छन्दों को रुबाई में बाँधकर प्रस्तुत किया है। उनके छन्द हिन्दी के हैं, केवल तुकान्त पद्धति फ़ारसी की रुबाई बहर के अनुरूप रखी गई है।[२] परन्तु इतने से भी उनके मुक्तकों को रुबाई नहीं कहा जा सकता। हिन्दी में शुद्ध रुबाइयों की संख्या बहुत कम है। हमारे यहाँ रुबाई का प्रचलन दो कारणों से हुआ है। एक तो उर्दू कवियों की सफल रुबाइयाँ देखकर, उनका अनुकरण करने से, दूसरे उमर ख़ैय्याम की रुबाइयों के अनुवादों से।[३] उमर ख़ैय्याम की रुबाइयों के इतने अनुवाद हुए कि प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से हिन्दी कवि उनका प्रभाव लिए बिना न रह सके। उमर ख़ैय्याम से प्रभावित होकर अनेक कवियों यथा पद्मांक मालवीय, जगदम्बा प्रसाद मिश्र, बालकृष्ण शर्मा नवीन, हृदयेश, बच्चन तथा अज्ञेय ने मौलिक रुबाइयाँ भी लिखीं।

मुक्तक हिन्दी में अपेक्षाकृत कम लिखे गए हैं। नयी शैली के वक्रोक्ति प्रधान मुक्तकों पर उर्दू का प्रभाव है। इनमें अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के चौपदे, सनेही जी के सवैये और दीन की कविताएँ मुख्य हैं।[४] दूसरे सप्तक के कवियों की शैलियों में खासकर प्रगीत मुक्त शैली का व्यवहार है। उसी के अन्तर्भूत जहाँ तहाँ रुबाइयों, ग़ज़लों, षट्पदी एवं अष्टपदी का प्रयोग है।[४] मुक्तक लिखने वालों में हरिऔधजी को बहुत प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। उनके 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' तथा 'बोलचाल' में संस्कृत का मोह छूट-सा गया है। उनका उक्ति वैचित्र्य तथा छन्दों का प्रयोग उर्दू का हो गया है।[५] अस्तु, जहाँ भैया जी बनारसी, डॉ० ब्रजमोहन गुप्त, डॉ० देवराज, अस्थाना, विराज आदि कवियों ने मुक्तक (क़त्आ) को रुबाई कहने की भूल की है, वहाँ निराला, गुप्त, धर्मवीर, शमशेर, नीरज, प्रभाकर माचवे तथा

१. नज्मुलग़नी : बहरुलफ़साहत : पृ० ११४

२. डॉ० कमलकान्त पाठक : मैथिलीशरण गुप्त—व्यक्तित्व और काव्य : पृ० ६४५

३. डॉ० हरदेव बाहरी : हिन्दी काव्य शैलियों का विकास : पृ० १७९

४. डॉ० कामेश्वर प्रसाद सिंह : साहित्य सन्देश : अप्रैल १९६०

५. डॉ० गोपालदत्त सारस्वत : आधुनिक हिन्दी काव्य में परम्परा तथा प्रयोग : पृ० ४४४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माथुर प्रभृति कवियों ने काफ़ी सफल रुबाइयाँ भी लिखी हैं। जहाँ तक मुक्तकों का सम्बन्ध है, नीरज की पुस्तक 'मुक्तकी' क़त्ओं की पुस्तक है। माखनलाल चतुर्वेदी के मुक्तक भी अच्छे हैं। शिवनाथ के मुक्तक छन्द तथा भाव की दृष्टि से सही होते हुए भी उर्दू कविता का अनुकरण ही प्रतीत होते हैं। रामदरश मिश्र के मुक्तकों में उर्दू की भाव प्रवणता तो है, परन्तु तकनीक की दृष्टि से उनके अनेक मुक्तक असफल रहते हैं। केदारनाथ प्रभात की पुस्तक 'बैठो मेरे पास' क़त्ओं का संकलन है। उनके यहाँ उर्दू का पुट भी है तथा तकनीक भी। परशुराम विरही के मुक्तकों में उर्दू जैसी भावों की तीव्रता है तथा बहर का ध्यान भी रखा गया है। पन्तजी के मुक्तकों में उर्दू का रंग स्पष्ट नहीं है परन्तु उनकी तकनीक उर्दू की है। दुष्यन्त कुमार के मुक्तकों में भी उर्दू की छटा के दर्शन होते हैं।

ग़ज़ल, रुबाई तथा क़त्आ के अतिरिक्त उर्दू की 'मुसद्दस' से भी आधुनिक हिन्दी कविता प्रभावित हुई है। उर्दू में मौलाना 'हाली' की मुसद्दस बहुत प्रसिद्ध हुई। इससे प्रभावित होकर हरिऔध, सनेही, भगवानदीन, माखनलाल चतुर्वेदी प्रभृति कवियों ने मात्रिक छन्दों के आधार पर षट्पदियाँ लिखीं। पं० बदरी प्रसाद भट्ट ने उर्दू शैली में मुसद्दस की रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इसके अतिरिक्त उर्दू के ढर्रे पर हिन्दी में 'मर्सिये' भी लिखे गए। भारतन्दु ने 'भारत दुर्दशा' लिखकर हिन्दी में मर्सिया पद्धति की नींव डाली। श्रीधर पाठक के 'उजड़ा ग्राम' तथा प्रसाद के 'आँसू' ने इस पद्धति का परिस्थापन किया। 'हल्दी घाटी' पर मर्सिया शैली की छाप बहुत ही स्पष्ट होकर प्रगट हुई है। मैथिलीशरण गुप्त ने प्रसाद का मर्सिया लिखा। हास्य रस के कवि गोपालप्रसाद व्यास ने भैंस का मर्सिया लिखा।

अस्तु, उर्दू के छन्दों में वर्ण तथा मात्रा का ध्यान रखकर पंक्तियों की लय स्थिर की जाती है। उर्दू के अधिकांश छन्द मात्रिक हैं। हिन्दी के आधुनिक कवियों ने लगभग उर्दू के सभी छन्दों में कविता रची है। निस्संदेह उर्दू छन्दों को ग्रहण करके हिन्दी कविता की प्रभावोत्पादकता में वृद्धि हुई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मधु उप्पल
हिन्दी विभाग,
गुरु नानक विश्वविद्यालय,
अमृतसर (पंजाब)

सम्बन्धों की मृत्यु और कहानी

कहानी पर बात करते आज एक कहता है—सम्बन्ध बदल रहे हैं; द्वितीय बोलता है—नहीं, नवजन्म ले रहे हैं; तृतीय का स्वर है—उनका पुनर्मानवीकरण हो रहा है, उनमें आज भी मानवीय मूल्य है; और चतुर्थ कहेगा—सम्बन्ध मर चुके हैं। सभी तथ्यों की पुष्टि के लिए उदाहरण ढूंढे जा सकते हैं। व्यवस्थित जीवन व्यतीत कर रहा व्यक्ति मृत्यु की इस भयावहता को भोग नहीं रहा। इसीलिए इसे समझने, मानने अथवा आत्मसात करने में उसे कष्ट होता है। व्यवस्थाओं में जी रहा उसका संस्कारी मन इतने बड़े धक्के को स्वीकार नहीं पाता और यदि स्वीकारता भी है तो मात्र अन्यों के समक्ष आधुनिकता का कवच ओढ़ने के लिए। इस अध्ययन के लिए मैं अपने विषय को दो भागों में वितरित कर रही हूँ :

१. सामान्य सम्बन्ध।

२. सैक्स के धरातल के सम्बन्ध।

१. सामान्य सम्बन्ध—कभी संयुक्त परिवार हुआ करता था (स्नेह युक्त) और कभी परिवार हुआ करता था। परिवार अब भी हुआ करता है, लेकिन परिवार इकाई नहीं है—उसकी भिन्न इकाई हैं। परिवार का हर सदस्य व्यक्ति है। बायलॉजिकल विवशताएँ हैं कि एक माँ होती है, एक पिता होता है। बच्चे होते हैं। भाई-बहन होते हैं।

परिवार का सर्वेसर्वा पिता हुआ करता था। वह कमाता था और सारा परिवार चलता था। अर्थोपार्जन की दीर्घकाल से चली आ रही इस परम्परा का स्खलन पुरुष की अतिरिक्त अधिकारवृत्ति को कोंच गया। जब पत्नी कमाती हो, पति घर का काम करता हो, तो बच्चों का क्या होगा ? ऐसी ही स्थिति चन्द्रा-औलक की 'नया युग पुराना युग' (संचेतना-७) तथा अनीता औलक की दिन से दिन (सारिका, मई १९६८) में मिलती है। यहाँ जिंदगी मुर्दा-मुर्दा-सी हो चुकी है। मरी हुई आवाजें बुझी हुई करेंट सी रेंगती हैं। कोई कौतूहल नहीं, आशा नहीं, जिज्ञासा नहीं। तनाव के मोर्चों पर व्यक्ति डटा है। बच्चे हैं कि सांझ को स्कूल से लौटते हैं और बिना खाए ही सो जाते हैं।

वर्तिका अग्रवाल की 'रिक्तता' (संचेतना-७) मर रहे सम्बन्ध और इस मृत्यु से उत्पन्न ठंडापन लिए है। तीन बेटों की माँ मर रही है। इस समय वह जिस बेटे के पास है, वह निर्धनता का ही नहीं, पत्नी का भी गुलाम है। उसने माँ को टाट के टुकड़े पर एक कोने में डाल रखा है। उसका गंदा तक साफ नहीं किया जाता। वह भीगे टुकड़ों पर पड़ी रहती है। चींटियाँ उसकी नाक और आँखें खोद जाती हैं। दूसरा बेटा माँ की मृत्यु पर पहुँचता ही नहीं क्योंकि बचपन में माँ कहा करती थी—'मुये नास गये, मेरी मरी का मुंह न देखियो, नई तो नरक जाऊँगी' (पृ० ५०)। तीसरा बेटा जो माँ की मृत्यु पर पहुँचता है उसे शिकायत है कि माँ के सन्दूक पर प्रकाश ने क्यों अधिकार कर लिया है। वल्लभ सिद्धार्थ की 'महापुरुषों की वापसी' (सारिका, दिसम्बर १९६९) में छंटनी में जित्ते की नौकरी छूट जाती है। सम्पूर्ण परिवार का बेगाना व्यवहार उसे विक्षिप्त कर देता है। जित्ते की अनुपस्थिति में सभी को जित्ते की नहीं, जित्ते की मृत्यु की सूचना लाने वाले किसी व्यक्ति की प्रतीक्षा है। स्नेह स्नेह से उत्पन्न होता है। बच्चे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होस्टल में पढ़ते हों या बाहर हों। कभी कभार घर लौटना हो और ऐसी स्थिति में भी अजनबीपन घेरे रहे तो फिर सम्बन्धों के जीवित रहने का क्या तर्क हो सकता है। अशोक अग्रवाल की 'टुकड़े-टुकड़े' (संचेतना-१०) में 'वह' शिमला से घर आता है। कुछ अस्वस्थ है। ममी रात के एक दो बजे क्लब से लौटती है। बहन काफी रात जाने के पश्चात प्रेमियों से छुट्टी पाती हैं। पिता अस्वस्थ है। शिमला से घर आया यह अस्वस्थ भाई इन तनावों से मुक्ति पाने के लिए पुनः शिमला लौटने की सोचता है। अन्विता अग्रवाल की 'कटी हुई तारीखें' (मुट्ठी भर पहचान) की नीरु के होस्टल में छुट्टियाँ हुई हैं। सभी लड़कियाँ अपने-अपने घर लौट रही हैं। उसकी 'रूम-मेट' भी पूरे उत्साह के साथ घर जा रही है। नीरु मानसिक द्वन्द्वों में है। उसे घर से कोई तार या ट्रंकाल नहीं आया। घर में उसकी प्रतीक्षा नहीं। उसे ममी, पापा, बहन कोई प्यार नहीं करता। एक विवशता है कि छुट्टियों में होस्टल से घर जाना पड़ता है। गंगाप्रसाद विमल की 'प्रश्नचिह्न' में पिता के विषय में बेटे के मन में बिम्ब है—मैं इतना जानता हूँ कि होस्टल में प्रतिमास एक निश्चित रकम भेजने वाला एक गम्भीर अफसरनुमा आदमी मेरा पिता है—इसके अतिरिक्त अपने पिता के सामाजिक पिता के रूप में मुझे कुछ ज्ञान नहीं है। मुझे अक्सर लोगों के पितानुमा आदमियों को देखकर कोफ्त होती है कि ऐसे बेडोल और बूढ़े आदमियों के लिए भावुक्तापूर्ण आत्मीयता कैसे जगती है। इतना ही नहीं बेटा पिता के व्यक्तिगत को जानकर उसे मिस सी० को तोफे के रूप में देने की सोचता है।

किसी जीवन दर्शन को समझने के लिए पुत्र को पिता की आवश्यकता नहीं। बेटा बाप से कहीं आधुनिक होता है। इसलिए वह पिता को आधुनिक जीवन दर्शन का उपदेश देता है। उसकी जिज्ञासाएँ शान्त करता है। शान्ति मेहरोत्रा की 'पिता पुत्र संवाद' (दंतकथा) इसी प्रकार की रचना है। इसमें पिता दीन भाव से बेटे के समक्ष अपनी कुछ जिज्ञासाएं प्रकट करता है। ज्ञानी कौन है? कारण से कर्म किस प्रकार बड़ा है? कंचन और कामिनी त्याज्य क्यों नहीं? आदि? आरम्भ ही देखिए—'पुत्र ने बढ़ा हुआ जेबखर्च हिप-पॉकेट में रखकर गली में निकाली हुई साइकिल वापस बरामदे में खड़ी कर दी और पुलकित होकर बोला, "हे तात! आज मैं आपसे बहुत प्रसन्न हूँ। माँगिए, क्या माँगते हैं।" पिता ने दीन भाव से कहा—"वत्स! जब प्रसन्न हो ही गया तो मुझे समझा कि ज्ञानी कौन है और कुशल निर्णय किसे कहते हैं। तू इधर मेरे पास तख्त पर आनन्द से बैठ जा।" (पृ० ८५) पुत्र अनेक दृष्टांत देते हुए पिता की शंकाओं का समाधान देता है। वह समझाता है—'जो बिना विचारे काम करते हैं, वे अज्ञानी हैं। जो बहुत सोच-विचार के बाद कदम उठाते हैं, वे अल्पज्ञानी हैं। ज्ञानी केवल वे हैं जो-हर बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करते हैं और करते ही रहते हैं। वे भूल से परे हैं क्योंकि वे कभी किसी निर्णय पर नहीं पहुँचते। वे ठण्डे दिल से सोचते रहते हैं और घटनाएँ स्वतः घटती रहती हैं।' (पृ० ८६) 'कारण से कर्म बड़ा है' के लिए वह अपनी कॉलेज-यूनियन के प्रैजीडेन्ट का उदाहरण देता है। 'जेब में आया कंचन अपने भाग्य का होता है और स्वेच्छा से निकट आई कामिनी का यथोचित सत्कार करने की बात तो शास्त्रों में भी लिखीहैं।' इसी तथ्य की पुष्टि के लिए वह प्रो० चक्रमणि का उदाहरण ले पिता को समझाता है।

मेहरुनिसा परवेज की 'शनाख्त' (आदम और हव्वा) का पिता शराब के नशे में पत्नी और बेटी में कोई अन्तर नहीं पाता। कृष्णा अग्निहोत्री की 'अन्तिम स्त्री' (टीन के घेरे) का अमित बैनर्जी युवा बेटी के सामने ही किराए की औरतों या उसकी हम उम्र युवतियों से यौन-तृप्ति करता है। बेटी का किसी युवक से क्या सम्बन्ध है, इसकी उसे चिन्ता नहीं—

उसकी आँख से सब ओझल हो उठता था
सुस्मिता और वह जवान छोकरा···
स्मिता और पढ़ाई।

उसे क्या चिन्ता है। कोई सरकारी अफ़सर तो है नहीं जो इन्क्वायरी या पेपरबाजी का डर हो···पीकर ही कट जाएगी। थोड़ी तो रह गई है (पृ० १३२)।

माँ बच्चों के मध्य सम्बन्धों की मृत्यु कृष्णा सोबती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की 'मित्रो मरजानी' (मित्रो मरजानी), मेहरुनिस परवेज की 'बिके हुए क्षण' (ज्ञानोदय-जुलाई १९६७), शिवानी की 'तोप' (पुष्पाहार), शम्भुनाथ की 'शिविरबद्ध' (ऐसा होने के विरुद्ध), शशिप्रभा शास्त्री की 'धुली हुई शाम' (धुली हुई शाम) आदि में देख सकते हैं। 'मित्रो मरजानी' में बालो के भाग्य में एक खसम का सुख बदा नहीं था। इसीलिए वह बेटी से ईर्ष्या करती है। इस दृष्टि को मित्रो भी पहचान जाती है—"बाहर जाते सरदारी-का बाँका लाचा देखकर बालो के मन में जो मरोर उठी तो मित्रो ने आँखों में ही समेट ली। हाथ से निवाला तोड़-तोड़ नखरे से माँ के मुँह में डाला और गेंदे के फूल सी घुटी-घुटी बोली—'बीबो, मुझ गरीबनी से क्या होड़? तुम्हें तो नित नए रास-रंग और मित्रो बेचारी हर दिन अपने इस निठल्ले के संग।' खसम पर घमंड करने वाली की बात से बालो के पपोटे जलने लगे, पर ऊपर से लाड़ के फन फैलाकर बोली—'मेरी भोली मित्रो, मुझे तो तू अंग-अंग से प्यासी तिरहाई जापती है।' (पृ १०२-१०३) और अन्ततः उसे अपने ग्राहकों में से एक के पास भेज देती है। ऐसी ही उद्दाम वासना का चित्र 'बिके हुए क्षण' में मिलता है। यहाँ बेटी के विवाह के लिए निर्वाचित लड़के से विधवा ममी अपनी यौन क्षुधा पूर्ण करती है। 'तोप' की तोप कुछ मरीज चैरिटी पर भी लेती है। वे पहले उसे ममी कहते हैं और तदनन्तर वह उनसे अपनी यौन-क्षुधा मिटाती है। 'शिविरबद्ध' और 'धुली हुई शाम' में माँ-बाप के विषमलिङ्गी (अन्य पुरुष या स्त्री से) सम्बन्धों से उत्पन्न बच्चों के शिशु-मन पर पड़ने वाले प्रभाव हैं जो माता-पिता के बिम्ब का प्रतिमाभंजन करते हैं।

माँ-बाप के प्रण्य-सम्बन्धों के विषय में सोचना हमारे यहाँ पाप का पर्याय रहा है। इसके विपरीत कमलेश्वर की 'तलाश' (मेरी प्रिय कहानियाँ) में विधवा माँ को पर पुरुष संसर्ग की सुविधा देने के लिए बेटी होस्टल में चली जाती है। वीरेन्द्रकुमार की 'गुलवर' (नई कहानियाँ; अक्टूबर १९६७) में बेटी रमा अपनी आसन्न विधवा, अधपके बालों वाली माँ के पुनर्विवाह के लिए छटपटाती है।

भाई-बहन में सम्बन्धों की मृत्यु के अनेक रूप देखे जा सकते हैं। देवकी अग्रवाल की 'काली लकीर' (सारिका; फ़रवरी १९६९) में बहन में समर्पण खोजने वाला भाई है। वह एक काली लकीर की तरह बहन पर छाया है, और बहन उससे बचती फिरती है। यह भाई-बहन से राखी नहीं बँधवाता, बहन में प्रेयसी का रूप देखना चाहता है। बहन के साथ 'साइडर' पीना चाहता है और यहाँ तक कि उसके कमरे में सोना चाहता है। ममता कालिया की 'वे तीनों और वह' (छुटकारा) में यान्त्रिक जीवन से उत्पन्न जड़ता सम्बन्धों को मार रही है। उसी शहर में रह रही बहन को मालूम नहीं कि भाई भी वहीं रहता है। उनकी 'बीमारी' (छुटकारा) में भावुकता बचकानी हो गई हैं क्योंकि महानगरीय दबाव, बनियापन, स्थान की दूरी आदि ने सम्बन्धों को नष्ट कर दिया है। भावुकता के एक बचकाने क्षण में बहन भाई को एक बहननुमा पत्र लिखती है कि वह कितनी बीमार है। भाई की कैजुअल बाकी हैं, इसलिए चला आता है। भाई की पत्नी 'भाई की पत्नी' है। वह भाभी नहीं हो सकती। भाई और उसकी पत्नी अपने खाने बनाने में व्यस्त रहा करते हैं और जाती बार भाई बहन को अस्पताल में दाखिल करवा देता है, तथा इसी दौरान टैक्सी या फलों पर बहन के सिलसिले में जो पैसे लगे उनका हिसाब दिखा उससे चैक ले लेता है।

सैक्स के धरातल के सम्बन्ध—इन सम्बन्धों को मुख्यतः दो भागों में बाँट सकते हैं।

१. प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्ध।

२. पति-पत्नी सम्बन्ध।

१. प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्ध—कभी प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्ध सबसे भावात्मक होते थे। यह व्यक्ति आदर्श मानव होता था। उसमें त्याग, क्षमा, उदारता, एकनिष्ठा, तन्मयता आदि गुण रहते थे जिसमें प्रेम का रूप थोड़ा आध्यात्मिक सा हो जाता था। प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्धों में प्रथम मृत्यु इस आदर्श मानव और उसके आदर्श गुणों की हुई है। सुधारवाद और आदर्शवाद के आरोपण के कारण सैक्स का अंकन अवैध और अनुचित माना जाता था। द्वितीय मृत्यु इस वैधता, औचित्य एवं आदर्श की हुई है और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानी सैक्स-संकुल हो गई है। आज से पहले प्रेम-कहानी रोमांटिक प्रेम-कहानी हुआ करती थी। यथार्थ के निकट आते ही रोमांटिक की मृत्यु हो गई और कहानी प्रेम विरोधी सैक्स कहानी हो गई है। प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्धों में शारीरिक पवित्रता की नैतिकता हुआ करती थी। अब विषमलिङ्गी का स्पर्श मन को छूता नहीं और शारीरिक सम्बन्धों के आधार पर सम्बन्धों को तोलने की नैतिकता भी मर चुकी है। प्रेमी-प्रेमिका सम्बन्धों में भी ऊब और ठंडेपन का आगमन सम्बन्धों की मृत्यु का द्योतक है। पुरुष और स्त्री के मध्य भावात्मक दुर्बलताओं के अतिरिक्त आर्थिक अभाव भी आ गए हैं। 'बॉस' शब्द 'टुच्चा' का पर्याय हो गया है। हर बॉसनुमा पुरुष को ऑफिस-गर्ल का 'काम और चाम' दोनों प्रिय हुआ करते हैं। अर्थ के आधार पर औरत भी सैक्स के धरातल पर पुरुषों का शोषण करती है। स्वतन्त्र सैक्स जीवन का उपासक व्यक्ति पत्नी और प्रेमिका दोनों का उपभोग करते हुए मुक्त मिलन के शारीरिक आनन्दों में आकंठ तिरोहित हो चुका है। व्यक्ति बौद्धिक है, आत्मसजग है। प्रेम उसके लिए मात्र फैशन है। सभी कुछ मर चुका है। बस नर और मादा शेष हैं।

नौकरीपेशा औरत प्रेमिका नहीं हो सकती और बॉसनुमा पुरुष प्रेमी नहीं हो सकते। एक और आर्थिक विशेषताओं के सम्मुख नतमस्तक निम्न मध्यम वर्ग की नारी है और द्वितीय और मुक्तिमिलन का जीवन-दर्शन अपनाए उच्च मध्यम वर्ग का पुरुष है। कृष्णा सोबती की 'यारों के यार' (यारों के यार, तिन पहाड़) में कभी बड़े साहब हजारासिंह, कभी बेटे छोटे साहब प्यारासिंह कभी लायसैंस आफिसर भाटिया, कभी अवस्थी के साथ घनचक्कर खाने वाली तमाशा है। उसके सभी सम्बन्ध मात्र व्यापारिक हैं। उसके पास ब्यूटी सैलून से सीखी ताजी अदाएँ हैं, बियर धुले बाल हैं, नृत्य करती आँखें हैं, दिल फेंक नजर हैं, चमकते नाखून है और बॉस के 'स्टैंडिंग आर्डर' के अनुसार ही वह कपड़े पहनती है। अवस्थी से कहती है—'बचकाना बातें न करो। तुम ठीक जानते हो यह मेरी नौकरी है, तफरीह नहीं।' (पृ० ६०) मोहन राकेश की 'जानवर और जानवर' (वारिस) में कान्वेण्ट में नौकरी बनाए रखने का नारी के पास मात्र एक ही उपाय है कि फादर फिशर की वासना को सहज रूप में झेल ले। इस फादर फिशर की वासना के लिए कोई भी नारी उपयुक्त है, यद्यपि कुत्तों की दुनिया में उसे यह तथ्य स्वीकार नहीं। कान्ता सिन्हा की 'प्रस्ताव' (ज्ञानोदय, फरवरी १९६८) की रमा बॉस के मन-शरीर की हवसपूर्ति के लिए 'ओवरटाइम' देती है। कृष्णा अग्निहोत्री की 'आक्टोपस' (टीन के घेरे) में पति द्वारा उपेक्षित स्त्री हर छोटे-बड़े काम के लिए मित्र पुरुषों का शिकार बनती है। जब बेटी इन अंकलों से तंग आ जाती है तो माँ उत्तर देती है—'ये यहाँ से वहाँ हर चौराहे पर पहरा दे रहे हैं··· इनसे लड़ नहीं सकती, किसी तरह सावधानी से काम निकालती हूँ।' (पृ० ४१) उनकी 'अन्तिम स्त्री' (वही) के अमित बैनर्जी को कभी कोई अन्तिम स्त्री बाँध नहीं सकती, उसे नित्य नई औरत चाहिए। निरुपमा सेवती की 'टुच्चा' (धर्मयुग, मार्च १९७०) के वी० एफ० के० बॉस आदि अपनी-अपनी सीमाओं, विवशताओं और महत्त्वाकांक्षाओं में लिप्त पुरुष नायिका के पास आते हैं। वह अधेड़ 'वी' को एक कुँवारी लड़की का सारा प्यार देती है और उसके स्वार्थ से परिचित होते ही उसे त्याग देती है। 'एफ' के सामने यू० एस० ए० जाने का 'ब्राइट फ्यूचर' है। 'के' के बीवी बच्चे गाँव में हैं। 'बॉस' के लिए यह अतिरिक्त मनोरंजन की वस्तु है। उसे उप-पत्नी तक नहीं बनाया जा सकता। से० रा० यात्री की 'एक और ययाति' (सारिका, मई १९७०) अचानक आफिसर बनकर अपने दफ्तर में काम करने वाली युवतियों को अपनी वासना का शिकार बनाने वाले पुरुष की कहानी है। जगदीश चतुर्वेदी की 'विवर्त' (सारिका, मई १९७०) साहब का न केवल माली की पत्नी से ही अवैध सम्बन्ध है, अपितु उसके दौरे पर जाने की बात सुन उसके बेटे के समक्ष कई बिस्तर, टूटे स्तन घूम जाते हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की 'अफसर प्यार और मौनालिसा' (सारिका, अक्टूबर, १९६७) ऐसे ही अफसर की कहानी है।

मुक्त मिलन के इसी जीवन-दर्शन से सम्बन्धित और भी अनेक प्रेमरहित कहानियाँ हैं, जिनके मूल में अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण हैं। राजेन्द्र यादव की 'प्रतीक्षा' (श्रेष्ठ कहानियाँ) का हर्ष भोली, सीधी, नियति की शिकार नन्दा को छलता जाता है, यद्यपि वह विवाहित है। राबिनशा पुष्प की 'कांचघर' (सारिका मई १९७०) का पुरुष शीतम विवाह न कर ऐसे ही रहने और लिपि से सम्पर्क रखने के पक्ष में है। सुदर्शन-नारंग की 'तलाश' (संचेतना, ६ जून १९६८) का वल्ली एक के पश्चात द्वितीय औरत से शारीरिक भूख मिटाता जाता है। धर्म बहन पारो, रामनगर की चित्रा (अपने बच्चे की माँ बन रही) को तो वह भोगता ही है, तारो को भोगने के पश्चात उसकी दृष्टि उसकी बहन शेफू पर है। उसके अन्दर दो बहनों के मध्य लेटने की तीव्र इच्छा है। इसके अतिरिक्त वेश्या चाँदबाई, एक यात्रा की देन निम्मी और अंजुन से भी उसके सम्बन्ध हैं। राबिनशा पुष्प की 'रेगिस्तान की मछली' (सारिका, जून १९६९) शादी के प्रश्न को निरन्तर टाल 'विशि' को मात्र प्रेमिका मानने वाले 'एडवांस्ड युवक धर्मेन्द्र की कहानी है। मणिका मोहिनी की 'जलांध' (खत्म होने के बाद) का उत्तम नित्य नई-नई दोस्तियां करता है। नासमझ बच्चियों को जवान बनाता है, कुँवारी लड़कियों की आँखों में शर्मिन्दगी और होंठों पर ताले लगाता है और व्याहता औरतों को अपने बच्चे पालने के लिए मजबूर करता है। क्योंकि उसके पास सबसे बड़ा जस्टिफिकेशन यह है कि उसकी शादी उस औरत से हुई है जिसे वह मात्र बच्चे दे सकता है दिल से पत्नी नहीं महसूस करता। उषा प्रियम्वदा की 'टूटे हुए' (एक कोई दूसरा) की तंत्री त्रिपाठी भास्कर जैसे युवकों के सम्पर्क में आती है। शारीरिक मानसिक तृप्तियों के पश्चात् उन्हें दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंका जाता है। उनकी 'अध्यापक' (नई कहानियाँ जून, १९६५) की तात्या मात्र पास होने के लिए उस अध्यापक की प्रेमिका बनती है।

कच्ची आयु के युवक-युवतियों में भी भावुकता मर चुकी है। सुधा अरोड़ा की 'मरी हुई चीज' (बगैर तराशे हुए) की शुभा भाई-भाभी के यहाँ सुधीर से काफी खुल जाती है, लेकिन सुधीर का अस्तित्व उसके लिए कोयले से भरे उस डिब्बे सा है, जहाँ से गाड़ी कोयला लेकर आगे बढ़ जाती है। निर्मल वर्मा की 'वीक एण्ड' (बीच बहस में) की युवतियाँ यौनपूर्ति के लिए किसी के भी साथ सप्ताहांत मना लेती हैं।

प्रेमी-प्रेमिका के बीच ऊब और ठण्डेपन का आगमन सम्बन्धों की परम्परित धारणा को चुनौती है। ममता कालिया की 'छुटकारा' 'उसी शहर में' मणिका मोहिनी की 'खत्म होने के बाद' (खत्म होने के बाद) में यही स्थिति है।

पति-पत्नी सम्बन्ध—दामपत्य जीवन का सम्पूर्ण बिम्ब चरमरा गया है। पति-पत्नी के मध्य स्नेह की मृत्यु के साथ-साथ अब ठण्डापन, अविश्वास, असुरक्षा के भाव उभरे हैं। गौतमबुद्ध बनने के लिए किसी महाभिनिष्क्रमण को अपनाने की आवश्यकता नहीं है। यह प्रसंग तो अतीत और हास्य का विषय है। घर में रहते हुए भी पति निहंग हो गया है और पत्नी वैरागिन। पति-पत्नी के मध्य प्रेम बकवास हो चुका है। औरत आग तो होती है, पर अपनी (पत्नी) नहीं। दोनों परस्पर शत्रु हो गए हैं। एक दूसरे की मृत्यु की कामना करते हैं। देहद्वार पर आकर ठिठके 'लीगल प्रोस्टीच्यूशन' के सम्बन्ध शेष हैं। पत्नी के उस पत्नीव्रत धर्म की मृत्यु हो चुकी है, जिसमें उसके लोक-परलोक का निर्धारक पति होता था और पर-पुरुष के विषय में सोचना भी पाप था। पत्नी के पर-पुरुष सम्बन्ध को आज पति उपेक्षित ही नहीं कर रहा, अपितु किन्हीं स्वार्थों के लिए स्वयं उसका उपयोग करता है। विवाह जैसी सामाजिक संस्था की मृत्यु और पत्नी के होते हुए भी प्रेमिका के साथ गृहस्थ जीवन व्यतीत करना परम्परित सम्बन्धों की मृत्यु का सबसे बड़ा उदाहरण है।

ऊब, ठंडापन, असुरक्षा, शत्रुता, जड़ता, अविश्वास आदि पति-पत्नी सम्बन्धों के स्खलन, टूटन और मृत्यु का मुख्य उदाहरण है। मोना-गुलाटी की 'महाभिनिष्क्रमण' (सरिता, जून १९६९) इस क्षेत्र में सबसे सशक्त कहानी है। राजकुमार गौतम को यशोधरा के स्नेह का भय था। इसीलिए उसे गौतमबुद्ध बनने के लिए गृहत्याग करना पड़ा था। निखिल अथवा स्वज का व्यक्ति दाम्पत्य से बंधा हुआ नहीं है। आज जीवन ठंडे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पन, जड़ता, अविश्वास संदेह, ऊब, अरोमांस, टूटन, असम्बन्ध, मोनोलॉग, तनाव और विराग की जिस स्थिति से गुजर रहा है, उसके समक्ष बुद्ध की महाभिनिष्क्रमण की स्थिति और उससे लौटना अतीत और हास्य की बात लगती है। निखिल और वह अब काल्पनिक प्रेम की मृत्यु का शवपूजन करते हैं। प्यार समाधि हो गया है। वे मोनोलॉग बोला करते हैं। पिस्तौल और छुरा लेकर घूमते हैं। वह घर में रहकर भी योगिनी हो गई है और निखिल निहंग हो गया है। सांत्वना निगम की 'अंधे दायरे' (सारिका, मई १९७०) में पत्नी की दृष्टि में 'मैरेज इज अ गास्टली ऐनडयोरेंस कानटैक्ट ह्विच वी एण्ड इन हेटिंगईच अदर'। देवता सादृश्य पति के दैवी गुणों से उसका अवगुणी मन लद गया है। वह पाप करना चाहती है। दोनों इस्पात के ठंडे टुकड़ों से हो चुके हैं। उनके अन्दर के पति-पत्नी मर चुके हैं। वे मात्र पैरेंट्स हैं। रवीन्द्र कालिया की 'मौत' (काला रजिस्टर) में पत्नी-पति की मृत्यु के समय शोक-दग्ध होने की अपेक्षा अपने खरे यौवन की दुहाई देती, पति के मित्रों को सजग करती है। उसी रात, जबकि पति का शव अभी दूसरे कमरे में पड़ा है। वह पति के मित्र संग रंगरेलियाँ मनाने लगती है। उनकी 'सन्दल और सिन्थाल' में पत्नी मात्र भोग की वस्तु है। यहाँ अंग्रेजी का ट्यूटर इन्द्रजीत आनन्द यौन-उत्तेजना की प्राप्ति सामने घर के बाथरूम में कपड़े बदलती नंगी औरत से प्राप्त करता है और फिर अपनी पत्नी पर चीते की भाँति ऐसे झपट पड़ता है कि होश में आने पर देखता है कि पत्नी बर्फ की तरह ठंडी और चित्त पड़ी है। कृष्ण भावुक की 'संत्रस्त' (पत्थरों के बीच) का नायक पत्नी के बच जाने की बात सुनकर संत्रस्त हो उठता है। मणिका मोहिनी की कहानियाँ पति-पत्नी के मध्य सभी कुछ मर जाने के पश्चात की कहानियाँ हैं। इन कहानियों में पति-पत्नी घर का फालतू सामान है और पति को 'बस यूँ ही' लिया जाता है। श्री सुरेन्द्र तिवारी के शब्दों में—'यथार्थ तो यह है कि मणिका ने ही दाम्पत्य को गहराई और समझदारी से छुआ और एक भोगे हुए जीवन (सही तौर पर भोगा हुआ) के रूप में उसे प्रतिपादित किया है।' (प्रकर, जुलाई १९७३, पृ० २०) उनकी 'एक ही बिस्तर पर' (खत्म होने के बाद) में पति-पत्नी एक ही बिस्तर पर लेटे हैं, लेकिन बीच में फैले जाने-पहचाने ठंडेपन के कारण वह मुर्दा हुई जा रही है। उनकी 'दुश्मन' (वही) में पति-पत्नी अविश्वास और असुरक्षा भोग रहे हैं। बोरियत (वही) में प्रेम बकवास हो गया है। दोनों एक दूसरे की मृत्यु की कामना करते हैं। दो उदाहरण प्रस्तुत हैं।

१. मैंने बताया कि इस समय मौसम बहुत सुहावना है, किसी का भी आपस में बात करने को मन हो सकता है, इसलिए वह चुप न रहे।

'कैसी बात,'? उसके पूछने से मुझे तनिक आशा बँधी और मैंने जरा-सा शरमाकर कहा—'प्रेम की बात'।

'प्रेम क्या होता है,' शायद वह अकड़ रहा था।

मैंने ढिलाई छोड़कर कहा 'प्रेम प्रेम होता है।

वह बोला 'प्रेम प्रेम नहीं होता। प्रेम बकवास होता है।

मुझे गुस्सा आ गया 'तो क्या शादी से पहले तुम हर समय बकवास करते रहे ?'

उसने उतने ही अकड़ से कहा—'शायद, पर तब मैं खाली था।' (वही पृ० २५)

२. 'मेरे मरने के बाद तुम क्या करोगे ?'

वह जवाब देता है। 'निश्चित है आत्महत्या नहीं करूँगा।'

मैं कहती हूँ, मैं यह नहीं जानना चाहती कि तुम क्या नहीं करोगे। मुझे लगता है कि तुम किसी गोरी, दसवीं पास या फेल, पंजाबिन-सी दिखने वाली लड़की से शादी कर लोगे।'

वह कहता है—तुम्हारे मरने के पश्चात मेरे विचार होंगे कि औरत भोग के पश्चात परे फैंक देने कीं वस्तु है और गली-गली में 'फास्टर होम' होने चाहिए।

'मैं जलकर उसके मरने की दुआ करती हूँ।' (वही पृ० २६)

'विषयान्तर' (वही) में पति-पत्नी एक दूसरे को भाग जाने की धमकी दिया करते हैं। 'किनारे' (वही) में वे जब बोलते हैं, लड़ते हैं। सम्बन्ध देहद्वार पर मात्र ठहरे हैं। शान्ति मेहरोत्रा की 'उपदेश श्री कृष्ण का अर्जुन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को' (दो कथा) व्यंग्यात्मक रचना है। यहाँ दफ्तर को जा रहे अर्जुन को रास्ते में राशन की क्यू पर श्रीकृष्ण दीख पड़ते हैं। अर्जुन बताते हैं कि बीच के 'डिफरेंस' बढ़ जाने से इकट्ठा रहना मुश्किल हो गया था। अब द्रौपदी अलग रहती है, सर्विस करती है। कहीं काफीहाउस या मार्केट में मिल भी जाए तो उस पर एक अजीब-सा ठंडापन छाया रहता है। श्रीकृष्ण अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर ऐसे परिवार दिखाते हैं जहाँ सर्वत्र यही अवस्था है। काशीनाथसिंह 'आखिरी रात' (लोग बिस्तरों पर) में पति-पत्नी एक-दूसरे को प्यार करने की पूरी आकांक्षाओं से रात का प्रारम्भ करते हैं, लेकिन अन्त कातरता, निराशा, मौन, नाराजगी, चीखों, सिटपिटाहट आदि से ही होता है और नायक अन्त में कहता है—'हमारी रात का अन्त चाहे जब हुआ होता —जैसे होता— वह कुछ इसी तरह का रहा होता। बल्कि इससे बेहतर तो शायद नहीं होता।'

हमारे यहाँ नारी की शारीरिक पवित्रता और एकनिष्ठा ही दाम्पत्य का आधार थी। दाम्पत्य में से इस शारीरिक पवित्रता और एकनिष्ठा की मृत्यु हो चुकी है। उषा मेहता की 'रूपान्तर' (सारिका, सितम्बर १९७०) की रीनू को पति के साथ शारीरिक सम्बन्ध मात्र 'लीगल प्रोस्टीट्यूशन' लगते हैं। अग्नि के सात फेरों का वास्ता देकर वह हर रात अपनी निगाहों में पाप और समाज की निगाहों में पुण्य करती है। इच्छा के विरुद्ध पति से बोटियाँ नुचवाना उसे ऐसा गिजगिजा लगता है, मानो गंदे नाले में फेंक दिया गया हो। पति की बाहों में हर रात उसे प्रेमी महिम का ख्याल आता है और एक शाम वह बड़े आग्रह से महिम को चौपाटी यह दिखाने बुलवाती है कि 'न्यूड, में स्त्री क्या होती है, भले ही महिम आता नहीं। कृष्ण सोवती की 'मित्रो मरजानी' (मित्रो मरजानी) की मित्रो के समक्ष नैतिक-अनैतिक शब्द व्यर्थ हो चुके हैं। पति उसकी यौन माँगों को तृप्त नहीं कर पाता। जेठ हो या अन्य पुरुष,—वह किसी के विषय में कुछ भी सोच सकती है। यहाँ तक कि उस बड़े दरबार वाले को भी वह चुनौती देती है। पति और जेठ के लिए कहती है—'मर्दजन' होते तो चटखारे ले ले मुझे चाटते या फिर शेर की तरह कच्चा चबा जाते' (वही पृ० १७) अपनी माटी की देह में समाई रस की तलैया पर उसे इतना विश्वास है कि उस बड़े दरबार वाले का भी उसे डर नहीं। कहती है—काहे का डर? जिस बड़े दरबार वाले का दरबार लगा होगा वह इन्सान क्या मर्दज़ना न होगा? तुम्हारी देवरानी को भी हाँक पड़ गई तो जग-जहान का अलबेला गुमानी एक नजर मित्रो पर भी डाल लेगा।' (वही पृ० ६३) मन्नू भण्डारी की 'ऊँचाई' (एक प्लेट सैलाब) की शिवानी पति के प्रति पूर्ण समर्पिता होते हुए भी ग्यारह वर्ष पुराने प्रेमी को बिना किसी अपराधबोध के शरीर समर्पित कर आती है। उषा प्रियम्वदा 'कितना बड़ा झूठ' (कितना बड़ा झूठ) की किरण अढ़ाई महीने पश्चात घर लौटती है। पति या बच्चों से मिलने की उत्कंठा की अपेक्षा प्रेमी मैक्स से मिलन की अनुभूति उसे दिनों से उत्कंठित उल्लसित और उत्साहित करती है। प्रतिध्वनियाँ (वही) की वसु अपने व्यक्तित्व को पाने के मोह में पतित श्यामल के होते हुए नलिन, पटनायक, विस आदि अनेक पुरुषों से मादक सम्बन्ध रखती है। निरुपमा सेवती की 'ठहरी हुई खरोंच' (खामोशी को पीते हुए) में नायिका का एक ऐसे उच्चवर्गीय पुरुष से सम्बन्ध होता है जिसकी पत्नी स्वयं अपने पति के लिए लड़कियाँ जुटाया करती है। उषा प्रियम्वदा की 'ट्रिप' (कितना बड़ा झूठ) का पति पत्नी के मित्र पुरुषों से सम्बन्ध को जानते हुए भी उससे नाता नहीं तोड़ता, चीखता चिल्लाता नहीं, मारता-पीटता नहीं, अपितु कहता है कि उसे उससे गहरा लगाव है। बस वह दो बातों का ध्यान रखे, 'एक वह अपने अफेयर चुपचाप कण्डक्ट करेगी, दूसरे इस आयु में वह नए बच्चे की जिम्मेवारी नहीं लेंगे, इसका वह ध्यान रखेगी'। (वही पृ० ६१) कृष्णा सोबती की 'यारों के यार' (यारों के यार) में अवस्थी जैसे ऊँचे अफसर भी आर्थिक सम्पन्नता के लिए पत्नी को अन्य पुरुष के यहाँ भेजते हैं। श्रीमती विजय चौहान की 'पंचतंत्र १९६७' की 'कुलटा स्त्री की कथा' (एक बुतशिकन का जाल) में उच्चपद का रहस्य पत्नी है। स्थिति का व्यंग्य वहाँ उभरता है जहाँ ब्राह्मण पत्नी को बॉस के साथ अपने बैडरूम में देखकर बहुत प्रसन्न होता है और 'माफ कीजिए,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैंने आपको डिस्टर्ब किया' कहकर लौट आता है। कृष्ण बलदेव वैद की कहानी 'त्रिकोण' (दूसरे किनारे से) में पति का दोस्त उसकी पत्नी से सम्भोग करता है। पति देख लेता है, पर कहता कुछ नहीं। क्रोध भी नहीं करता। पति भी खुश है, पत्नी भी और दोस्त भी। किसी में भी कोई अपराध-भाव नहीं।

विवाह या तलाक, सम्बन्धों के जुड़ने या टूटने के सामाजिक नाम थे। बीना रामानन्द की 'निष्कृति' (संचेतना-१५), ममता-कालिया की 'साथ', 'अपत्नी' (छुटकारा) में यही स्थिति है। निष्कृा का 'वह', 'साथ' का अशोक, 'अपत्नी' का प्रबोध पत्नी से तलाक न मिलने पर भी प्रेमिकाओं के साथ गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हैं।

जब पत्नी कमाए और पति घर का काम करे, मरी हुई आवाजें बुझी हुई करेंट सी रेंगे, बच्चे भूखे ही सो जाएं, बेटे के घर में बीमार माँ का नाक और आँखें चींटियाँ खोद जाएँ, समस्त परिवार बेकार बेटे की नहीं, उसकी मृत्यु की सूचना लाने वाले व्यक्ति की प्रतीक्षा करे, होस्टल में रह रहे बच्चों के लिए माँ-बाप का सारा स्नेह मर जाए अथवा बच्चे बेडौल, बूढ़े, पितानुमा व्यक्तियों को देखकर आश्चर्यचकित हों, बेटा बाप को जीवनदर्शन का उपदेश दे, पिता पत्नी-बेटी में कोई अन्तर न समझे अथवा युवा बेटी की मित्रता में उसकी हमउम्र युवतियों से यौनतृप्ति करता फिरे, माँ जमाई को देख बेटी से ईर्ष्या करे, बेटी के लिए निर्वाचित वर से पहले अपनी यौन-तृप्ति करे, बेटेनुमा युवकों से विवाह करे, बच्चे माता-पिता के विषमलिङ्गी सम्बन्धों को जानकर उन्हें वितृष्णा या सुविधा दें, युवा बेटी विधवा माँ के पुर्नविवाह का सोचे, भाई-बहन में प्रेयसी का रूप खोजें, उसी शहर में रह रहे भाई-बहन को एक-दूसरे का पता नहीं अथवा बीच की भावुकता बचकानी हो जाए, तो फिर सम्बन्धों की बात कहाँ तक की जा सकती है। यही अवस्था प्रेमी-प्रेमिका और पति-पत्नी के बीच है। प्रेमी-प्रेमिका शब्द अतीत की वस्तु रह गए हैं। अब तो बॉसनुमा अधेड़ पुरुष हैं और स्थिति को स्वीकार-अस्वीकार करती युवतियाँ हैं। मुक्तमिलन का जीवन-दर्शन है। प्रेम की मृत्यु ने सैक्स को सर्वेसर्वा बना दिया है और यह सैक्स व्यापार का विषय है। शारीरिक नैतिकता पुरानी बात है। प्रेमी-प्रेमिका सम्बम्धों में भी अब ठंडापन है। पति-पत्नी अविश्वास, असुरक्षा, जड़ता, ठंडेपन को ढोते-ढोते परस्पर शत्रु हो गए हैं। एक-दूसरे की मृत्यु की कामना किया करते हैं। स्त्री एक साथ अनेक पुरुषों से सम्बन्ध रखती है और पुरुष भी अपनी पदोन्नति के लिए उसका बॉस के लिए उपयोग किया करता है। विवाह जैसी सामाजिक संस्था भी मर रही है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वि० विजय भारती
हिन्दी विभाग,
आन्ध्र यूनिवर्सिटी, वाल्येतर

पंत की प्रगतिवादी कविता में बिम्ब-योजना

पंत की प्रगतिवादी कविता में कल्पना को कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं है। उनमें सामाजिक यथार्थ की प्रतिष्ठा को महत्व प्रदान किया गया है। कोई भी कवि या साहित्यकार काव्य अथवा साहित्य के क्षेत्र में कल्पना तत्व के महत्व का अस्वीकार नहीं कर सकता और प्रगतिवादी कवि पन्त भी इसका अपवाद नहीं हैं। इसलिए पन्त ने उस यथार्थ चित्रण को काव्यात्मक बनाने के लिए कल्पना-शक्ति का आश्रय तो अवश्य लिया है।

कल्पना मानव की अपूर्व अनुभूति को सहज रूप में, अव्यक्त को व्यक्त रूप में, अमूर्त को मूर्त रूप में और अनुभूति विचारों को अनुभूत रूप में व्यक्त करने की शक्ति प्रदान कर उन्हें संवेद्य बनाती हैं। वस्तुतः शास्त्र, दर्शन अथवा जीवन में दर्शन से संबद्ध विचार कल्पना का संयोग पाकर ही काव्य का विषय बन जाते हैं। पन्त के काव्यों में कल्पना सत्य पर आधारित होने के कारण ही सार्थक हुई हैं। उनके काव्यों में कल्पना का यह गुरुत्तर कार्य उसकें दो उपकरणों के माध्यम से संपन्न हुआ है। और वे हैं—बिम्ब और प्रतीक।

पंत के प्रगतिवादी काव्यों में प्रयुक्त बिम्ब-विधान का अध्ययन करने के पूर्व बिम्ब के स्वरूप तथा काव्य में उसके प्रयोजन के संबंध में विचार करना उचित होगा।

बिंब का स्वरूप :—बिंब विचारों को चित्रात्मकता प्रदान करके काव्य सौष्ठव का वर्धन करने वाले कल्पना के उपकरणों में एक है। आधुनिक कालीन अनेक कवियों का बिम्ब के लिए विशेष आग्रह है। उनकी दृष्टि में बिम्ब-विधान की सफलता ही काव्य की श्रेष्ठता की परिचायिका है। पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा में भी बिम्ब की विवेचना की गयी है।

अग्रेजी के आलोचक 'काफमेन' के अनुसार, 'बिंब पुँजीभूत विचारों की राशि अथवा समुदाय है, जिसमें शक्ति का संचार होता है।'[1]

एक अन्य आलोचक फेगल से अपनी पुस्तक 'दि इमजेरी आफ कीट्स एण्ड शैली' के अन्तर्गत बिंब की संवेदनाशीलता तथा अनुभूति का अत्यधिक महत्व प्रतिपादित किया है। उनका कथन है कि मनोवैज्ञानिकों तथा अनेक आलोचकों की दृष्टि में काव्य का बिंब विधान कवि की ऐंद्रिय अनुभूति की अभिव्यक्ति है, जो दृश्य, श्रवण, घ्राण, स्पर्श और रुचि के माध्यम से प्रकट होती है। वह इन माध्यमों के द्वारा मन को प्रभावित करता है और काव्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया जाता है कि भौतिक संवेदनाओं को स्पष्ट एवं विश्वसनीय रूप में प्रकट कर सके।[2]

१. "Image as vertex or cluster of fused ideas is endowed with energy"
"Imaginism" S.K. Coffman, First Edition, p-132.

२. "To psychologists and to many critics. imagery in poetry is the expression of sense-experience chanelled through these channels expressed upon the mind and set forth in verse in such fasion as to recall as vividly and faithfully as possible the original sensations"
"The imagery of Keats and shelley" chapter one—Fogle, p-3.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिंब की ऐन्द्रियता, आलंकारिक गुण तथा रागात्मकता की ओर संकेत करते हुए पाश्चात्य काव्य समीक्षक सी. डी लेविस ने लिखा है कि काव्यात्मक बिंब में एक प्रकार का ऐन्द्रिय शब्दचित्र है, जो कुछ अंशों तक आलंकारिक होता है, जिसके संस्पर्श में मानवीय संवेदनाएँ निहित रहती है और जो पाठक के मन में एक विशिष्ट रागात्मक भाव या आवेग को उद्दीप्त करता है।[1]

अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध कवि एवं आलोचक 'कालरिज' की दृष्टि में बिंब कोई दृश्य बिंब, किसी संवेदना की अनुभूति, कोई भाव या तथ्योद्घाटन कोई मानसिक घटना, कोई अलंकार या वस्तुओं की तुलनात्मक इकाई तक हो सकता है।[2]

अपनी परिभाषा के अन्तर्गत लेखक ने बिंब के स्वरूप विषयक समग्र व्याख्या प्रस्तुत करने की सफल चेष्टा की है।

हिन्दी के प्रमुख आलोचक डा० नगेन्द्र का कथन है कि कोई भी अत्यंत सूक्ष्म बिंब सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि उसे देखने में इतना कम, प्रायः न के बराबर, समय लगता है कि वह सर्वथा अस्पष्ट ही रह जाता है। इसी प्रकार अत्यन्त विराट् आकार का बिंब भी सुन्दर नहीं हो सकता, क्योंकि हमारी दृष्टि समग्र रूप को एक साथ नहीं ग्रहण कर सकती, जिसके फलस्वरूप द्रष्टा के मन में उसकी पूर्णता तथा एकत्व की भावना खण्डित हो जाती है, मानों किसी एक हज़ार मील लंबे पदार्थ को देखने का व्यर्थ प्रयास हो।[3]

निष्कर्ष में यह कहा जा सकता है कि बिंब मानव मन की संवेदनशील और अमूर्त अनुभूतियों का ऐन्द्रिय स्वरूप है, जो अलंकारों से सशक्त भाषा में व्यक्त किया जाता है।

पंत के प्रगतिवादी काव्यों में प्रयुक्त बिम्ब-विधान— पन्त के काव्यों में बिंब का निर्माण केवल शिल्प कौशल की दृष्टि से न होकर कवि के गूढ़ एवं सूक्ष्म विचारों को कल्पना तथा अनुभूति के सहयोग से ऐन्द्रिय, सजीव, संवेदनशील तथा मर्मस्पर्शी बनाकर उनकी बौद्धिकताजन्य नीरसता तथा दुरूहता को दूर करने और उनमें काव्यात्मकता एवं सौंदर्य-योजना की सृष्टि करने के लिए हुआ है।

पन्त के प्रगतिवादी काव्यों की मूल भित्ति ही बौद्धिक, दार्शनिक तथा वस्तुमूलक यथार्थवादी चेतना पर आधारित है। इसलिए उनकी काव्य-धाराओं में आनेवाली बौद्धिकता, हेतुवादिता या तर्कशीलता, चिन्तन की प्रधानता, यथार्थवादिता आदि से निसृत सैद्धान्तिकता के प्राचुर्य को दूरकर उनको मार्मिक, सरस एवं संवेद्य बनाने की दृष्टि से ही पन्त ने अपने काव्य में कल्पना के सहयोग से विभिन्न प्रकार के बिंबों की सृष्टि की। निम्न-मध्य वर्गीय जनता की दीन-हीन स्थिति, शोषण एवं शासन की क्रूरता, जन जागृति एवं एकता की प्रेरणा, वर्ग संघर्ष, क्रान्ति की प्रक्रिया आदि की सूक्ष्म अभिव्यक्ति जहां सुगमता पूर्वक सम्भव नहीं हो पाती थी, वहां पन्त ने कल्पना के आश्रय से सुन्दर बिंबों का सफल निर्माण किया। काव्यों में जिन बिंबों का निर्माण होता है, उनका अध्ययन प्रायः माध्यम की दृष्टि से किया जा सकता है।

१. "Poetic image is more or less sensuous picture in words, to some degree metaphorical, with an under-note of some human emotion in its context, but also charged with and releasing into a special poetic emotion or passion—"Poetic image" C.D. Lewis

२. "An image may be......a visual image, a copy of sensation or it may be an idea an invention of mind, which represents something or it may be a figure of speech, a double unit involving comparison" Coleridge.

Quoted by T.A. Richards, Coleridge's "Imaginism"

३. "पाश्चात्य काव्य की परम्परा"—डा० नगेन्द्र. दूसरा संस्करण, १९६६, प्रकाशक : हिन्दी विभाग. दिल्ली विश्वविद्यालय,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिंबों के पांच प्रमुख प्रकार मान्य हैं।

१. दृश्य-बिंब २. स्पर्श-बिंब ३. ध्वनि-बिंब

४. घ्राण-बिंब और ५. रस-बिंब।

पन्त के काव्यों में इन सभी बिंबों के उदाहरण हमें मिलते हैं।

१. दृश्य बिम्ब—पन्त ने अपने सूक्ष्म एवं अमूर्त विचारों को जहाँ अधिक बोधगम्य, सजीव एवं संवेद्य बनाने की आवश्यकता का अनुभव किया, वहाँ पर मूर्त, ऐन्द्रिय अथवा दृश्य बिंबों के द्वारा पन्त की व्यापक अनुभूति व्यक्त हुई है। काव्यों की सुन्दरता का वर्धन हुआ है और उनमें जीवन्तता या मार्मिकता की प्रतिष्ठा भी हुई है। दृश्य बिंब के उदाहरण हम पन्त की 'ग्राम्या' में अधिक देख सकते हैं। 'गांव के लड़के' कविता में पन्त जी ने गाँव के लड़कों की स्थिति का चित्रण दृश्य बिंब के माध्य से प्रस्तुत किया है, जिससे उन लड़कों के रूप को हमारी आँखों के सामने चित्रित कर सके हैं—

"मिट्टी से भी मटमैले,
अधफटे, कुचैने, जीर्ण वसन—
ज्यों मिट्टी के हों बने हुए
ये गंवई लड़के—भू के धन।"[1]

'वह बुड्ढा' कविता में, उस बुड्ढे के बारे में पन्त जी का वर्णन हमारी आँखों के सामने उस बुड्ढे का रूप उपस्थित करने के साथ-साथ हमारे मन को आर्द्रता से भर देता है। कवि के शब्दों में उसका चित्र साकार हो उठा है :—

"खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी
हिलते हड्डी के ढाँचे पर
उभरी ढीली नसें जाल-सी
सूखी ठठरी से हैं लिपटी
पतझर में ठूँठे तरु से ज्यों
सूनी अमरबेल हो लिपटी।"[2]

२. स्पर्श बिम्ब :—जिन बिम्बों का बोध स्पर्शेन्द्रियों के भाध्यम से सरलता से संभव होता है, उन्हें 'स्पर्श बिंब' की संज्ञा दी जाती है। इस वर्ग के बिम्ब पन्त के काव्यों में यद्यपि पर्याप्त मात्रा में नहीं मिलते, किन्तु जितने मिलते हैं, वे मार्मिक और संवेदनशील बन पड़े हैं। पन्त के 'खिड़की से' कविता में इस बिम्ब का चित्रण हम देखते हैं :—

"चारु चन्द्रिका तप से पुलकित निखिल धरातल,
चमक रहा है, ज्यों जल में बिम्बित जग उज्ज्वल।"[3]

'ग्रामश्री' कविता में खेतों का वर्णन पन्त ने इसी बिम्ब के माध्यम से किया है।

"फैली खेतों में दूर तलक
मखमल की कोमल हरियाली
लिपटी जिससे रवि की किरणें
चाँदी की सी उजली जाली।"[4]

३. ध्वनि-बिम्ब :—जिन बिम्नों के बोध के लिए श्रवणेन्द्रिय की आवश्यकता होती है, और जिनमें नाद अथवा ध्वनि की प्रधानता होती है, उन्हें ध्वनि बिंब की श्रेणी में परिगणित करते हैं। इसके उदाहरण भी 'ग्राम्या' में अधिक संख्या में मिलते हैं। 'चमारों का नाच', 'धोबियों का नृत्य' आदि कविताएँ 'ध्वनि बिंब' से भरी हुई है :—

"उड़ रहा ढोला धाधिन, धातिन,
औ, हुडुक, धुडुकता ढिम ढिम ढिन,
मंजीर खनकते खिन खिन खिन,
मद मस्त रजक, होली का दिन,
लो छन छन, छन छन,
छन छन, छन छन,
थिरक गुजरिया हरती मन।"[5]

४. घ्राण-बिम्ब :—इस वर्ग के अन्तर्गत उन बिंबों की गणना की जाती है, जिनका बोध घ्राणेन्द्रिय के द्वारा होता है। वस्तुतः इस बिंब की योजना हिन्दी के अन्य प्रगतिवादी काव्यों में उन स्थलों पर हुई है, जहाँ शोषण

१. 'ग्रम्या', 'गांव के लड़के'—सुमित्रानंदन पन्त, पृ० २७
२. ,, 'वह बुड्ढा' — ,, पृ० २६
३. 'ग्राम्या', 'खिड़की से' —सुमित्रानंदन पंत, पृ० ६८
४. ,, 'ग्रामश्री' — ,, पृ० ३५
५. ,, 'धोबियों का नृत्य'— ,, पृ० ३१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर आधृत समाज के विभिन्न वैषम्यों का यथार्थवादी चित्र अंकित किया गया है। पर पन्त के प्रगतिवादी काव्यों में घ्राण बिंब को साधारण रूप से ही हम पा सकते हैं। जैसे :—

"कूकी थी कोकिल, हिले मुकुल,
भर गएं गंध से मुग्ध प्राण।"[1]

'ग्रामश्री' कविता में गाँवों के खेतों का वर्णन करते हुए पन्त ने लिखा है :—

"उड़ती भीनी तैलावत गंध,
फूली सरसों पीली पीली।"[2]

५. **रस बिम्ब** :—जिन बिम्बों का बोध रुचि अथवा जिह्वेन्द्रिय के द्वारा होता हैं उन्हें रस-बिंबों की कोटि में परिगणित किया जाता है। इस वर्ग के बिंब कवि की भावनाओं को सूक्ष्म अभिव्यक्ति प्रदान करने में सफल हुए हैं। समाज के शोषक-शोषित वर्गों की स्थिति के ह्रास विपाद को और उनके सुख-दुखों को क्रमशः मधुर और तिक्त गुणों से युक्त रस-बिंबों के द्वारा पन्त के काव्यों में मूर्त रूप प्रदान किया गया है :—

"इसके रस में आनंद भरा,
इसका सौंदर्य सदैव हरा,
पा दुख सुख का छाया प्रकाश
परिपक्व हुआ इसका विकास
इसकी मिठास है मधुर प्रेम।"[3]

स्थिति के अनुसार भी काव्यों में बिंब योजना होती है, जिसके दो भेद होते हैं :—

१. स्थिर बिंब और २. गत्यात्मक बिंब।

स्थिर बिम्ब :—काव्य में स्थिर बिंब का प्रयोजन तब होता है, जब एक व्यक्ति या दृश्य का वर्णन ऐसा हो कि हमारे आँखों के सामने वह चित्र स्थिर रूप से अंकित हो जाए, पन्त के काव्यों में भी हम स्थिर-बिम्ब को पा सकते हैं। उनकी कविता 'वह बुड्ढा' इसी बिंब का उदाहरण है :—

"खड़ा द्वार पर लाठी टेके,
वह जीवन का बूढ़ा पंजर,
चिमटी उसकी सिकुड़ी चमड़ी,
हिलते हड्डी के ढांचे पर।"[4]

इस छन्द को पढ़ते समय उस बुड्ढे को एक स्थिर रूप में देख सकते हैं।

२. **गत्यात्मक बिम्ब** :—गत्यात्मक बिंब वह है कि कविता में एक दृश्य के बारे में पढ़ते समय हम ऐसा अनुभव करें कि उस दृश्य के चित्रीकरण में एक तरह की गति है। पन्त के सभी प्रगतिवादी काव्यों में गत्यात्मक बिंबों को हम पा सकते हैं। 'ग्राम्या' में 'ग्रामयुवती' का वर्णन करते समय इसी बिंब का प्रयोग किया है :—

"उन्मद यौवन से उभर
घटा सी नव असाढ़ की सुन्दर,
अति श्याम वरण
श्लथ मंद चरण,
इठलाती आती ग्राम युवती,
वह गजगति
सर्प डगर पर।"[5]

इस छन्द को पढ़ते समय अपनी आँखों के सामने उस युवती के रूप के साथ-साथ, उसका चलन भी हम अनुभव करते हैं।

१. 'युगांत' 'धोबियों का नृत्य'— „ पृ० ४४
२. 'ग्रामश्री' 'ग्राम्या' — „ पृ० ३५
३. 'युगांत' „ — „ पृ० २७
४. 'ग्राम्या' 'वह बुड्ढा' —सुमित्रानन्दन पन्त, पृ० २९
५. 'ग्राम्या' 'ग्राम युवती' — „ पृ० १७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुमन वर्मा
१६५, विद्या विहार,
पिलानी (राजस्थान)

रावण की भक्तिभावना

गोस्वामी जी ने अपनी भक्ति-भावना के अनुकूल जिन पात्रों का उत्कर्ष और परिमार्जन किया है उनमें रामकथा के प्रतिनायक रावण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। रावण की भक्ति-भावना का सूत्र आदि रामायण में भी प्राप्त है। वाल्मीकि का रावण भगवान् रुद्र का कट्टर भक्त एवं विष्णु का घोर विरोधी है। शिव के प्रति उसकी अनन्य भक्ति एवं हठयोग का पता अपने दस सिरों को काट कर भेंट करने में दर्शनीय है।[1]

वस्तुतः विज्ञान और भौतिक उन्नति में तल्लीन रहने वाला व्यक्ति इस प्रकार की भक्ति स्वीकार नहीं कर सकता जिसमें भौतिकता का स्थान न हो। रावण के साम्राज्य में विज्ञान और भौतिक प्रगति अपने चरमोत्कर्ष पर थी। इसका पता हमें आदि रामायण (सुन्दर कांड के छठे सर्ग) में भली भाँति प्राप्त है। इसकी सम्भावना शंकर या रुद्र में है जो ज्ञान-विज्ञान के जनक कहे जाते हैं। व्याकरण के चौदह सूत्र रुद्र भगवान् के डमरू से निकले थे। अतः रावण की संगति शिव के साथ बैठती है, विष्णु के साथ नहीं। दूसरे तामसी गुणों के प्रतिनिधि शिव ही हैं। इस कारण भी रावण अपने तामसी स्वभाव के अनुकूल शिवभक्त है। विष्णु ज्ञान और प्रकाश के देवता हैं। वे सात्विक होने के कारण रावण के प्रतिकूल ठहरते हैं। इसी कारण रावण राम (विष्णु) का विरोधी था। तामसी प्रवृत्ति का प्रतीक होने के कारण वाल्मीकि ने उसे 'लोक रावणः' (लोक को रुलाने वाला) 'शत्रुरावणः'[2] (शत्रु को रुलाने वाला) कहा है।

रावण प्रकाण्ड वैदिक विद्वान भी था। उसके पिता विश्रवा मुनि ने आर्य पद्धति के अनुकूल उसे शिक्षा दी थी एवं अपने पुत्र को वेदों का अध्ययन भी कराया था। इसी कारण वाल्मीकि ने उसे 'वेदान्तग' तथा 'विद्या-स्नातक'[3] कहा है। बौद्धिक शक्ति के साथ ही रावण की भौतिक शक्ति भी अपरिमेय थी। उसने दस हजार वर्षों तक निरन्तर उपवास और उग्र तपस्या द्वारा अपने अन्तः-करण को शुद्ध किया था और अन्तर्ज्योति के प्रकाश में उसके समस्त पापों का शमन हो गया था।[4] वाल्मीकि रामायण के उत्तर काण्ड में रावण-चरित से स्पष्ट है कि उसने सामवेदोक्त मंत्रों के द्वारा नर्मदा के तट पर शिव का स्तवन किया था।[5] इस प्रकार बौद्धिक शक्ति (ज्ञान) और शारीरिक शक्ति (संयम) के मेल से रावण के चरित्र में स्वाभाविक भक्ति दर्शनीय है।

तुलसीदास जी ने अपनी समन्वयकारी प्रवृत्ति के अनुसार रावण की तामसी और सात्विक प्रवृत्तियों में सामंजस्य किया है। वस्तुतः कोरे तामसी हृदय में भक्ति का उद्रेक संभव नहीं। इसी कारण रावण राम का

१. वा. रा. ७.६.१०

२. वही, ५.५०.१; ६.८६; ३४.८; ११०.६६
३. वही, ६.९२.६४
४. वा. रा. ७.६.२३
५. सामभिर्विविधैः स्तोत्रै प्रणम्य स दशाननः।
वही ७.१६.६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रच्छन्न भक्त है।[1] ज्ञानी होने के कारण वह यह जानता है कि सात्विकता अच्छी प्रवृत्ति है। अतः उसके मन में प्रच्छन्न भक्ति के द्वारा मुक्ति का विचार आता है। मोक्ष सतोगुण से ही प्राप्त होता है परन्तु रावण की मूल प्रवृत्ति है सत से विद्रोह। इस कारण उसने अपने तामसी स्वभाव के अनुरूप प्रच्छन्न राम भक्ति का अवलम्बन लेकर राम से हठपूर्वक तादात्म्य स्थापित किया।[2] यदि तादात्म्य को भक्ति माना जाय तो रावण की यह भक्ति अपूर्व है।

भक्त अद्वैत को मानता है। उसके लिए ब्रह्म और शक्ति मूलतः एक है।[3] इसी कारण रावण सीता के माध्यम से राम से तादात्म्य स्थापित करता है, जैसा कि त्रिजटा के कथन से स्पष्ट है—

'एहि के हृदय बस जानकी जानकी उर मम बास है।
मम उदर भुवन अनेक लागत बान सब कर नास है॥
काटत सिर होइहि बिकल छुटि जाइहि तब ध्यान।
तब रावनहिं हृदय महुँ मरिहहिं राम सुजान॥'[4]

सीता को हरते समय भी रावण उनकी मन-ही-मन वंदना करता है।[5] आदि रामायण के विपरीत रामचरितमानस में रावण की कामवृत्ति बहुत सीमित है,[6] क्योंकि राम और काम में ताल-मेल नहीं बैठता। रावण अपने जीवन में तो असत्वृत्तियों का परिमार्जन नहीं कर सका परन्तु मृत्यु ने उसकी दुष्प्रवृत्तियों का परिमार्जन कर दिया। इसी से वह मृत्यु के उपरान्त सायुज्य मुक्ति का अधिकारी बना।[7]

१. रा. च. मा. ६.१०२.५
२. वही, ३.२२. १.२.३
३. वही, १.१८
४. रा. च. मा. ६.९८.९९
५. वही, ३ २६.८
६. वही, ५.८.२.३
७. वही, ६.१०२.५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंजुल उपाध्याय
सी-१८५, ज्ञानमार्ग, तिलक नगर,
जयपुर (राजस्थान)

निर्मल वर्मा के साहित्य की भाषा-संरचना और शैली

निर्मल वर्मा की कहानियों में कथ्य और भाषा रूप में भी अनुरूपता है।[१]

कृति एक भाषात्मक संरचना होती है। यह भाषागत संरचना कृतिकार की मानसिक संरचना की बाह्य अभिव्यक्ति होती है। लेखक की मानसिकता की विशिष्टता के कारण उसकी भाषा-शैली भी प्रचलित से भिन्न हो जाती है। यह सत्य है कि एक ही कथ्य (कन्टेन्ट) कई शैलियों में लिखा जा सकता है परन्तु, फिर भी लेखक की भाषा-शैली के विश्लेषण से, लेखक की मानसिक संरचना का ज्ञान होता है। इस मानसिकता से ही, एक ही वर्ण्य-विषय के प्रति, लेखकों के परिप्रेक्ष्य, संवेदनाएँ और प्रतिक्रियाएँ भिन्न हो जाती हैं। इसी कारण शैली को कोई तो अँगुलियों की छाप[२] कहता है, तो कोई शैली को मस्तिष्क की रूपरेखा कहता है।[३] फ्लावेयर शैली को वस्तुओं को देखने का एक पूर्ण परिप्रेक्ष्य मानता था। मार्शल प्रूस्ट का विचार था कि शैली तंत्र या तकनीक नहीं, बल्कि शैली दृष्टि (विज़न) है।[४]

भाषा-शैली के समकालीन अन्वेषण-अध्ययन से भाषा-शैली और लेखक की मानसिक संरचना की एकता का तथ्य बार-बार सामने आता है।[५]

लियो स्पिट्ज़र ने भाषा-शैली और कृतिकार के सम्बन्ध को स्पष्ट किया। उसने 'भाषाशास्त्रीय चक्र'[६] की धारणा प्रस्तुत की है। कृति के पुनः-पुनः पाठ से लेखक की शैलीगत विशिष्टताएँ उभरने लगतीं हैं। इसकी विधि यह है कि पाठक परिधि से केन्द्र की ओर और केन्द्र से परिधि की ओर चले। दूसरे शब्दों में यदि पाठक या विवेचक शब्द, शब्द विन्यास, वाक्य-प्रयोग आदि का अध्ययन करें तो लेखक की केन्द्रीय मानसिक स्थिति तथा दृष्टिकोण का ज्ञान हो सकता है। फिर, उस मानसिक स्थिति और दृष्टि से भाषागत प्रयोगों की ओर चलकर उनका सम्बन्ध खोजा जा सकता है।

उदाहरण के लिए यदि किसी लेखक की भाषा-शैली में अपने आप बढ़ने वाली लय है तो इसका कारण उस लेखक का स्नायविक स्वभाव (नरवस नेचर) है। स्नायविक स्वभाव शैली से अनुशासित नहीं होता, वह शैली को प्रवाहपरक या ऊर्जात्मक बना देता है। दिदरो की लेखन-शैली में यही विशेषता है। दिदरो के दर्शन, स्वभाव और शैली में एकरूपता है।[७]

स्पिट्ज़र ने यह स्वीकार किया है कि आधुनिक लेखकों में यह प्रवृत्ति अधिक है क्योंकि वे, किसी परम्परा-

१. कॉरिस्पोन्डैन्स।
२. ए रिव्यू आफ़ इंग्लिश लिटरेचर—सम्पादित ए. नारमैन जैंफरेस, पृ० २१-३१
३. स्टाइल इज़ फिज़ियॉगोनॉमी आफ़ माइण्ड, शापेनहाउर, वही।
४. स्टाइल इज़ नॉट ए क्वेनश्चन ऑफ़ टेकनीक, बट विज़न,—वही।
५. लिंग्विस्टिक्स एण्ड लिटरेरी स्टाइल—डोनाल्ड फ्रीमैन।
६. फ़िलोलॉजिकल सर्किल।
७. लिंग्विस्टिक्स एण्ड लिटरेरी स्टाइल—डोनाल्ड फ्रीमैन।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गत शैली का अनुकरण नहीं करते। वे अपनी शैली स्वयं गढ़ते हैं। भाषा-शैली के संरचनात्मक-विश्लेषण से कथ्य और शैली की समानुरूपता के अनुसंधान को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाया जा सकता है। मनोविश्लेषण-पद्धति का भी संरचनात्मक विधि के साथ प्रयोग करके निष्कर्षों की जाँच की जा सकती है।

निर्मल की बिम्ब-संरचना के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह कहानीकार मानवीकृत बिम्बों का अधिक प्रयोग करता है। वह, प्रकृति का वस्तुगत चित्रण नहीं करता, उसका मानवीकरण करता है। इससे निर्मल वर्मा की आत्मगतता[1] का सत्य पुष्ट होता है और यह भी कि लेखक दृश्य या घटना को अपनी संवेदना और संवेग से रंजित करके पेश करता है।

क्रियाबहुलता—निर्मल की भाषा-शैली की प्रथम विशेषता उसकी क्रिया बहुलता है। संरचनात्मक अध्ययनों में, संज्ञात्मक और क्रियात्मक[2] शैलियों पर सर्वप्रथम ध्यान दिया जाता है।

क्रियात्मक शैली में कथ्य स्पष्ट या मूर्त रूप पा जाता है जबकि संज्ञात्मक शैली में धारणात्मक[3] शब्द अधिक होते हैं। ये धारणात्मक शब्द प्रायः भाववाचक संज्ञाओं के रूप में होते हैं।

'मानवता का प्रत्यय व्यक्ति पर नहीं जाति के प्रत्यय पर आधारित है। जाति में एक प्रकार के व्यक्तियों की अन्य व्यक्तियों से भिन्न विशिष्टताओं का मानसिक साक्षात्कार रहता है।'

यह शैली संज्ञात्मक है। इसमें क्रियाओं का प्रयोग कम, भाववाचक शब्दों का प्रयोग अधिक है। इस शैली में पाठक के मन में मूर्त्त रूप नहीं उभरते, अमूर्त्त सत्य उदित होते हैं, जिनका ज्ञान पूर्वानुभव के बल पर होता है। वाक्य प्रायः जटिल, दीर्घ और निविड़ होते हैं। इसके विपरीत क्रियाबहुल शैली में वाक्य लघु, अजटिल, अमिश्रित और कँटे-छँटे होते हैं:

"मैं जानता था, वह दिन आएगा जब मैं एल्प्स के सामने खड़ा होकर, प्रतीक्षा करूँगा। कल शाम उसका टेलीफोन आया था। कहा था कि आज सुबह एल्प्स के सामने मिलेगी। उसने कुछ और नहीं कहा था......उस पत्र का कोई ज़िक्र नहीं किया था—जिसके लिए वह आज आ रही है। मैं जानता था, कि मेरे पत्र का वह उत्तर नहीं भेजेगी।"[4]

यहाँ क्रियात्मक शैली का प्रयोग है। वाक्य या तो साधारण हैं या संयुक्त, मिश्रित वाक्य नहीं।

साधारण वाक्य—(१) उसने कुछ और नहीं कहा था।
(२) मैं जानता था।

संयुक्त वाक्य—(१) वह दिन आएगा जब मैं एल्प्स के सामने खड़ा होकर प्रतीक्षा करूँगा।
(२) उस पत्र...किया था, जिसके लिए आज......आ रही है।

निर्मल वर्मा की प्रायः सभी कहानियों में क्रियात्मक शैली ही अपनाई गई है। प्रत्येक कहानी के कतिपय पृष्ठों का विश्लेषण, इस निष्कर्ष को पुष्ट करता है:

कहानी	पृष्ठ	क्रिया-संख्या
१. लवर्स[5]	७	१७
"	८	४३
"	९	५०
२. माया-दर्पण	२२	२०
"	२३	३८
"	२४	४०
३. एक शुरूआत	४४	१५
"	४५	३४
४. कुत्ते की मौत	५१	२३
"	५४	२४
"	५५	३८
५. पहाड़	६५	१८
"	६६	४०

१. सब्जैक्टिविटी।
२. नॉमिनल एण्ड वरबल स्टाइल।
३. कंसेप्चुअल।

४. लवर्स—जलती झाड़ी, पृ० ९
५. लवर्स से पहाड़ तक—जलती झाड़ी (कहानी संग्रह)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६.	जलती झाड़ी[1]	७८	२२
	,,	७९	३७
७.	धागे[2]	७	१३
	,,	८	४१
	,,	९	४३
८.	डेढ़ इंच ऊपर	३३	२१
	,,	३४	४६
	,,	३५	४१
९.	खोज	४६	१३
	,,	४७	३३
	,,	४८	३५
१०.	उनके कमरे	६०	१६
	,,	६१	३८
	,,	६२	३८
११.	अमालिया	७३	१३
	,,	७४	३८
	,,	७५	३२
१२.	पिछली गर्मियों में	१२६	१३
	,,	१२७	४१
	,,	१२८	४६
	,,	१२९	३७
१३.	इतनी बड़ी आकांक्षा[3]	१०८	१३
	,,	१०९	३२
	,,	११०	२९
	,,	१११	३७
१४.	डायरी का खेल[4]	९	२७
	,,	१०	३७
१५.	माया का मर्म	३४	२०
	,,	३५	३३
	,,	३६	३७
	,,	३७	३१
१६.	तीसरा गवाह	४५	१८
	,,	४६	३३
	,,	४७	३३
१७.	अंधेरे में	७०	२६
	,,	७१	४१
	,,	७२	४७
१८.	पिक्चर पोस्टकार्ड	१०३	२३
	,,	१०४	४६
	,,	१०५	४६
१९.	सितम्बर की एक शाम[5]	१२४	१७
	,,	१२५	२०
	,,	१२६	२६
	,,	१२७	३३
	,,	१२८	२५
२०.	परिन्दे	१३४	१३
	,,	१३५	२८
	,,	१३६	२६
	,,	१३७	२४
	,,	१३८	२८
	,,	१३९	२४

यदि प्रतिनिधि कहानियों के क्रिया शब्दों की गणना करें तो संख्या इस प्रकार होगी—

१. परिन्दे = १३ + २८ + २६ + २४ + १८ + २४ + २१ + २० + २८ + १६ + २५ + २४ + २२ + १७ + २१ + १५ + २१ + १९ + १७ + १९ + १९ + १९ + १९ + २३ + २३ + १९ + २६ + २१ + १५ + २१ + १८ + १७ + २० + २६ + २१ + १८ + १८ +

१. जलती झाड़ी कथा संग्रह से।

२. धागे से पिछली गर्मियों तक—पिछली गर्मियों में (कथा संग्रह)

३. पिछली गर्मियों में संकलित कहानी।

४. डायरी का खेल से पिक्चर पोस्टकार्ड तक—परिन्दे (संग्रह)

५. परिन्दे कथा संग्रह—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२० + २२ + २२ + २० + २२ + २० + २४ + १६ + १५ = ६१६

२. **लंदन की एक रात** = २२ + ३८ + ३५ + ३५ + ४० + ३४ + ४३ + ४३ + ३२ + ४२ + ४६ + ३४ + ३६ + ३८ + ४१ + ३४ + ३९ + ४१ + ४४ + ३९ + ४२ + ४५ + ५४ + ३३ + २९ + ३४ + ३९ + ३१ + ३३ + २८ + ३२ + २२ + ४७ + ४१ + ३५ + ३३ + ३५ + ३८ + १४ = ४५८

क्रियात्मक शैली भी दो प्रकार की होती है—मानसिक घटना प्रधान और बाह्य घटना प्रधान। निर्मल की क्रिया प्रधान शैली मानसिकता का वर्णन अधिक करती है अतएव वह मानसिक घटना प्रधान है। इस तथ्य से निर्मल वर्मा के अन्तर्मुखी स्वभाव या प्रवृत्ति का पता चलता है।

कहानी द्वारा 'आत्मा की जासूसी' लेखक का उद्देश्य है, अत: वह बाह्य घटना का भी मनोवैज्ञानिकीकरण[1] करता है :

'अगर आप चाहें तो इस मेज़ पर आ सकते हैं। जगह काफी है। आखिर एक आदमी को कितनी जगह चाहिए ? नहीं......नहीं......मुझे कोई तकलीफ़ नहीं है। बेशक, अगर आप चाहें, तो चुप रह सकते हैं। मैं खुद चुप रहना पसंद करता हूं......आदमी बात कर सकता है और चुप रह सकता है। इसे बहुत कम लोग समझते हैं। मैं बरसों से यह समझता आ रहा हूं।'[2]

यहां अवचेतन का आत्मगत शैली में वर्णन है। क्रिया बहुल शैली होने पर भी यह वर्णन मानसिक घटना प्रधान है। लंदन की एक रात कहानी में क्रियाबहुल शैली, बाह्यघटना के विवरण के लिए प्रयुक्त हुई है :

"मैं दूसरी बार गया था। पहली रात देर से पहुँचा था। जाने से पहले ही सारा काम बँट चुका था। मैं फिर भी, अनिश्चित-सा गेट के बाहर खड़ा था। सोच रहा था, शायद आखिरी क्षण उन्हें किसी आदमी की जरूरत पड़ेगी और वे मुझे बुला लेंगे।"[3]

इन दो ध्रुवों के बीच, क्रियाबहुल शैली का एक तीसरा रूप भी है जहां लेखक न तो 'मैं' की शैली अपनाता है (डेढ़ इंच ऊपर) और न एकदम वस्तुगत (लंदन की एक रात)। वह आत्मा की जासूसी के लिए क्रियाओं का प्रयोग अव्यक्तिगत विधि पर करता हुआ भी, मन के सत्य की ही टोह लेता है। क्रियाएँ यहाँ पात्र के मन के गर्भगृह में उतरने के लिए मानों सीढ़ियाँ हों अथवा क्रियाओं द्वारा लेखक जैसे पात्र के अवचेतन में सेंध लगा रहा हो :

"अँधेरे गलियारों में चलती हुई लतिका ठिठक गई। दीवार का सहारा लेकर उसने लैम्प की बत्ती बढ़ा दी। सीढ़ियों पर उसकी छाया एक बेडौल, कटी-फटी आकृति खींचने लगी......लतिका चुप खड़ी रही। कमरे में कुछ देर तक घुसर-पुसर होती रही...... सीढ़ियों पर बातचीत का स्वर सुन कर लतिका जैसे सोते से जगी।"[4]

'आत्मा की जासूसी' के लिए लेखक क्रियाओं के साथ, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं से कहीं अधिक सर्वनामों का प्रयोग करता है। सर्वनाम संज्ञा से अधिक अमूर्त होता है, इसलिए वह व्यंजक भी अधिक होता है। सर्वनाम में एक अस्फुटता या रहस्य रहता है जो भेदभरी स्थितियों और व्यक्तियों के अहसास के लिए आवश्यक हो जाता है।

निर्मल वर्मा ने इसीलिए क्रिया और सर्वनाम का सम्बन्ध स्थापित किया है। निर्मल, परिन्दे की कहानियों के पृथक तीन पृष्ठों में लगभग २०० बार सर्वनामों का प्रयोग करते हैं।[5]

निर्मल क्रियाबहुल शैली का प्रयोग कहीं सीधे विवरण के लिए करते हैं पर ऐसे परिचायात्मक स्थल बहुत कम

१. साइकोलोजायज़िंग।
२. डेढ़ इंच ऊपर, पिछली गर्मियों में, पृ० ३३
३. लंदन की एक रात, जलती झाड़ी, पृ० १०३

४. परिन्दे, परिन्दे, पृ० १३४-१३७
५. (क) डायरी का खेल — ४४
   (ख) माया का मर्म — २४
   (ग) तीसरा गवाह — ३७
   (घ) अंधेरे में — २४
   (ङ) पिक्चर पोस्टकार्ड — ४१
   (च) सितम्बर की एक शाम — २०
   (छ) परिन्दे — १२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं :

'वह आधे बर्मी थे, जिसके चिन्ह उनकी थोड़ी दबी हुई नाक और छोटी-छोटी चंचल आँखों से स्पष्ट थे। बर्मा पर जापानियों का आक्रमण होने के बाद, वह इस छोटे से पहाड़ी कस्बे पर आ बसे थे।'[1]

कहानी की यह परम्परागत प्रकृत शैली निर्मल यत्र-तत्र ही अपनाते हैं। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ, पारस्परिक कहानियों से नहीं, अपने समकालीनों से भी भिन्न दिखाई पड़ती हैं।

क्रियाओं की बहुलता से निर्मल वाक्यों में एक लय उत्पन्न करते हैं। लय के लिए आवश्यक है कि दो क्रियाओं के बीच अधिक संज्ञाएँ, विशेषणादि न हों। लेखक विशेषणों का प्रयोग बहुत कम करता है। संज्ञा शब्दों का ही वह अधिक प्रयोग करता है। संज्ञा और क्रिया के बीच, अनावश्यक शब्दों की भरती नहीं है :

"लतिका कमरे से दो मोमबत्तियाँ **ले आयी**। मेज़ के दोनों सिरों पर टिका कर उन्हें जला **दिया गया**। छत्त का अन्धेरा, मोमबत्ती की फीकी रोशनी के इर्द-गिर्द **सिमटने लगा**। एक घनी नीरवता चारों ओर घिरने लगी।"[2]

लेखक चाहता तो लतिका, मोमबत्ती, मेज़, सिरे, छत्त और अन्धेरा संज्ञाओं को विशेषणों से सजा सकता था पर वह ऐसा नहीं करता। फीकी और घनी सिर्फ दो विशेषणों का प्रयोग किया गया है; जबकि संज्ञाओं की व्यक्तिवाचक संख्या (भाववाचक नहीं) १० और क्रियाओं की संख्या ५ है। इनमें एक भी वाक्य संकुल (काम्प्लैक्स) नहीं हैं, चारों वाक्य साधारण हैं, जिनमें अविशेषीकृत संज्ञाएँ हैं। ये उपाय, लयात्मकता के लिए किए गए हैं :

"हवा का गीला झौंका, हम पर से **बह गया**, लता माथुर के रिबन फर्राटे से उड़ने लगे। फिर मेरे झाड़-झंखाड़ से बाल हवा में **उड़ने लगे**। उसने देखा और **हँसने लगी**। उसको हँसता हुआ देखकर मैं भी **हँसने लगा**। फिर हम दोनों एक संग हँसने लगे।"[3]

कहानियाँ ही नहीं निर्मल वर्मा, उपन्यास में भी यही क्रियालयपरक शैली का प्रयोग करते हैं। क्रियाओं की एक कतार सी लगी रहती है, जैसे छोटे-छोटे कदमों से कोई नृत्य कर रहा हो। ऐसे वाक्य लम्बी डगें नहीं भरते :

'यही समय होता है। यही घड़ी। मैं कुर्सी पर बैठा रहा करता था···एक ठंडी-सी सिहरन को अपनी समूची देह में—दबाता हुआ। सामने खिड़की थी—शीशों पर कुहरा जम गया था। मैंने रूमाल निकाला। फिर उसे आँखों पर दबाकर, मेज़ पर सिर टिका लिया। मैं देर तक ठिठुरता रहा।'[4]

स्मृति-उद्घाटक लेखन होने के कारण क्रियाओं की 'लय' भी, स्मृति में ही बँधती है, अतएव इस नर्तन में कहीं भी आवेग, आतुरता और अस्तव्यस्तता नहीं आने पाती। एक सधे हुए अन्दाज़ में, वाक्य 'क़वायद' करते चले जाते हैं :

"उन सर्दियों में सब दिन बराबर नहीं थे। कुछ छोटे थे, कुछ बहुत छोटे, जब दुपहर के समय ही लैम्प-पोस्ट जलने लगते हैं। वह एक छोटा दिन था। बारिश में भीगी सड़कों पर मैं दिन भर घूमता रहा। अन्धेरा घिरने पर मैं वापस अपने बेसमेंन्ट में चला आया। वहाँ कोई नहीं था। मुझे शायद हल्की हरारत रही होगी।"[5]

स्मृति परक कहानियों में, क्रियाएँ प्रायः भूतकाल से सम्बन्ध रखती हैं और भूतकाल के पुनःस्मरण करने पर व्यक्ति हड़बड़ी में नहीं होता। अनावश्यक ब्यौरे, घटना-काल में ही लुप्त हो जाते हैं; बाद में 'थिराए हुए' चित्रों की मानसी प्रतीति होती है। अतएव इस क्रिया की लय में आतुरता नहीं हैं। यहाँ मंथर नृत्य है जो यथार्थ को धीरे-धीरे छायाओं में बदलता चला जाता है। स्मृति, कसक के रूप में उदित होती है, बवंडर के रूप में नहीं।

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि निर्मल वर्मा के

१. परिन्दे, पृ० १३८
२. वही, पृ० १३९
३. माया का मर्म, परिन्दे, पृ० ३९
४. वे दिन, निर्मल वर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।
५. अमालिया—पिछली गर्मियों में, पृ० १०३

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन पर पहाड़ी नृत्य का प्रभाव है। पहाड़ के शीत-प्रदेशों में, कंधे-से-कंधे भिड़ाकर, हाथ साथियों की बगलों में फंसाकर, एक गोल घेरे में लोग धीरे-धीरे नाचते हैं। पहाड़ी गीत 'भाँगड़ा नृत्य' की तरह त्वरामय नहीं होते। वे छोटे-छोटे टुकड़ों में बँधे होते हैं। नर्तकों के पैर एक निश्चित ताल पर पड़ते हैं, पर इस पहाड़ी नृत्य में, अंतिम चरमगति (द्रुत) को छोड़कर एक लम्बे समय तक, विलम्बित नृत्य ही होता है और पहाड़ी गानों में एक दर्द, एक कसक भी रहती है। प्रकृति के सम्मुख अवश मनुष्यों की वेदना शायद इसका कारण हो।

पहाड़ी गीत—

(१) यो बटो काँ जानो हो ला,
सुरा-सुरा देवी को मंदिरा।
(२) बेर पाकै बार मासा,
कांफल पाकै चैता हो मेरी छैला।

गीत पंक्तियों की संक्षिप्तता और उनके गायन में, क्षिप्रता का अभाव—ये दो विशेषताएँ पहाड़ी गीतों की विशेषताएँ हैं। यह संभव है, निर्मल वर्मा के बचपन का यह संस्कार उनके अनजाने ही, उनकी शैली को संक्षिप्तता, वेदना से कोमल और कसकते शब्द और क्षिप्रता का अभाव दे गया हो।

यह अनुमान इसलिए है कि अन्य पहाड़ी लेखक, शैलेस मटियानी, गंगाप्रसाद विमल, बटरोही आदि में यह विशेषता नहीं मिलती।

निर्मल वर्मा ने विदेशी साहित्य की निरावेग, विशेषण रहित शैली से भी बहुत कुछ सीखा है अतएव बचपन के संस्कार को, एक 'अचेतन प्रभाव' ही माना जा सकता है।

क्रियाओं की मालाएँ और लय रचने का लेखक इतना अभ्यस्त है कि वह सर्वत्र इसी शैली का प्रयोग करता है। निर्मल की शैली में वैविध्य का अभाव खटकता है। एक-सी शैली 'एकरसता' भी उत्पन्न करती है लेकिन लेखक इसकी चिंता नहीं करता। उसने एक विशिष्ट कथन भंगिमा विकसित कर ली हैं, उसे वह छोड़ना नहीं चाहता। इसका कारण केन्द्रीय मानवीय स्थिति में निर्मल की सतत् निमग्नता ही है। वह अपने दबे-भिंचे स्वर (टोन) को कहीं नहीं छोड़ना चाहता।

जासूसों की एक विशिष्ट भंगिमा बन जाती है। उनकी दृष्टि वेधक बन जाती है। वे गुमसुम रहते हैं, और ऊपरी प्रतिक्रियाओं में कभी उलझते नहीं हैं। असली बात जानने के लिए वे कभी उतावलापन नहीं दिखाते, संकेतों और अस्फुट शब्दों में बोलते हैं। वे पूरा प्रसंग खोलने वाले ब्यौरे नहीं देते। प्रसंग की कल्पना, पाठक या श्रोता पर छोड़ देते हैं। वे धीरे-धीरे, अपने 'आखेट' के इर्द-गिर्द, लिपटे जाले को साफ करते हुए, उसकी वास्तविकता को भाँप लेते हैं। यही ढब निर्मल की क्रिया बहुल शैली का है।

शब्द-विन्यास में प्रचलित से भिन्न

अब यह देखा जाए कि लेखक, व्यक्तिवाचक संज्ञाओं और क्रियाओं के मध्य शब्द-विन्यास किस प्रकार करता है।

निर्मल वर्मा की शब्द-संरचना में बोलियों के लहजे और शब्द यत्र-तत्र ही मिलते हैं। लोकजीवन की सजीवता और अक्खड़ता की जगह उसमें सुरुचि, परिष्कृति और बनावट अधिक है। यद्यपि लेखक तद्भव शब्दों का ही प्रयोग अधिक करता है पर उनमें 'ग्राम्यता' नहीं, शहरीपन है। वह बुद्धिजीवियों[1] की भद्र भाषा में लिखता है, जिसका रूप बौद्धिक नहीं मनोविवेचन-परक है। इस प्रकार के शब्द-विन्यास से लेखक की मानसिक-संरचना और स्वभाव संस्कार का परिचय मिलता है। अपने शब्दों की तरह ही निर्मल वर्मा 'संस्कृत' तथा 'आत्मनिमग्न' व्यक्तित्व से समृद्ध हैं :

तत्सम शब्द—वर्ष, स्मृति, अतीत, भाग, समय, चेतना, क्षण, कालातीत, निरीह, विस्मय, भाव, असमंजस, निश्चय, दृष्टि, संकोच, चिंता, विशेष, आवश्यकता, परिचय, संकुचित, सलज्ज, कष्ट, चिंतित, अभिनय, सफलतापूर्वक, अन्तर, विशेषताओं, विदेशी।[2]

१. इलीट।
२. डायरी का खेल, पृ० ६, १०, ११

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्निग्ध, विवश, वर्षा, इच्छा, कल्पना, हठात, लज्जा, शिष्टाचार, प्रदर्शन, कृतज्ञता, शिक्षित, सुसंस्कृत, परिवार, अपरिचित, ।[१]

स्वर, आश्चर्यजनक, कौतुहलपूर्व, धारणा, मित्र, प्रेम-विवाह, पत्नी, अज्ञात कारण, घटना, अवकाश, धारणा, महत्त्व, विचित्र, पुस्तक, अनुरोध, आकर्षित, भयावह, भावहीन, निष्प्रभ, निर्जीव, अनुमान, स्वर, प्रश्न, महत्वहीन, आकस्मिक, परिस्थितियों, आरम्भ, अर्थहीन, कारण, पूर्ववत ।[२]

उल्लसित, निराश, दिगंत, स्वप्निल, प्रति, उत्सुकता, गुप्त व्यापार, आत्महत्या, गंभीर ।[३]

सम्पादकीय विभाग, गम्भीर, अतीत, अपरिचित ।[४]

प्रतीक्षा, आकाश, अतीत, प्रेत, मुक्त, अर्थ, ज्वर-ग्रस्त, व्यक्ति, स्मृति, निरर्थक, शब्द, विक्षिप्त, मुक्त, प्रतीक्षा, शाँति, युवक, वर्ष, जीवित, छाया, वर्ष, युवक, शांति, विस्तीर्ण, आलोक, आकाश, प्रतीक्षा, वेषभूषा, सहसा, अनायास, साधारणतः, व्यक्तित्व, विशिष्टता, चमत्कार, विशाल, साधारण ।[५]

छाया, लतिका, आकृति, स्वर, उत्तर, लोकप्रिय, अनुशासन, हठात, स्मरण, प्रकाश, स्वर, नियम पालन, संदेह, विश्वास ।[६]

आकाश, व्यक्ति, पत्रिका, अर्द्धनग्न, गौर युवती, चित्र, सज्जन, विदेशी, प्रतीक्षा, समय, दिशा, कौतुहल, कण, प्रतीक्षा, पत्र, प्रिय वाक्य ।[७]

धूलिकण, विचित्र, रंग, छाया, निरन्तर, दैत्य, भग्नकंकाल, चेतना, दिनचर्या, कार्यकलाप, सर्वथा, निर्लिप्त, आभास, आश्चर्य, आतुरता, अनुपस्थिति, विचित्र, अज्ञात, उत्तर, विधवा, क्षण, कालभैरव, प्रवासी, भद्र, स्त्री, स्वस्थ, संकोच, स्वाभाविक, सहज, स्पष्ट, सीमा, आयु, सम्बोधित ।[८]

संक्षिप्त, परिचय, अर्थ, फेनिल, ज्वार, सागर, स्वप्न, निस्पंद, स्मृति, भिन्न, समुद्र, स्वर, आकाश, ध्यान, अनायास, वर्ष, शून्यता, निश्चित, निर्विकार, भाव, समुद्र, अनायास, मुद्रा, उपेक्षित, मौन, जलपक्षी, सागर, शांत, निर्लिप्त, यात्रा, संक्षिप्त, प्रश्न, चकित, समुद्र, फेनिल, जल, द्वीप ।[९]

प्राणी, पल, शांत, रहस्य, निश्चित, छाया, सहज, न्यायसंगत, तर्क, आश्चर्य, स्पर्श, गंध, आर्द्रता, प्राणी, क्षण, स्वर, कीर्तन, शेष, देह ।[१०]

प्रश्न, क्षण, अनिश्चित, समय, पति, दम्पति, रहस्यमय, चमत्कार, स्मृतियाँ, विरक्त, अनायास, पति, पत्नी, अंत, आश्चर्य, विस्मयकारी, स्मृति, पृथक, असम्भव, ध्यान, सन्तोष, लालसा, विस्मय, वर्ष, प्रिय, परिचित, विवाह, सुखद, मात्रा, आलोक, गंध, देह, अपलक ।[११]

रविवार, उन्माद, विश्वास, क्षण, स्वर, गंध ।[१२]

अप्रत्याशित, कारण, यात्री, प्रिय, मन, मोह, इच्छा, संभव, मन, गंध, अनायास, व्यक्ति, निश्चल, नीरव, निरुद्देश्य, वृक्ष, सप्ताह, उत्तेजित, आहार ।[१३]

मौन, वासंती, आकाश, शनिवार, प्रतीक्षा, असीम, धूमिल, छोर, ज्योति, क्षण, वर्ष, विस्मय, कौतूहल, अन्तर, सुकुमार ।[१४]

अनिश्चत, क्षण, स्वर, धूमिल आकाश, परिचित, अनुमान, युवक, प्रति, भय, अज्ञात नियति, निर्णय, निराशा, सज्जन, मूक, निरीह, यंत्र चालित, गति, क्षण, भयावह, विद्यार्थी, सहानुभूति, भाव, असहाय, अन्त,

१. माया का मर्म, पृ० ३४, ३५, ३६
२. तीसरा गवाह, पृ० ४५, ४६, ४७
३. अंधेरे में, पृ० ७०, ७१, ७२
४. पिक्चर पोस्ट कार्ड, पृ० १०३, १०४, १०५
५. सितम्बर की एक शाम, पृ० १२४, १२५, १२६
६. परिन्दे, परिन्दे, पृ० १३४, १३५, १३६
७. लवर्स, जलती झाड़ी, पृ० ७, ८, ९
८. माया दर्पण, जलती झाड़ी, पृ० २२, २३, २४
९. एक शुरुआत, जलती झाड़ी, पृ० ४४, ४५, ४६
१०. कुत्ते की मौत, जलती झाड़ी, पृ० ५३, ५४, ५५
११. पहाड़, जलती झाड़ी, पृ० ६५, ६६, ६७
१२. पराए शहर में, जलती झाड़ी, पृ० ७१, ७२, ७३
१३. जलती झाड़ी, जलती झाड़ी, पृ० ७८, ७९, ८०
१४. दहलीज़, जलती झाड़ी, पृ० ९४, ९५, ९६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक्षा, विश्वास, अपूर्ण, अवास्तविक, तथ्य, प्रतीक्षा, सुदूर, कठिन, अप्रासंगिक।[१]

तत्सम शब्दों का लगभग यही अनुपात शेष कहानियों में मिलता है।

तद्भव शब्द

बिट्टो, समझ, आज, कुछ, छुट्टियाँ, भीड़, पहचान, कोने, पुरानी, ठीक, झंझट, चेहरा-मुहरा, गहरी, आँखें, छोटा, माथा, साँवला रंग, पीला, पुरानी, समान, बुरा, अकेले, अनमना, भूल, अगली, बातें, रात, दूभर, हाथ, मुस्कान, सोते, बाहर, सीधी, अकेली, लम्बी, आँख।[२]

रात, मेह, बूँद, भूले, पुरानी, पलंग, घुन, पायों, अंधेरा, मटियाला, कोनों, सीलन, धुँआ, पुतलियाँ, दीवाल, पथराई, आँख, बेकार, सीढ़ियाँ, बाहर, बिखराना, गढहा, घर, कीचड़, बूँदें, हंसी, घुटना, पछतावा, अंधेरे, घुटन, काँप, घरवाली, दाँई, दीवार, पत्थरों, पत्तों, मेह, इकट्ठा, दबी, काँपती, दीवार, नाला, पाँव, हाथ, मुट्ठी, नाव, पास गहरी, आँखों, घुटना, कीचड़, पीठ, लाल, पैर, बात, सिर, गहरी, आँख, मुस्कराता, होंठ, पाँव, कीचड़।[३]

अँगीठी, गेंद, उदासी, गहराई, दिन, अधमुँदी, आँखें, मानो, सच्चा, सिर, काम, अकेलापन।[४]

माथा, हाथ, आँखें, जंगल, नीले, ऊँची, पहाड़ियों, पेड़, घने, बिखर, बेचारी, गले, रोना, होंठ, काँप, नमक, मिर्च, पुड़िया, चटनी, घर, पड़ौस, भुतहा, बारह, महीने, पक्की, कान, बाहर, ऊपर, नीचे, आँखें, सपना, भुतहा, पहाड़ी, सहारे।[५]

कोना, ठहर, पन्ना, दीवार, रात, आधा, चकराला, सपने, पानी, पसीना, दुपहरी, बाहर, मीठी, सारी, चुराकर, पुरानी।[६]

दिन, अलसायी, सोना, पीली, धूल, नाला, इकट्ठा, टूटे, सुनसान, दुपहर, बदली, जामुनी, बाहर, सामने, पाँव, गाँठ, साँस, घर, कोना, रात-दिन, अँधेरा, आँख, अन्धेरे, अथाह, बूँदें, साँस, धरती, पुराना, गढ़ा, घर, पोटली।[७]

अंधेरे, दीवार, सहारा, बत्ती, सीढ़ियाँ, साथ, हँसी, तेल, आलस, काम, मद्धिम, पहली-बार, नीची, सकुचाकर, रात, गाना, चोर, देहरी, पक्का, चकराना।[८]

परिन्दे कहानी संग्रह की कहानियों के प्रथम तीन पृष्ठों के तद्भव शब्दों की इस गणना से स्पष्ट है कि लेखक तत्सम शब्दों की तुलना में तद्भव शब्दों का प्रयोग अधिक करता है। तद्भव शब्दों के अधिक प्रयोग से वह कहानियों को जीवन से जोड़ता है और उसे पूरी तरह पुस्तकीय नहीं होने देता। यही प्रवृत्ति अन्य कहानियों में है। गणना करने पर 'धागे', 'पिता और प्रेमी', 'डेढ़ इंच ऊपर', 'खोज', 'उनके कमरे', 'अमालिया', 'इतनी बड़ी आकांक्षा', और 'पिछली गर्मियों में' आदि कहानियों के प्रथम तीन पृष्ठों पर लगभग १२५ तद्भव शब्दों का प्रयोग किया गया है। इनके अतिरिक्त उर्दू और अँग्रेजी के तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग भी निर्मल वर्मा की शैली की विशेषता है।

उर्दू शब्द—दरवाजा, पर्दा, बरामदा, अहाता, जाले, राहें, डर, रौशनी, सफेद, अजीब, महीन, सख्त, मनाही, डर, दिल, तेज, आसाम, शीशा।[९]

आवाज, हवा, रौशनी, शहर, सिर्फ, अरसा, खास, सिर्फ, आवाज, खतरनाक, गुजर, शुरू, जरा, हैरान, साफ, उम्मीद, शक।[१०]

१. लंदन की एक रात, जलती झाड़ी, पृ० १०३, १०४, १०५
२. डायरी का खेल, परिन्दे, पृ० ६, १०, ११
३. माया का मर्म, परिन्दे, पृ० ३४, ३५, ३६
४. तीसरा गवाह, परिन्दे, पृ० ४४, ४५, ४६
५. अंधेरे में, परिन्दे, पृ० ७०, ७१, ७२
६. पिक्चर पोस्ट कार्ड, परिन्दे, पृ० १०३, १०४, १०५
७. सितम्बर की एक शाम, परिन्दे, पृ० १२४, १२५, १२६
८. परिन्दे, परिन्दे, पृ० १३४, १३५, १३६
९. धागे, पिछली गर्मियों में, पृ० ७, ८, ९
१०. पिता और प्रेमी, पिछली गर्मियों में, पृ० २४, २५, २६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक्रिये, बिस्तर, सफेद, फेनदार, दिलचस्पी, किताब, सर्द, सब्र, रौशनी, अजीब, काफी, पसन्द, चीजें।[१]

मेज़, जगह, काफी, आखिर, आदमी, जगह, तकलीफ, बेशक, अगर, पसन्द, आदमी, वक्त, बेशक, ज़बान, उम्र, मतलब, लत, जगह, आखिरी, जल्दी, खत्म, बेशक, ग़लत, इशारा, तरफ, मुश्किल, काफी, मेहनत, अन्दाज़ा, ज़रा, नाहक, खुश, कोशिश, खुशी, ऐतराज, जिद, शराब, आज़ादी, मौत, उम्मीद, जवाब, बेहद, दिलचस्प, अक्सर, आसानी, लापरवाही, चीज़ें, मुआवज़ा, वक्त, ज़रूर, सुबह, पेशा, जनाब, पेंशनयाफ्ता, शौक, ज़रा, इंतज़ार, खयाल, काफी, तसल्ली, इन्तज़ार, औरतें, लिहाज़, जानवर, दर्जे, बेईमान।[२]

तेज़, उम्मीद, जगह, मालूम, ज़्यादा, खत्म, बेहद, खुशी, चारा, शहर, सफेदी, वीरान, ज़ीना, सर्दी ज़्यादा, साफ, मौसम, रौशनी, पसन्द, मज़ाक, गुलदान, तराशे हुए, राय, गरम, दूकान, महज़, वक्त, गुज़रना, कालीन, इशारा, फर्श, सुर्खरंग, हाशिया, हैरान।[३]

ठुड्डी, सलवट, साफ, शुरू, दायरे, बेशर्म, बेहूदा, चीखते हुए, मना किया, इमारत, बिस्तर, शहर, बदबू, मुश्किल, दफ्तर, कागज, ज़्यादा, हर रोज़, हमेशा, काफ़ी, बरबाद, शुरू-शुरू, ताकि, शाम, जेब, तरफ़, सिर्फ, निगाह, मालूम, शायद, बिस्तरे, मेज़, तेज़।[४]

सफ़ेद, अकसर, शहर, इमारत, जल्दी, ज़बरदस्त, फर्क, अरसे, लापरवाही, गिलास, बोतल, दिलचस्पी।[५]

उर्दू शब्द के प्रयोग की यह प्रवृत्ति अन्य कहानियों में भी है, कहीं कम, कहीं ज़्यादा। निर्मल वर्मा प्रायः उर्दू के दुर्बोध शब्दों का प्रयोग नहीं करते। लेकिन बीच-बीच उनकी भाषा-शैली उर्दू की हो जाती है। उदाहरण के लिए 'डेढ़ इंच ऊपर' की भाषा की संरचना उर्दू के ढंग की है लेकिन यहाँ भी बीच-बीच हिन्दी-अंग्रेजी शब्दों के मिश्रण के कारण भाषा-संरचना शुद्ध उर्दू की नहीं कही जा सकती।

शुद्ध उर्दू की पद्धति—"अगर आप चाहें तो इस मेज़ पर आ सकते हैं, जगह काफी है। आखिर एक आदमी को कितनी जगह चाहिए। नहीं...नहीं...मुझे कोई तकलीफ नहीं होगी। बेशक, अगर आप चाहें, तो चुप रह सकते हैं। मैं खुद चुप रहना पसन्द करता हूँ...आदमी बात कर सकता है और चुप रह सकता है, एक ही वक्त में!"[६]

हिन्दी उर्दू मिश्रित –"कभी-कभी आप इस संशय से छुटकारा पाने के लिए दूसरी या तीसरी स्त्री से प्रेम करने लगते हैं, यह निराश होने की शुरूआत हैं...ये शतरंज के खेल की तरह है...आप यह भूल जाते हैं कि दूसरी बाज़ी की अपनी सम्भावनाएँ हैं। पहली बाज़ी की तरह अन्तहीन तथा रहस्यपूर्ण।"[७]

निर्मल वर्मा हिन्दी-उर्दू के शब्द मिलाकर नए जुमले भी बनाते हैं—

(१) शांति सारे अहाते में फैली थी।[८]

(२) मौन का एक दायरा है, जिसे हम छूते हुए कतराते हैं।[९]

(३) प्रश्नों का जवाब देने के लिए मेरे पास कुछ नहीं था।[१०]

(४) निगाहें किसी मोहपाश में बंध गई हों।[११]

(५) अरब ने तिरस्कार से हमारी ओर देखा। उसके स्वर में हल्की-सी हिकारत भरी थी।[१२]

१. खोज, वही, पृ० ४५, ४६, ४७
२. डेढ़ इंच ऊपर, पिछली गर्मियों में, पृ० ३३, ३४, ३५
३. उनके कमरे, वही, पृ० ६०, ६१, ६२
४. अमालिया, वही, पृ० ७३, ७४, ७५
५. पिछली गर्मियों में, पिछली गर्मियों में, पृ० १२६, १२७, १२८
६. डेढ़ इंच ऊपर, वही, पृ० ३३
७. वही, पृ० ३७
८. धागे, वही, पृ० ७
९. धागे, वही, पृ० १०
१०. डेढ़ इंच ऊपर, वही, पृ० ४३
११. उनके कमरे, वही, पृ० ७१
१२. अमालिया, वही, पृ० ७७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(६) खूबसूरत टाँगें जो जुड़वाँ बहनों-सी दिखाई देती थीं।[१]

(७) वह अतीत का भाग नहीं जो याद करके भुलाया जा सके।[२]

(८) पीले चेहरे पर तपे ताँबे सी रक्तिमा चढ़ने लगी।[३]

(९) चेतना की अंधी गली चिमगादड़ के मनहूस डैने।[४]

(१०) शब्दातीत होते हुए भी अपनी महीन-सी छाया पीछे छोड़ जाता है।[५]

(११) हमारे भीतर के कुछ स्थल हैं जो बहुत खामोश हैं।[६]

(१२) फीके आकाश में जामुनी बदली घुमड़ आयी ''जिंदगी की गांठ अतीत के किसी प्रेत से नहीं जुडी।[७]

(१३) उस अनुभूति के संग जो छाया-सी उस पर मँडलाती रहती है।[८]

(१४) बारिश की मुलायम धूप'''शीशों पर झिलमिला रही थी'''महीन चमकीली रेखा ईसामसीह की प्रतिमा पर तिरछी होकर गिर रही है। मोमबत्तियों का धुँआ धूप में नीली-सी लकीर खींचता हुआ हवा में तिरने लगा है।[९]

(१५) बादल रेशमी रूमाल से उड़ते हुए सूरज के मुँह पर लिपटे से जाते थे।[१०]

१. इतनी बड़ी आकांक्षा, वही, पृ० १०९
२. डायरी का खेल, परिन्दे, पृ० ९
३. वही, पृ० ९
४. वही, पृ० २६
५. वही, पृ० ३१
६. तीसरा गवाह, वही, पृ० ४८
७. सितम्बर की एक शाम, वही, पृ० १२६, १३३
८. परिन्दे, वही, पृ० १४१
९. वही, वही, पृ० १५१
१०. वही, वही, पृ० १५७

(१६) नींद में डूबी सपनों-सी कुछ आवाजें नीरवता के हल्के-झीने परदे पर सलवटें बिछा जाती है।[११]

(१७) मेरी ज़िन्दगी में खूबसूरत प्रेम-प्रसंग कम बख्त इस नींद के कारण अधूरे रह गए हैं।[१२]

उर्दू शब्दों के इस प्रकार के विशिष्ट प्रयोगों से निर्मल वर्मा की कहानियों की भाषा, प्रचलित भाषा के निकट रह कर भी विशिष्ट प्रतीत होती है।

हिन्दी-उर्दू के मिश्रित शब्द विन्यास से भी निर्मल का अन्दाज़ 'मुँशियाना' नहीं होता, जैसा कि कमलेश्वर की भाषा संरचना में दिखाई पड़ता है। निर्मल वर्मा में हिन्दी उर्दू मिश्रण की बुनावट में सायासता प्रतीत होती है जबकि कमलेश्वर का वह स्वाभाविक संस्कार लगता है :

"जांच करने वाली डाक्टरनी ने इतना ही कहा था कि उसे कोई पोशीदा मर्ज़ नहीं है पर तपेदिक के आसार ज़रूर हैं। उसने एक पर्चा भी लिख दिया है। खाने को गिज़ा बताई थी। कमेटी पहले ही पेशे पर रोक लगा चुकी थी। सब परेशान थीं'''डाक्टरी जाँच में बहुतों का पेशा पहले ही खत्म हो चुका था।"[१३]

यह उर्दू का स्वाभाविक प्रयोग है। यहाँ जान-बूझ कर बुनावट नहीं है। जो स्वाभाविक लहज़ा पात्रों के असली जीवन में प्रचलित है, उसी को अपनाया गया है। 'माँस का दरिया' पढ़ते समय लगता है जैसे आप पात्रों को उनकी अपनी ज़ुबान में बोलता सुन रहे हैं। निर्मल की कहानियों में पात्र नहीं, सर्वत्र लेखक (कथावाचक) बोलता नज़र आता है। लेखक उर्दू के शब्दों का अभ्यस्त नहीं है, वह उर्दू के शब्दों का अपने ढंग से इस्तेमाल करता है। कमलेश्वर ने लिखा है कि 'पश्चिम की कुंठा, कुत्सा, अकेलापन, पराजय और हताशा उनके 'वर्ण्य'

११. परिन्दे, परिन्दे, पृ० १३५
१२. परिन्दे, वही, पृ० १७०
१३. माँस का दरिया, कमलेश्वर, अक्षर प्रकाशन दिल्ली, पृ० २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हैं।'[1] अतएव वह वास्तविक जीवन का चित्रण करते हैं, इसके विपरीत निर्मल वर्मा मानसिक यथार्थ के लेखक हैं। वह 'आम भाषा' यथावत् नहीं उठाते।

निर्मल की भाषा-संरचना में हिन्दी-उर्दू का एक विशिष्ट मिश्रण नहीं है, अपितु उसमें अंग्रेजी के शब्दों की भी भरमार है। यह 'कन्वेंटी हिन्दी' कहला सकती है। इसे 'ऐंग्लो इण्डियन' या 'भारोपीय शैली' भी कह सकते हैं।

अन्य सभी कहानीकारों की तुलना में निर्मल की कहानियों में अंग्रेजी शब्दों और जुमलों का आधिक्य है। इसका कारण यह भी है कि निर्मल वर्मा की कहानियों की पृष्ठभूमि विदेशी है और पात्रों में अधिकतर पात्र आधुनिक छाप वाले हैं। फिर भी लेखक चाहता तो अंग्रेजी शब्दों के बहुत चलते शब्दों तक ही अपने को सीमित रखता, पर वह ऐसा नहीं करता। वह जानबूझ कर भाषा का पाश्चात्यीकरण करता है ताकि आधुनिकता का प्रभाव पड़े। निर्मल की कहानियों में अंग्रेजी के शब्दों का विवरण इस प्रकार है—

निर्मल वर्मा की कहानियों में अंग्रेजी शब्द

(१) **जलती झाड़ी**—

(i) **लवर्स**—एल्प्स, कारीडोर, सेकेण्ड, हैण्ड, दिसम्बर, पॉकेट, बुक, सूट, मैगज़ीन, कवर, लैम्प-पोस्ट, फैस्टून, टेलीफोन, इट, इज़, नाट, डन, टैरेस, फ्लैश, बियर, रेलवे, लाइन, क्रिकेट, सिनेमा, पोस्टर, पब्लिक, लेवेट्री, हाउस, क्रासिंग, ट्रैफिक-लाइट, पियानो, फुल-स्लीव, पर्स, स्वीटर, नर्वस, वेटर, डांसिंग-फ्लोर, शेड, लैम्प, ड्रमर, आरकेस्ट्रा, सिगरेट, स्कूटर, पवैलियन, बस, कोना-काफी, मीनू, वाट, विल, यू, लाइक, सनी, शट-अप, सिट डाउन, क्रिसमस, क्वींस वे, बास्केट, लिपस्टिक, नाट, इन, दैट वे, वी, कैन, बी, फ्रेंडस, कोट, बी, न्यू, ईअर, कार्ड, कैफ़े, लवर, स्टेज, ड्रम-स्टिक, गुड-लक, रिडक्शन-सेल।

(ii) **माया दर्पण**—बैरक, मशीन, पम्प, लाइन, सुपरवाइज़र मिस्टर, पैट्रोल-पम्प, इन्जीनियर, आर्किटेक्ट, पाउडर, रेलवे-लाइन, स्टीमर, सिग्नल, ट्रेन, इञ्जन, रेजीडेंट, फोटो, मिलट्री, ट्रक, टैंक, सोला हैट, बोर्ड, सिल्वर जुबली।

(iii) **एक शुरुआत**—चैनल, लंडन, प्राग, स्टीमर, डेक, लाइंट-एल, न्यू स्टेटसमैन, आब्जर्वर, जींस, स्कार्फ, बियर, गलास, स्टेंड, प्लेयर्स, सेंडविचेज, डफल-कोट, चैनल, स्टेशन, म्यूज़ियम, आर्ट गैलरी, थर्मस, क़ाफी, बार, थियेटर, कंसर्ट, लागर, स्पीड, ब्रुसेल्स, इंगलैंड, बेल्जियम, सैनेटोरियम, डॉक्टर, रेलिंग, मीन, इंडिया, स्ट्रेंज, लैंड, देअर, इज़, डैथ, चर्च, गोथिक, सिनेगाग, टेरर, आफ, इनलाइटनमैंट, सी गल्ज, डोवर।

(iv) **कुत्ते की मौत**—लूसी, हारमोनियम, जुलाई, रेडियो, रजिस्टर, बी० ए० रिज़ल्ट, फ्रॉक, पेंट, टूथ, ब्रश, रेल, लाइन, डॉक्टर, फ्रेम, गलास, रिटायर।

(v) **पहाड़**—एलबम, फोटो, अक्टूबर, स्टेशन, रिज़, बेंच, चर्चयार्ड, होटल, टूरिस्ट, रोड, लायब्रेरी, स्टन-ग्लास।

(vi) **पराए शहर में**—सेंट मार्क, स्कायर, आरकेस्ट्रा आइदा, अपेरा, रेस्तराँ, चियांती, चर्च, एंजल, जाकेट, पिक्चर-पोस्टकार्ड, मैडोना, सिन्योरा, यू, लाइक, टूरिस्ट, नो, मनी, आई, लव, वैसलीन, पब, जार्जेट, स्कर्ट, इंगलिश, स्पीक, बायजण्टाइन, कैनाल, मोटरबोट।

(vii) **जलती झाड़ी**—होटल, पोस्ट, बेंच, स्पोर्ट, चेयर, पाइप, बैग, ओवर-कोट, कॉलर, नेशनल, थियेटर, टॉवर, कैनवास, रील, एम्बेंकमेंट, स्कर्ट, सिगरेट।

(viii) **दहलीज़**—रूनी, लॉन, रिकार्ड, मार्च, एरियल पोल, स्टाम्प, एलबम, अर्जेन्टाइना, हॉस्टल, ग्रामोफोन, कैनवास, पैराशूट, टीकोज़ी, यूनीवर्सिटी, लायब्रेरी, फ्राक, वाटर, रिज़र्वेयर, लॉन, स्टोन-कटर, लव, बेबी।

लंदन की एक रात—गेट, मशीन, सूट, फैक्टरी, गुड, नाइट, ट्यूब, स्टेशन, मिल, लंडन, नार्थ-एक्टन, मैनेजर, शिलिंग टिकिट, ड्यूटी, ट्यूब, पाइप, लेडी, वाइटर्ड, ओवर-कोट, डबल, डेकर, एम्बैंकड

१. मांस का दरिया, कमलेश्वर, अक्षर प्रकाशन, पृ ६ (आमुख)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगस्त, पैकेट, लेम्प, पोस्ट, वारेन-स्ट्रीट, पॉप्स, टेनिस, डैम, हिम, इफ, ही, इज़ण्ट, प्लीज़, कम, टुमारो, डैम्ड, पाउण्ड, सेण्डविचेज़, हिल, लिच, कांटीनेण्ट, फादर, वीसा, सिविल वार, बैंगाटेल, टेवर्न, पेनी, लाइफ, राटर, फ़ाइन, आरकेस्ट्रा, काउण्टर, लागर, बॉक्सिंग, गर्ल, फ्रेड, यूस्टेड, किंग्स क्रास, सेण्टर, टोस्ट, आर्डर, प्राइस-लिस्ट, चिप्स, पम्प, टायलेट, ब्लौण्ड, स्टेप्स, लिटिल, नाइट, म्यूज़िक, बेसमेंट, जस्ट, टू, कम, आउट, ट्रेंड, ड्रिंक, लिपस्टिक, बल्ब, एस्केप, स्कॉच, आटो मशीन, गाडेम्ड, स्वाइन, यू, सिटिंग, लीव, इट, ओह, बगर, स्कार्फ, गोरी, डार्लिंग, देयर, बैश, स्पीक, फिल्दी, प्लेट फार्म, सिली, फ्रेंड, ऑटोमेटिक।

(x) **अन्तर**—पब, जनरल, स्टोर, बस, कण्डक्टर, ओवर-कोट, बियर, टाउन हॉल, चर्च स्क्वैयर, मई, डफल बैग, मफ़लर, कोट, स्लीपिंग किट, होटल, स्टोर, शो विंडो, सेल्फसर्विस, काउण्टर, टिन, पनीर, सलामी, लीपा पैकेट, बारमैन, मग, सासेज़, सिमिट्री, चेंज, किलोमीटर, ट्रैक्टर, सिगरेट, गेट, कॉलेज, हॉस्टल, पैंट, कॉरीडोर, डैस्क, रिसेप्शन, साइन बोर्ड, नर्स, मैटर्निटी वार्ड, लिस्ट, डैस्परेट, सर्जिकल, वार्ड, जुवान, नायलान, ब्रेसियर, अण्डरवियर, रेलिंग, डॉक्टर, बैंड, व्हील, चेयर, हॉल, क्यूबिकल, स्ट्रेचर, स्टूल, सूटकेस, क्लोरोफार्म, नाइट-शर्ट, स्वैटर, ब्लौंड स्ट्रेन, सिस्टर, स्कर्ट, मफ़लर।

२—**पिछली गर्मियों में**—

(i) **धागे**—क़ाफी, रिकार्ड, ग्रामोफोन, लायब्रेरी, लॉन लाइट, कान्वेंट-स्कूल, डिनर, मेट्रन, कनाटप्लेस, हॉस्टल, हार्न, राउन्ड, स्कर्ट, क्लास, मार्टर, स्वेटर, फुलस्लीव, पुलोवर, ड्राइंग-रूम, डिसम्बर, पिकनिक, ऑफ-डे, गेस्ट-हाउस, बंगलो, टाइटिल, बुक-केस, लायब्रेरी, टेबल-लैंप, सोफा, स्टेशन, वेटिंग-रूम, कॉलर, ट्रेन, कोन्याक, आर्किटेक्ट, क्लासिकल म्यूज़िक, सिमिट्री, स्पेस, रिंग।

(ii) **पिता और प्रेमी**—ट्राम, अक्टूबर, ट्राम-स्टैंड, पैरम्बुलेटर, हैंडिल, कोट, पर्स, हुड, कण्ट्रोल, फैशन, पुलिस, फ्रोर्न, पार्क, सिनेमा, थियेटर।

(iii) **डेढ़ इंच ऊपर**—बिअर, ट्राम, कैथोलिक, पुलिस स्टेशन, राउण्ड, क्रिसमस, एलबम, पैकेट, क्लिप, गेस्टापो, पेम्फलेट, ड्रेसिंग-टेबुल, पोस्टर।

(iv) **खोज**—टेबल-लैम्प, लैम्प-शेड, सूटकेस, आइकोन, सिग्नल, पार्कोलेटर, यूरोप, कॉफी, जैलस, इनडीड, नाइट-शर्ट, द, लास्ट, सोल, गिफ्ट, डिसम्बर, एरोड्रम।

(v) **उनके कमरे**—टीपेस्टरी, पियानो, एलबम, रेलिंग, सिनेमा, क्वॉयर, पैट्रोल, स्टेशन, बियर, पब, रेस्टोरेंटर, टार्च, आइसक्रीम, बुफे, लिमलेट, ट्राफिक-लाइट, होटल, ट्राम, एरियल, पोल।

(vi) **अमालिया**—बेसमेंट, नवम्बर, लैम्प, पोस्ट, हॉस्पीटल, वार्ड, मिनिस्टरी, गिटार, फोटो, टूरिस्ट, जैकेट, पैंट, सूटकेस, डिनर-सूट, नायलान, स्कार्फ, डालर, रेस्तराँ, वायलिन, बियर, थियेटर, म्यूजियम, स्ट्रिपटीज़, नाइट-क्लब, टायलेट, स्कर्ट।

(vii) **इतनी बड़ी आकांक्षा**—काउंटर, बैरक, वोदका, लिकर, स्टूल, बैण्ड, मास्टर, ड्यूटी, रम, ऑरकेस्ट्रा, बार, सिगरेट, पैण्टोटाइम, टेलीविजन, चाकलेट, डांसिंग-फ्लोर, कोट।

(viii) **पिछली गर्मियों में**—पूल, डाइविंग-बोर्ड, प्रिमिटिव, क्लब, लांउज, बीयर, गार्डन्स, सिगरेट, विलिंगडन, क्रिसेंट, रिटायर्ड, आर्मी, बेडमिंटन, डीपर, फीलिंग, सैक्रेटेरियट, ओवर कोट, सेंट्रल, हीटिंग, रेज़िस्ट सेंसटिव, डिकेडेंट, टैरेस, स्की।

३. **परिन्दे**—

(i) **डायरी का खेल**—सेंटीमेंटल, फोटो, स्टेशन, फ्रेम, पर्स, बटन, क्लिप, रेल, ट्रेन, लाइन, गाइड, टूरिस्ट, गेट, गार्डन, टिन, स्टडी, रूम, रेकार्ड, डायरी, एल्बम, ब्लैक, रिहर्सल, कलक्टर, ब्लाउज़, ट्रिक, नोट-बुक, प्राइवेट, लॉन, मोटर, रोड, लैम्प, पोस्ट, यूकिलिप्टस, चैपल, विक्टरी, गेट, पियानो, बिज़नेस, पाउडर, एडवेंचर, वर्जिन, ग्रामोफोन, पैन, फिनिशिंग, टच।

(ii) **माया का मर्म**—सिगरेट, थैंक्यू, पाइप, टेलीग्राफ, स्कूल, पैटर्न, एप्लायमेंन्ट, एक्सचेंज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(iii) **तीसरा गवाह**—बिलियर्ड, स्कॉच, आर्मी, इंजीनियर, कैप्टन, हाईकोर्ट, आगथा क्रिस्टी, पीटर शेने, लायब्रेरी, आर्म-चेयर, प्रूफ, रिटायर, डाक्टर, लैम्प पोस्ट, इंजैक्शन, चर्च, सी-सॉ, बेंच, हाई-स्कूल, रजिस्ट्रेशन कोर्ट, व्हिस्की, सोडा, कोर्टरूम, मजिस्ट्रेट, स्टूल, रजिस्टर, क्लर्क, बस-स्टेंड, नाइटकैम्प।

(iv) **अंधेरे में**—थर्मामीटर, कैडबरी, चाकलेट, केक, शेल्फ, बूट, कैमरा, सोला-हैट, रैस्ट हाउस, इंटरव्यू, नोट्स, फोटो, पैवेलियन, ऐननडेल, टूरिस्ट, कॉटेज, एलबम, फॉल, लॉन, बैंच, लायब्रेरी, स्टडी, ड्राइंग रूम, हॉल, रिंग, सिगार, टैरेस, स्टेशन, लैम्प-पोस्ट।

(v) **पिक्चर पोस्टकार्ड**—बुक रिव्यू, वैकेन्सीज़, पैंसिल, यूनिवर्सिटी, सप्लाई, नोट-बुक, पोर्च, एयरकंडीशंड, सिनेमा, पोस्टर, टाइम्स, टाइप, हाउस, ब्रदर्स, बियर, बस, स्टैण्ड, कनॉट प्लेस, कॉरीडोर, आंटी, कम्पीटीशन, ओवर एज़, कालेज, डायरी, फोरकास्ट, ऑफर, एरियल, रोड, ब्रिज, रेलवे, इर्विन, स्टाप, सीट, हेल, विद, हर, अफेयर, सिगनीफिकेंट, केंटीन, कोल्डकाफी, पुडिंग, पेपर, जूक बाक्स, नो एक्ज़िट, डिस्क, डांस, ट्यून, जिप्सी, हंट, पिक्चर, मैनी, थिंग, एसप्रैसो, मैट्रन, कॉलर, बोन, वंडरफुल, हाऊ, किंडर गार्डन, सेलर्स, सेंट स्टीफेंस, क्रास, क्रीम, मॉल, प्रोहिबिशन, ट्रेन, मनीआर्डर, टेबुल, आर्मी, कम्यूनिस्ट, सी-आफ।

(vi) **सितम्बर की एक शाम**—ग्रामोफोन, रिकार्ड, आई, लव, यू, सो, मच, डोण्ट, यू, बिलीव, क्वार्टर, स्क्वायर, लैम्प, पोस्ट, लाइट, हाउस, कैफे, पैंट, रेल, कैलेंडर, लिपस्टिक, फिल्म-स्टार, हाउस।

(iv) **परिन्दे**—एक्सरे, बिगुल, कॉरीडोर, टाई, रेलिंग, सिगरेट, मोटर, रोड, लैम्प, सिनेमा, क्लोज़, अप, मैडम, हॉस्टल, ब्लॉक, नाइट, रजिस्टर, हिल, स्टेशन, स्नो, फाल, गुड, नाइट, लॉन, ह्यूबर्ट, गुड, ईवनिंग, थैंक-यू, मिस, चैकिंग, कन्सर्ट, कम्पोजीशन, क्रीम, क़ाफी, कन्फैस, प्राइवेट, प्रेक्टिस, हाईजीन, फिजियालॉजी, होम सिकनेस, पारकोलेटर, स्कीम, सिगार, वुड, स्पेशल, सर्विसेज, सर्मन, फादर, प्रोग्राम, चैपल, पिकनिक, बालरूम, रेजीमेंट, बिलियर्ड, मेजर, लायब्रेरी, रोडवेज, हैड, लाइट्स, पियानो, आर्म-चेयर, प्रिंसिपल, ओल्ड-मेड, सेंटीमेंटल, टैरेस, फिलोसफाइज़, लैट, द, डैड, डाई, ट्रैजिक, क्रास, अटेंशन, ट्रे, कण्टोनमेंट, स्लीपर, ट्रेन, सर्विस, प्रेयर हॉल, बुक, पैंकिंग, हिम, लाइट, वीपिंग, प्रेयिंग, बैज, आर्डर, मीडोज, लंच, कान्वेंट, स्कूल, पोज़, जैकेट, पोलो, ग्राउण्ड, पैवेलियन, सिमिट्री, स्लेज, ट्रक, लॉटरी, कार्नीवाल, बैंड, फैंसी, ड्रेस, गेट, सैंडल, बैग, थर्मस, हैम्बर्गर, ब्लू, स्टैण्डर्ड, आई, वांट, क्लास, बाब, हेयर, नर्वस, क्लिप।

गणना करने पर जलती झाड़ी में ४३० तथा पिछली गर्मियों में १८२ अंग्रेजी शब्द हैं। 'परिन्दे' की कहानियों में ३२७ अंग्रेजी शब्द हैं। ऐसे शब्दों की कुल संख्या लगभग १००० होगी।

इस प्रकार, निर्मल वर्मा की भाषा संरचना एकरंगी नहीं, बहुरंगी है। किसी भी परिच्छेद के विश्लेषण से बहुरंगी शब्द विन्यास का रूप स्पष्ट हो जाता है।

"एल्प्स के सामने कॉरीडोर में अंग्रेजी-अमरीकी पत्रिकाओं की दूकान है। सीढ़ियों के नीचे जो बित्ते भर की जगह खाली रहती है, वहीं पर आमने-सामने बेंचें बिछी हैं। इन बेंचों पर सेकेन्ड हैंड किताबें, पाकेट बुक, उपन्यास और क्रिसमस कार्ड पड़े हैं।"[1]

यहाँ 'कॉरीडोर' की जगह बरामदा, 'सैकेन्ड हैंड' की जगह पुरानी या इस्तेमाल की हुई, 'पाकिट-बुक' के स्थान पर जेबी पुस्तकें और 'क्रिसमस कार्ड' के स्थान पर 'बड़े दिन के कार्ड' जैसे शब्द चल सकते थे। लेकिन लेखक ऐसा नहीं करता, वहाँ भी जहाँ वह स्वयं अपनी ओर से बोलता हैं। जहाँ पात्रों के सम्वाद या सम्भाषण है वहाँ तो यह स्थिति है—

"कभी-कभी...एनी वे, इट हार्डली मेक्स एनी डिफ़रेन्स, इज़ इट?"[2]

—देअर इज़ स्पेस—उसने कहा था।[3]

१. लवर्स, जलती झाड़ी, पृ० ७
२. धागे, पिछली गर्मियों में, पृ० १५
३. धागे, वही, पृ० २०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—बीमारी कुछ नहीं, सिर्फ कन्ट्रोल के जाना है।[१]

—एक ही दायरे के इर्द-गिर्द, राउण्ड एण्ड राउण्ड।[२]

—शायद तुम जैलस हो।[३]

—तुम्हें वह मिल जाएगी—द लॉस्ट सोल।[४]

—मे बी···ए गिफ्ट।[५]

—तुम बिल्कुल प्रिमिटिव हो।[६]

—वह बहुत सैंसटिव है।[७]

—ओ यू शट अप! वोण्ट यू सिट डाउन?[८]

—आई विल यू हैव, सनी।[९]

—इट वुड बी ए स्ट्रेंज लैंड···आई मीन इण्डिया।[१०]

—देअर इज़ डैथ, डैथ इन आल एराउण्ड।[११]

—टेरर ऑफ इनलाइटनमेंट।[१२]

इस प्रकार के जुमले बहुत हैं, इन्हें आसानी से हिन्दी में बदला जा सकता था पर लेखक की दृष्टि में ये जुमले 'प्रभाव' उत्पन्न करने के लिए हैं।

एक अच्छी बात यह है कि लेखक संदर्भ का थोड़ा-बहुत ध्यान अवश्य रखता है। उदाहरण के लिए 'मायादर्पण', 'कुत्ते की मौत', 'पहाड़', 'दहलीज़', 'डायरी का खेल', माया का मर्म', 'तीसरा गवाह' और 'अन्धेरे में' पात्रों की बातचीत में, अंग्रेजी के शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर है। इन कहानियों में भारतीय पात्र हैं, संदर्भ भी भारतीय है। लेकिन 'पिक्चर पोस्टकार्ड', 'परिन्दे', 'धागे', 'पिता और प्रेमी', 'डेढ़ इंच ऊपर', 'खोज', 'उनके कमरे', 'अमालिया', 'पराए शहर में', 'इतनी बड़ी आकांक्षा', 'लंदन की एक रात' में वातावरण या तो विदेशी है या अंग्रेज़ियत से ओत-प्रोत है। अतः पात्रों के संवादों में अंग्रेज़ियत भी अधिक है। इस वातावरण का ही पाठक पर अधिक प्रभाव पड़ता है और वह एक तिहाई भारतीय परिवेश वाले पात्रों और उनके भारतीय लहजे को भूल जाते हैं।

लेखक के 'वे दिन' उपन्यास में भी पृष्ठभूमि विदेशी है। अतः उसकी भाषा संरचना भी निर्मल की दो तिहाई कहानियों की तरह ही है।

यदि निर्मल वर्मा की दो तिहाई कहानियों की पृष्ठभूमि और पात्रों के वातावरण पर दृष्टि रखी जाए तो उनके मुख से विदेशी शब्द उतने नहीं अखरते। उनके संवादों का संस्कृतीकरण और भी असंगत हो जाता। अतएव 'प्रभावान्विति' की दृष्टि से निर्मल की बहुरंगी भाषा और मिश्रित शब्द विन्यास सावयविकता में बाधक नहीं है। साधारण पाठक की दृष्टि से प्रभावग्रहण में बाधा पड़ सकती है पर लेखक उन्हें सम्बोधित नहीं करता अथवा वह चाहता है कि पाठक कलाकृति के स्तर तक उठे।

फिर भी दो तिहाई कहानियों में भी संवादों का हिन्दीकरण संभव था, और उससे 'प्रभाव' की भी अधिक हानि नहीं होती। हिन्दी-अनुवाद देते चलने से भी काम चल सकता था।

निर्मल की भाषा संरचना सोद्देश्य है—उसका स्थापत्य 'प्रभाव' के लक्ष्य को ध्यान में रखकर रचा गया है। अभिव्यक्ति और स्वर (टोन) में मन की सूक्ष्म अन्तर्धाराओं को पकड़ने की कोशिश है। लेखक पात्रों (मुख्यतः 'मैं') की यातना और संताप से गहरी सहानुभूति रखता है। यंत्रणाओं-अभिशापों के बीच, तृप्ति के क्षणों में यद्यपि कामोन्मुखता जगाने की शक्ति है तथापि वह तृप्ति-अतृप्ति के साथ मिश्रित है, प्यास भी है, निराशा और असहायता भी। इस स्थिति में लेखक मानवीय संवेदना की मिश्रित-प्रक्रिया की जटिलता को महसूस करता है। वह मुखरता के नेपथ्य में स्थित मौन के रहस्य का भेद लेता है। इससे उसे 'अपनी' भाषा गढ़नी

१. पिता और प्रेमी, पिछली गर्मियों में, पृ० २७
२. डेढ़ इंच ऊपर, पिछली गर्मियों में, पृ० ३८
३. खोज, वही, पृ० ५१
४. खोज, वही, पृ० ५५
५. खोज, वही, पृ० ५७
६. पिछली गर्मियों में, वही, पृ० १२७
७. पिछली गर्मियों में, वही, पृ० १३७
८. लवर्स, जलती झाड़ी, पृ० १५
९. लवर्स, वही, पृ० १५
१०. एक शुरूआत, वही, पृ० ४६
११. वही, पृ० ५०
१२. वही, पृ० ५२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ी है। परिप्रेक्ष्य और अनुभूति दोनों स्तरों पर लेखक प्रचलित से एकदम भिन्न है। अतः उसकी बहुरंगी भाषा-शैली और उसकी रीति भिन्न है।

अभिव्यक्ति का यह संकट मुक्तिबोध को भी महसूस हुआ था। निर्मल वर्मा ने वर्जीनिया वुल्फ़ के शब्दों में अपनी कठिनाई बतलाई है :

"चंद्रमा के लिए सही शब्द क्या है ? प्रेम के लिए ? मृत्यु को हम किस नाम से पुकारें ? मुझे प्रेमियों की भाषा जैसी एक छोटी भाषा चाहिए, जिसमें एकाक्षरी शब्दों का प्रयोग होता है। जब बच्चे कमरे में आते हैं और माँ को देखते हैं तो वे भी ऐसे ही एकाक्षरी शब्दों का प्रयोग करते हैं। मुझे चाहिए एक चिल्लाहट, एक चीख—लहरें।"[1]

निर्मल की भाषा शैली की संक्षिप्तता और कोमल गरिमा[2] का यही कारण है। यह आकस्मिक नहीं है कि निर्मल की कहानियों में एक भी अपरिष्कृत प्रयोग नहीं मिलता। उसकी शैली संकटकालीन द्रष्टा-भोक्ता की शैली है जो मनुष्य के दर्द का गवाह है, परिवर्तन के लिए अधीर, आक्रामक युवक नहीं। योद्धा का अस्त्र उद्धत शब्द होता है, अभद्र, अकुलीन, अनभिजात्य, क्योंकि यह चोट करता है, उसे उसकी शालीनता-शिष्टाचार से हटाकर, असली रूप में सामने लाना चाहता है, जैसे सिद्धेश, मुद्राराक्षस, विश्वेश्वर या निर्भय मल्लिक की कहानियों में, लेकिन निर्मल वर्मा पर्दाफ़ाश लहज़ा नहीं अपना सकते क्योंकि वह 'चीख' के लेखक हैं। दबी-घुटी चीख के, न वह रुदन-चीत्कार के लेखक हैं न हुंकार के। आक्रामक तनाव लेखक के मन में न होने के कारण निर्मल वर्मा की शैली भी 'तरसीली-दर्दीली' है, तिलमिला देने वाली त्यौरियाँ नहीं चढ़ती, तीव्र रक्तसंचार नहीं होता। निर्मल की कहानी संतप्त 'दो पाटों' में भिंची और घुटी प्रतिध्वनि उत्पन्न करती है। अतः बड़ी गरिमा और कोमलता से इस 'मानवीय-स्वर' को पहचानने का प्रयत्न किया गया है। इस सूक्ष्म और प्रायः शब्दातीत स्थिति में लेखक भी है, उसके पात्र भी, अतः शैली में कहा कम है, अनकहा अधिक है। लेखक की भाषा में कविता जैसी मुद्रा है, छोटी भाषा की रचना निर्मल की उपलब्धि है। इस तरह की अनेकार्थक, ध्वन्यात्मक भाषा, कविता की भाषा बन जाती है।

लेकिन कार्य (एक्शन) के अभाव और काल को, उसके ठहरे हुए रूप में पकड़ने के कारण, निर्मल वर्मा की भाषा-शैली नई कविता की भाषा की तरह, कलात्मकता की दृष्टि से बहुमूल्य है, लेकिन, बदलते मानव-यथार्थ की दृष्टि से 'अप्रसांगिक' हो गई है। वह मनन की भाषा है, परिवर्तन की नहीं। आज के युवा लेखक को, निर्मल का कथा साहित्य मानसिक-विलास लग सकता है। निर्मल की भाषा आज के गतिशील, विस्फोटक और विडम्बक सत्य का माध्यम नहीं बन सकती। उसमें न व्यंग्य की धार है, न स्वर का पैनापन। उसमें तेज़ाब नहीं है, वह मीठी मदिरा की तरह है जो स्मृतियों का चित्रपट खोलती है, मन के भेद लेती है और दर्द का इज़हार करती है। अवसाद की परिणति सार्वभौमिक सत्यों में और सामान्य सत्यों की अवसाद में परिणति करते चलने से निर्मल की कहानी का मुहावरा, सपाट और सशक्त नहीं, गर्भित और अनुचिन्तनात्मक है। उसका शब्द-विन्यास नृत्यलय बनाता है, क्षुब्ध प्रवाह नहीं। उसमें शब्द आपस में अटपटी स्थिति में नहीं आते, उन्हें सोच-सोच कर एक-एक संस्मरण की मनोदशा में रहकर लाया गया है, फिर मन ही मन उनकी संगति स्थापित की गई है, तब लिखा गया है। सोचते हुए और याद करते हुए लिखते समय शब्द या तो उदित होते हैं या अवधान में एकदम टपकते हैं। सोच में चयनशक्ति स्वतः अधिक सक्रिय रहती है, विन्यास-क्षमता भी। अतः अवसाद में शब्द प्रायः वाक्य में यथा स्थान ग्रहण कर लेते हैं। निर्मल की मानसिक संरचना में अराजकता और अस्तव्यस्तता, उनकी भाषा से सिद्ध नहीं होती। कुछ शब्दों की पुनरावृत्ति[1]

१. 'पिछली गर्मियों में' कथा संग्रह की भूमिका से।

२. डैलीकेट ग्रेस। निर्मल ने स्वयं ईस्थैटिक ग्रेस का उल्लेख किया है।

१. पब, बियर, सिमिट्री, कॉरीडोर, सिमिट्री, चैपल, पिकनिक, एलबम, पियानो, पैरम्बुलेटर, लैम्प-पोस्ट आदि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को छोड़कर निर्मल वर्मा से वाक्य-विन्यास तथा शब्द रचना में कलाकारिता अधिक है। यह आश्चर्यजनक है कि निर्मल की भाषा संरचना पर उनके 'बियरवाद' का कोई प्रभाव नहीं है। नशे में तथ्य फंतासी में बदल जाते हैं; दृश्यों में क्रम नहीं रहता। विचारों में नवीनता आती है पर अन्विति नहीं रहती। चटकीले जुमले टपकते हैं लेकिन वे योजनाबद्ध रूप में नहीं आते, अचानक आ जाते हैं। निर्मल वर्मा ने अपनी भाषा-शैली को 'नशीली' या उड़नशील नहीं होने दिया। उसमें छोटी भाषा के निर्माण के कारण, अस्फुटता तो है पर अन्वितिहीन उछालें उसमें नहीं हैं। नशे का प्रभाव, निर्मल वर्मा की दृष्टि की एकाग्रता पर हो सकता है। नशे में नज़र जहाँ ठहरती है, बंध जाती है। यहाँ एकाग्र होकर किसी स्थिति को बेधते रहने की प्रवृत्ति निर्मल की भाषा-शैली में अवश्य है। कहना न होगा कि यह केवल नशे के कारण नहीं है, निर्मल के कारण है। नशा उसे, अर्जित या स्वभावज एकाग्रता को बेधक बना देता है। जो हो, यह भाषा संरचना से स्पष्ट है कि उन्माद में नहीं स्मृति में डूब कर की गई है।

काल चेतना का भी भाषा-शैली पर प्रभाव पड़ा है। निर्मल भूत को वर्तमान में मूर्तित करते हैं। वह भूत, इतिहासपरक नहीं है। इतिहास का संदर्भ अवश्य है पर ऐतिहासिक दृष्टि और शक्तियों के अनुकूल अपने परिप्रेक्ष्य को बदल कर लेखक नहीं लिखता। वह ऐतिहासिक संकट से, समूचे वर्तमान काल को ग्रस्त समझता है, यहाँ तक कि 'काल' की प्रक्रिया से ध्यान हट जाता है, वह 'क्षण' पर अपने को केन्द्रित करता है। यह प्रवृत्ति भी लेखक को 'नई कविता' से जोड़ती है। वहाँ भी, काल को प्रक्रिया के रूप में चित्रित नहीं किया गया। काल प्रवाह है, क्षण उसका अणु है। इस 'क्षण' का वर्णन संभव नहीं पर कुछ अणुओं से बने 'क्षण' को प्रवाह से काट कर भाषा दी जा सकती है। उसे बिम्ब में बाँधा जा सकता है। निर्मल की भाषा इसी कारण बिम्बात्मक है, उसमें एक परिप्रेक्ष्य में, एक क्षण में, कौंधते अनुभवों और दृश्यों की चित्रकारी है। निर्मल वर्मा के पात्र 'क्षणालिप्त' हैं, निर्मल का 'मैं' भी, इसीलिए प्रायः काव्यमय बन जाता है। काल को, प्रक्रिया या प्रवाह के रूप में अवलोकित करने-कराने के लिए, यह अनिवार्य है कि लेखक 'क्रिया' द्वारा रचना करे। क्रिया और काल का अविच्छेद्य सम्बन्ध होता है। तॉलस्ताय के प्रसिद्ध उपन्यास "युद्ध और शांति" में काल प्रवाह का चित्र है, काल के अणुओं सहित। कालप्रवाह परक चित्रण में भाषा भी गतिमन्त हो जाती है—कहानियों में भी कालचेतना प्रवाहपरक हो सकती है। 'लंदन की एक रात' के प्रारम्भिक अंश में कालचेतना क्षणपरक नहीं प्रवाहपरक है। वहाँ भाषा में भी प्रवाह है, विलम्बित नृत्य नहीं। विश्वेश्वर की कहानी 'गोह' में काल क्षण रूप में नहीं, प्रवाह के रूप में ग्रहण किया गया है। वस्तुतः यह काल परक चिंतन से नहीं होता, 'क्रिया' परक चिंतन से होता है। कर्म के धरातल पर खड़े होकर जो लेखक मनुष्य को, उसे यथार्थ से मुठभेड़ करता हुआ दिखाता है, तो काल का प्रवाही रूप स्वयं आ जाता है, क्योंकि काल क्रिया में व्यक्त होता है, उसी से पहचाना जाता है। मन को कर्म से अलग कर, कहीं भी अटका लेने से काल की उपस्थिति ही नहीं महसूस होती, वह पता नहीं कब बीत जाता है, लेकिन कर्म या संघर्ष सदैव प्रवाह में होता है—प्रक्रिया में होता है। स्थिर बिन्दु पर संघर्ष सिर्फ मन के साथ हो सकता है, अतः स्थिर 'मैं' या पात्रों की अभिव्यक्ति करीने और शऊर के साथ रच-रच कर की जा सकती है। क्रिया की उष्मा में कोमल और अस्फुट परन्तु अतिव्यंजक शब्द प्रवाह में बाधा डालते हैं, वे ध्यान को एकाग्र करके उनके अर्थों की झंकार में पाठक को लीन कर देते हैं, किन्तु उनमें चेतना का आस्फालन नहीं होता। काल के क्रियात्मक अंकन में ध्यान गति पर भी रहता है, लक्ष्य पर भी। ब्यौरों और कार्य की अवस्थाओं का क्षण में नहीं, प्रवाह के एक पूरे गतिमंत वृत्त या परिदृश्य में साक्षात्कार होता है। परिणामतः उस भाषा की प्रकृति 'सामुद्रिक' होती है; 'सांगीतक' नहीं। निर्मल की भाषा संरचना और शैली गद्य में जमे हुए संगीतमय, विलम्बित नृत्य की तरह हैं। शैली क्रिया बहुल है पर वह क्रिया स्मृति में होती है, कठोर चुनौती भरे कर्कश जीवन संघर्ष के धरातल पर नहीं, इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें लास्य की गरिमा और कोमलता है, कर्म की प्राणवत्ता और प्रखरता नहीं है। निर्मल वर्मा की भाषा लड़ते हुए आदमी की भाषा नहीं है, वह लड़ाई से थके, आहत, संदेहग्रस्त, संत्रस्त और थके हुए युद्धोपरांत योरुप के आधुनिक अन्तर्मन की भाषा है जो उनकी अपनी रची हुई है और उनके प्रयोजन के अनुकूल है। वह अपने में विशिष्ट, मौलिक है। वह अप्रासंगिक लगने पर भी हिन्दी की नई कहानी की भाषा का एक भिन्न आयाम प्रस्तुत करती है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० जयभगवान गोयल
रीडर,
यूनिवर्सिटी रिजनल सैन्टर
रोहतक (हरियाणा)

भाई सन्तोखसिंह और उनका युग

भाई संतोखसिंह (१८४३-१९०० वि०) एक लोक नायक एवं युग-प्रवर्तक कवि थे। उन्होंने दो प्रबन्ध काव्यों की रचना की—'गुरु नानक प्रकाश'; एवं 'गुरु प्रताप सूरज'। ये पौराणिक भावना से अनुप्राणित ऐतिहासिक काव्य हैं। इनमें सिक्ख गुरुओं की चरित्र-गाथा एवं उनकी चिंतनधारा का विशदाता से निरूपण हुआ है। युग परिवेश का यथार्थ चित्रण करते हुए कवि ने नवीन [सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय चेतना को जागृत किया है। हिन्दुओं और सिक्खों की साँस्कृतिक एकता को दृढ़ किया है और मानव मंगलकारी भावनाओं को प्रश्रय दिया है। सामाजिक समता एवं मानवीय एकता का प्रतिपादन किया है और असत्य, अन्याय, अधर्म, अनीति एवं अत्याचार का साहसपूर्वक विरोध करने का उत्साह उत्पन्न किया है।

प्राचीन भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने इस बात पर बड़ा बल दिया है कि महाकाव्य का कथानक इतिहास प्रसिद्ध होना चाहिये, यद्यपि चरित्र-नायक के गौरव की रक्षा के लिए अथवा कथानक में रमणीयता लाने के लिए ऐतिहासिक-वृत को कुछ परिवर्तित कर लेने का विधान भी कर दिया गया है। संस्कृत के अधिकतर महाकाव्य ऐतिहासिक या पौराणिक कथानक पर ही आधारित हैं। हिन्दी में 'पृथ्वीराज रासो' का कथानक ऐतिहासिक है और 'रामचरितमानस' का पौराणिक। 'गुरु नानक प्रकाश' एवं 'गुरु प्रताप सूरज' भी ऐतिहासिक कथा को लेकर लिखे गये हैं। इनमें सिक्ख गुरुओं के जन्म, विवाह, गुरुता, गृहस्थ एवं पारिवारिक जीवन, साधना, धार्मिक एवं सामाजिक उपदेश तथा उनकी मृत्यु आदि का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से ये काव्य-ग्रंथ गुरुओं के जीवन से सम्बन्धित 'इतिहास' ग्रंथों के समान ही महत्त्वपूर्ण हैं। कवि ने इन्हें स्वयं 'इतिहास' की संज्ञा दी है।[1]

इतिहासकार तटस्थता से विविध ऐतिहासिक-प्रसंगों का वर्णन करता है, किन्तु भाई संतोखसिंह ने गुरुओं के प्रति धार्मिक-अनुराग से प्रेरित होकर ही इन ग्रँथों की रचना की है। इसलिए इनमें गुरुओं को अवतारी अथवा दिव्य रूप में चित्रित किया गया है। उनकी महिमा का गुणगान किया गया है और युग की राजनैतिक अवस्था की अपेक्षा सांस्कृतिक एवं सामाजिक दशा का चित्रण अधिक विशदता से किया गया है। 'पृथ्वीराज रासो' और 'गुरु प्रताप सूरज' में भी यह दृष्टि-भेद स्पष्ट परिलक्षित होता है। 'रासो' में एक राजा का चरित्र उसके आश्रित समकालीन दरबारी कवि द्वारा वर्णित है, जो उसके वैभव, ऐश्वर्य, विलास, आखेट, एवं युद्धों आदि का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करता हैं, किन्तु 'गुरु प्रताप्र सूरज' का रचयिता न तो गुरुओं का समकालीन है और न ही उनके आश्रय में पलने वाला है। वह उनका भक्त है और भक्ति-भावना से प्रेरित होकर ही निष्ठापूर्वक उनके चरित्र का वर्णन करता है। उनकी सभा को 'गुरु-दरबार' तो कहता है, किन्तु वहाँ राजदरबार का सा वैभव और विलास नहीं है। वहाँ 'आम खास' का भेद भी नहीं है। वहाँ राजा और रंक सभी एक समान हैं। सभी एक

१. पठहि सुनहि इतिहास को आशा पूर्ण होइ (रा० १०२८/५४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देग से सम्मिलित भोजन करते हैं। गुरु जी भी प्रायः सबके साथ वहीं भोजन करते हैं। वहाँ जो भी अन्न सेवक लाते हैं, वह उसी दिन पका दिया जाता है, अगले दिन के लिए कुछ भी शेष नहीं रहता। संग्रह की कोई भावना नहीं। वहाँ रबाबी गीत गाते हैं और हरि-कीर्तन होता है। गुरु अमरदास के ऐसे दरबार की अनोखी ही शोभा है। कवि गुरुओं को 'भव-भार उतारने' तथा 'तुरकान को तेज निवारने' के हेतु अवतरित परमेश्वर का रूप मानता है।

कवि ने यहाँ इतिहास को पौराणिक रूप देने की चेष्टा भी की है। गुरुओं की अन्य अवतारों के साथ एक-रूपता भी चित्रित की गई है। बहुत-सी ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे उनका पौराणिक महत्त्व निर्दिष्ट किया गया है। गुरुओं के चरित्र के साथ अनेक अतिमानवीय एवं अलौकिक घटनाओं का समावेश भी किया गया है और बहुत सी पौराणिक कथायें भी बीच-बीच में आई हैं। इन पौराणिक कथाओं को भी कवि ने "पुरातन-इतिहास" ही कहा है।[1] अस्तु, एक ओर वह इतिहास को पुराण के साँचे में ढालता है और दूसरी ओर पुराणों को इतिहास के वेश में प्रस्तुत करता है।

गुरुओं के इतिहास के साथ-साथ कवि ने उस युग के मुगल-शासकों तथा कुछ पहाड़ी एवं अन्य राजाओं के इतिहास का भी वर्णन किया है। लेकिन उसमें उतना विस्तार नहीं है। गुरुओं के जीवन से सम्बन्धित तो गौण घटनाओं को भी विस्तार से प्रस्तुत किया गया है। उनके जन्म और मृत्यु के दिन, तिथि, पक्ष, याम आदि तक का उल्लेख किया गया है। उनके जन्मोत्सव, बाल्य-जीवन, विवाहोत्सव, गुरु-गद्दी प्राप्ति, गुरुता की अवधि, मृत्यु-संस्कार, दिन-चर्या, आचरण, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन आदि का पूरा विवरण प्रस्तुत किया गया है। गुरु रामदास एवं अमरदास की सेवाओं और सरोवरों की खुदवाई आदि का भी विस्तृत विवरण दिया गया है। कवि ने गुरुओं की धर्म-यात्राओं, उनकी चिंतनधारा, धार्मिक, सामाजिक एवं नैतिक उपदेशों का वर्णन विशेष तन्मयता से किया है।

गुरुओं के महत्व की स्थापना के लिए कहीं-कहीं ऐतिहासिकता की उपेक्षा भी की गई है। जैसे 'गुरु नानक प्रकाश' के अनुसार सुलतानपुर में गुरु नानक को बल-पूर्वक कलमा पढ़वाने के लिए मस्जिद में ले जाया जाता है। 'गुरु प्रताप सुरज' में अकबर और जैमल के युद्ध की कल्पना जैमल की कन्या को आधार बनाकर की गई है और अकबर की विजय 'गुरु वाक' से मानी गई है। इसी प्रकार हुमायूं भी जब गुरु जी की शरण में पहुँचता है, तो उस पर भी गुरु जी की अलौकिक शक्ति का चमत्कार दिखाया गया है। वस्तुतः कवि का उद्देश्य यहाँ गुरुओं का 'इतिहास' लिखना है अवश्य, लेकिन ऐसा उसने धर्म-भावना से प्रेरित होकर किया है और ऐसे तथ्यों, घटनाओं एवं प्रसंगों आदि का ही नियोजन किया है जिनसे उनके महत्व एवं गौरव की प्रतिष्ठा हो सके। फिर उनकी चिन्तनधारा का प्रतिपादन करना भी तो उसका लक्ष्य था, अस्तु, उसने ऐतिहासिक घटनाओं में आवश्यकता-नुसार परिवर्तन या संशोधन भी किया है और अनेक नई घटनाओं, प्रसंगों, पात्रों आदि की उद्भावना भी करली है।

भाई संतोखसिंह के सामने गुरुओं का कोई प्रामा-णिक इतिहास नहीं था। उन्हें जो भी सामग्री उपलब्ध हुई, उसमें से अपनी रुचि और उद्देश्य के अनुरूप 'बीन-बीन' कर यहाँ प्रस्तुत की हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यह एक ऐतिहासिक काव्य है, इतिहास ग्रन्थ नहीं। अतः कवि को अपनी प्रेरणा, अनुभूति और उद्देश्य के अनुरूप इतिहास-कथा को प्रस्तुत करने की सुविधा एवं स्वतन्त्रता रही है। कवि का उद्देश्य गुरुओं के इतिहास से परिचित कराना मात्र नहीं है। यह उसका एक प्रमुख उद्देश्य अवश्य है, किन्तु उसका उद्देश्य इससे कहीं अधिक महनीय है और उसका यही उद्देश्य उसे एक सामान्य इतिहासकार से अलग और ऊपर खड़ा करता है।

सिक्ख-गुरुओं ने यवन-शासकों के अत्याचारों से दलित एवं प्रताड़ित भारतीय जनता में एक नवीन सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक चेतना जाग्रत की थी। अधर्म, अन्याय, अनीति और अत्याचार के विरुद्ध

१. कहनि लगे इतिहास पुरावृत्ति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लड़ने की भावना और साहस पैदा किया था। 'गुरु प्रताप सूरज' में इस नव-चेतना को विशेष रूप से मुखरित किया गया था। उसमें युग का ही यथार्थ चित्रण नहीं किया गया, वरन् जनता की निराशा, अभिलाषाओं एवं उनकी उभरती हुई चेतना को भी स्वर दिया गया है।

भाई संतोखसिंह एक युग-प्रवर्तक कवि थे इसलिये इस ऐतिहासिक सन्दर्भ का उपयोग उन्होंने अपने युगपरिवेश के प्रसंग में भी सफलता से किया है और अपनी युग परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए गुरुओं के इतिहास के माध्यम से जन-जीवन में एक नई सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय-चेतना का संचार किया है। अपने युग बोध को अभिव्यंजित किया है। 'गुरु प्रताप सूरज' में जो यवन विरोधी स्वर हैं, ये उसी की देन हैं।[1] इस रचना के रूपक में तुरक शासकों, उनके अत्याचारों, उमरावों, मुल्लाओं, शरहा आदि के लिए अन्धकार, उल्लू, चमगादड़, जंबुक आदि प्रतीकों का प्रयोग भी इसी प्रवृति का सूचक है। गुरुनानक की भाँति हिंसक पशुओं से भी उनका सादृश्य दिखाया गया है। कवि ने 'गुरु प्रताप सूरज' में तो अंग्रेजों द्वारा कैथल की लूट के प्रति अपनी प्रतिक्रिया भी प्रकट की हैं, जो उनकी देश प्रेम की भावना को प्रकट करती है। निःसन्देह कवि इस ऐतिहासिक कथानक के माध्यम से राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना जागृत करने में, सद्धर्म और न्याय की रक्षा तथा अन्याय और अधर्म का साहसपूर्वक विरोध करने की भावना को उदीप्त करने में पूरी तरह सफल हुआ है। उसमें गुरुओं की चिन्तनधारा के आलोक में अपने युग के जन-समूह की मनोवृत्तियों का परिष्कार एवं उन्नयन करने का भी मंगलमय कार्य किया गया है। किसी भी इतिहास-ग्रन्थ में ऐसा उद्देश्य निहित नहीं होता।

युग-चित्र एव युग बोध—भाई संतोखसिंह ने अपने इतिहास-बोध के साथ अपने भाव-बोध का भी सुन्दर सामंजस्य स्थापित किया है। 'गुरु प्रताप सूरज' तथा 'नानक प्रकाश' का युग-चित्र अत्यन्त व्यापक है। इनमें उस युग के पंजाब का सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन सजीव हो उठा है। इनमें लगभग ३०० वर्षों की धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक अवस्था का यथार्थ एवं विशद वर्णन हुआ है।

युग की धार्मिक-अवस्था का चित्रण करते हुए कवि ने हिन्दुओं और मुसलमानों के अनेक मतों, पंथों, सम्प्रदायों आदि का वर्णन किया है। सिद्धों, नाथ-योगियों से भी कई बार चर्चा होती है। ये सिद्ध लोगों को करामातें दिखाकर चमत्कृत करते थे। इनके अतिरिक्त तपस्वी, यती, ब्रह्मचारी, अवधूत, संन्यासी, बैरागी, साधु, ज्ञानी, भक्त, संत, महन्त, दिगम्बर, बैष्णव, शैव, देवी-उपासक, सूफी, मुल्लाँ, पीर, फकीर आदि अनेक प्रकार के साधकों की चर्चा इस ग्रंथ में मिलती है। तपस्वियों के आश्रम का यथार्थ चित्रण करते हुए कवि लिखता है, कोई वहाँ उल्टे लटका हुआ है, कोई एक पाँव पर खड़ा हुआ है, कोई कंठ तक ठण्डे पानी में खड़ा है, कोई अग्नि सेवन कर रहा है, कोई जल पर निर्भर है, कोई निराहारी है, कोई जटाधारी है, कोई बल्कल पहने है, कोई मृगछाला पर बैठा योग-साधना कर रहा है, और कोई भगवान की कथा श्रवण कर रहा है। (ना० प्रकाश-पृ० १४)

इन दोनों की रचनाओं के अनुसार इस युग में सामान्य जन आस्तिक और धर्म भीरु थे। ईश्वर, जन्म-मरण आवागमन, कर्म-फल, भाग्यवाद आदि में उनकी पूरी आस्था थी। जप, योग तप, यज्ञ, व्रत, दान, तीर्थस्नान, सालिग्राम-पूजा एवं अवतारवाद में भी उनका विश्वास था। लोग योगियों, तपस्वियों, फकीरों, देव, देहुरा आदि को भी पूजते थे। देवी उपासकों में बलि देने की प्रथा भी थी। तप के प्रभाव में भी उनकी निष्ठा थी। कुछ हिन्दू कब्रों तक को पूजते थे। धर्म के क्षेत्र में जो बाह्याचार, पाखंड और आडम्बर थे, कवि ने उनका भी वर्णन किया है और गुरुओं ने जिस प्रकार ऐसे मिथ्याचारों का निषेध किया, उस पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

यह श्रद्धा और विश्वास का युग था। भाई संतोखसिंह का कथन है कि 'श्रद्धा त्यागने से अनेक दोष

१. तुरक तेज दृढ़ तरु उखरा।
हिन्दू धर्म को राख्यो प्रतिपारा॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ जाते हैं।[1] हरि भक्ति को वह सर्वश्रेष्ठ मानते हैं और उनकी मान्यता है कि श्रद्धा के बिना न भक्ति प्राप्त होती है और न ईश्वर।[2] कवि ने तो यहाँ तक कहा है कि कुतर्क नहीं करना चाहिये और शंका भी श्रद्धा से होनी चाहिये।

रिदै कुतरकन दूर करीजै, शरधा धारि देखिये दरशन।"

वस्तुतः, इस मध्ययुगीन-बोध का निरूपण 'गुरु प्रताप सूरज' तथा 'गुरु नानक प्रकाश' दोनों में विशदता से हुआ है।

भाई संतोखसिंह ने यवन-शासकों की धर्म-असहिष्णुता, एवं धर्मान्धता पर भी प्रकाश डाला है और इस ओर भी संकेत किया है कि धार्मिक-तीर्थ स्थानों पर जज़िया भी लिया जाता था, (रा० १/४५/१२)। यवनों के राज्यों में हिन्दुओं की क्या दशा थी, इसका भी अत्यन्त यथार्थ चित्रण हुआ है। 'नानक प्रकाश' के अनुसार जब गुरु नानक को बलपूर्वक कलमा पढ़वाने के लिए मस्जिद के में ले जाया जाता है तो सुलतानपुर की सारी हिन्दू प्रजा आतंकित हो जाती है। वे देखते हैं कि वे कितने निराश्रित, निरीह, एवं विवश है। कुछ भी कर नहीं सकते, कुछ कह नहीं सकते। बस ईश्वर ही उनका एक मात्र सहारा है, उसी पर भरोसा है। वही उनकी लाज की रक्षा करेगा, अतः उसी का स्मरण करते हैं।

हिन्दू कोई न कहि सके, तुरकन तेज बिसाल।
परमेशुर पति राखई, सिमरहि दीन दयाल॥
(पू० ३१/४)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्ति के उद्भव और विकास का विवेचन करते हुए यह मत प्रकट किया था कि पराजित एवं निराश हिन्दू जनता विवश होकर भगवान की शरण में गई तभी भक्ति का उद्भव हुआ। बाबू गुलाबराय ने भी इसका समर्थन किया था, किन्तु आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी प्रभृति विद्वानों ने इस मत का खण्डन करते हुए भक्ति को प्राचीन भारतीय धर्म-साधना का विकसित रूप बताया था। यह भी कहा गया है कि 'भक्ति का जन्म द्रविड़ में हुआ है और उत्तर में रामानन्द लाए थे (भगति द्राविड़ उपजि लाए रामानंद)। मैं भी बहुत कुछ उपर्युक्त धारणा से सहमत रहा हूँ। हाँ, इतना अवश्य मानता रहा हूँ कि उत्तर भारत की युग परिस्थितियों ने भक्ति को कुछ नया रूप भी दिया तथा उसे तीव्र करने में भी सहायता की। किन्तु 'गुरु नानक प्रकाश' का यह संदर्भ और भाई संतोखसिंह की यह उक्ति इस सम्बन्ध में फिर से सोचने को विवश करती है तथा आचार्य शुक्ल के मत में भी कुछ जान नज़र आती है।

इन रचनाओं से यह भी विदित होता है कि यह विदेशी शासक गो-ब्राह्मण को यातनाएं देते थे और प्रजा का शोषण करते थे। हिन्दुओं को ज़बरदस्ती मुसलमान भी बनाते थे। कामी एवं पर-स्त्री गामी शासक भी थे। बाबर ने ऐमनाबाद पर जब आक्रमण किया तो तरुण स्त्रियों की कैसी दुर्दशा की गई, इसका चित्रण भी कवि ने किया है। युग की राजनैतिक अवस्था पर प्रकाश डालते हुए कवि ने शासन व्यवस्था के विभिन्न घटकों—राजा सचिव, मंत्री, सेनापति अथवा बादशाह, उमराव, सूबेदार, सैनिक, सिपाही, काज़ी आदि का उल्लेख किया है। यवन-शासकों एवं पहाड़ी राजाओं की अनीति एवं अत्याचारों तथा मुगलों के आन्तरिक षड़यन्त्रों एवं संघर्षों का भी वर्णन किया है।

राजा को 'नरराई' भी कहा गया है, जो राजा के प्रति लोक-भावना को प्रकट करता है। शासन व्यवस्था में ग्रामाधीश, पंच, पंचायती, ग्राम-चौधरी आदि का भी महत्वपूर्ण स्थान था। कुछ राजाओं पर प्रजा का बड़ा स्नेह था। प्रजा राजा के दु:ख से दुःखी होती थी। (रा० २/११/३०) राजा का धर्म ही प्रायः प्रजा का धर्म होता था। कई बार राजा की ओर से धर्म-पालन के लिए आज्ञा भी दी जाती थी। राजा का प्रजा पर पूर्ण अधिकार था। राई बुलारू जैसे सहृदय, स्नेही शासक भी थे।

विदेशी शासकों की अधीनता सिर झुकाकर स्वीकार करनी पड़ती थी। अकबर के सेनानायक के आगमन पर ग्राम-वासियों को एक-एक रुपया देकर और सिर नीचा करके उसके सम्मुख उपस्थित होना पड़ता है। (रा० २/३०/२१)

१. श्रद्धा त्यागे दोष विसालै।
२. बिन श्रद्धा सो हाथ न आवै।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक अवस्था का निरूपण कवि ने बड़ी विशदता से किया है। 'गुरु प्रताप सूरज' में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चारों वर्णों का उल्लेख मिलता है। इन रचनाओं से यह भी पता चलता है कि समाज में ब्राह्मणों की बड़ी प्रतिष्ठा थी। सभी अनुष्ठानों एवं संस्कारों में उसकी उपस्थिति महत्वपूर्ण थी। जन्मोत्सव, मुण्डन, विवाह, एवं मृत्यु संस्कार आदि वही सम्पन्न करवाता था।

लोग इस वर्ण व्यवस्था का पालन करते थे। किन्तु गुरुओं ने अपने उपदेशों से ही नहीं, अपने आचरण से भी इस प्रकार की वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया था, जिसका निरूपण कवि ने दृढ़ता से किया है। उसका मत था—

"जाति कुजाति न परखई काई"

(रा० १/४०/१२)

गुरुओं ने लंगर प्रथा का प्रवर्त्तन करके भी इस वर्ण एवं वर्ग विषमता को समाप्त करने का प्रयास किया। गुरु अमरदास का नियम था कि कोई भी व्यक्ति गुरु घर की देग से भोजन करके ही उनके दर्शन कर सकता है, चाहे वह ब्राह्मण हो, चाहे रंक। सामाजिक समानता का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण था। 'गुरु प्रताप' सूरज में इसका यथार्थ चित्रण हुआ है। उसमें अनेक जातियों एवं उपजातियों का उल्लेख भी मिलता है।

समाज में दो वर्ग विशेष रूप से विद्यमान थे। अकबर के दरबार में उन्हें 'आमखास' का दर्जा प्राप्त था, जिसका उल्लेख भाई सन्तोखसिंह ने भी किया है। साधारणतः इन दो वर्गों को राव और रंक कहा जाता था। इन दोनों वर्गों की खाई काफी गहरी थी। एक ओर शासक वर्ग था, जिसमें राजा, रानी, मंत्री, सचिव, उमराव आदि आते थे, तथा कुछ बड़े व्यापारी या साहूकार थे जो धनी और सम्पन्न थे, तो दूसरी ओर साधारण शिल्पी, कारीगर, कृषिकार, व्यापारी तथा कर्मकार आदि लोग थे, जिनकी आर्थिक अवस्था अत्यन्त सामान्य थी। यह वर्ग-भेद उनके वस्त्रों, आभूषणों, भोजन तथा रहन-सहन आदि से स्पष्ट प्रकट होता था। धनी लोग जहाँ हीरे-मोतियों से जड़े सोने के आभूषण पहनते थे, बहुमूल्य रेशमी वस्त्र पहनते थे तथा उत्तम भोजन करते थे, वहाँ निर्धन लोगों को डेढ़ गज का वस्त्र पहनकर तथा बाजरे और चने की रोटी खाकर भी गुजारा करना पड़ता था। उनके वस्त्राभूषण उनके सामाजिक स्तर के सूचक थे। भाई सन्तोखसिंह ने इस वर्ग वैषम्य पर प्रकाश डालते हुए सामाजिक-समता का प्रतिपादन किया है। भाई लालो के प्रसंग में वे आर्थिक शोषण की कटु आलोचना करते हुए दिखाई देते हैं।

सामान्य जनता का लौकिक, वैदिक रीति, श्रुति-स्मृति आदि में भी दृढ़ विश्वास था। आम लोगों में अनेक अन्ध-विश्वास एवं वहम थे। पर्वतों में डाकनियाँ रहती हैं, जो मनुष्य को खा जाती हैं, यात्रा का भय, जंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत, जिन्न, टोने, शकुन-अपशकुन आदि में भी सामान्य जनता का विश्वास था। अधिकतर लोगों में 'भेड़चाल' थी। (रा० २/४६/३२, ३३)।

भाई सन्तोखसिंह ने इन लोगों के जन्म एवं विवाह आदि उत्सवों, मुण्डन, नामकरण, यज्ञोपवीत एवं मृत्यु आदि संस्कारों तथा होली, जन्माष्टमी आदि पर्वों का भी निरूपण किया है। ज्योतिष में भी प्रायः लोगों का विश्वास था। वे जन्म पत्रियां तथा हस्तरेखायें भी दिखाते थे। पगड़ी-बांधने, दस्तार, तिलक आदि की प्रथाएं भी प्रचलित थीं। कवि ने विविध संस्कारों एवं अनुष्ठानों की विधि एवं सामग्री-आदि का भी वर्णन किया है। गुरु नानक, हरिगोबिन्द तथा गोबिन्दसिंह के जन्मोत्सव, विवाह एवं मृत्यु संस्कार आदि का विशद वर्णन किया गया है।

लोग एक दूसरे का कैसे अभिवादन और सत्कार करते थे, इसका भी उल्लेख मिलता है। अपने से बेड़ों को 'पैरी-पवणा' कहते थे, दूसरों को राम-राम भी कहते थे। बड़े लोगों का सत्कार पांवड़े बिछा कर भी किया जाता था।

परिवार में माता-पिता, पुत्र-पुत्री, प्रपौत्र, अनुज, भगिनी, पति, पत्नी, सास, बहू, ननद, सौत, ताया, चाचा, भतीजा एवं अन्य कुटुम्बियों की क्या भूमिका होती थी। सुपुत्र किसे कहते थे और कुपुत्र किसे? घर-जमाई की क्या स्थिति थी। विवाह के लिए कैसे न्यौते दिए जाते थे। कुटुम्बियों की परिवार के सुख-दुःख में कैसी सद्-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावना होती थी, वे उनके उत्सवों में कैसे सम्मिलित होते थे, इसका भी वर्णन किया गया है। परिवार के गठन एवं उनकी रीति-नीति के अतिरिक्त इन सम्बन्धों की पवित्रता और कर्त्तव्य-भावना का भी निरूपण यथा-स्थान किया गया है।

समाज में नारी का क्या स्थान था तथा स्त्री पुरुष के सम्बन्ध कैसे थे, इसका भी परिचय मिलता है। नारी के माता, दादी, पत्नी, पुत्री, बहन, ननद, भावज, प्रेमिका, सौत, सखी, वेश्या, सेविका आदि अनेक रूपों के दर्शन होते थे। समाज में बहु विवाह प्रथा प्रचलित थी। गुरु हरगोविन्दसिंह तथा गुरु गोबिन्दसिंह के भी एक से अधिक विवाह हुए थे। हरिपुर के राजा की अनेक रानियां थी। प्रायः लड़की को पूछे बिना ही पिता पुत्री का विवाह निश्चित कर देते थे। कई बार कन्या की माता को भी नहीं पूछा जाता था। शाह उप्पल गुरु जी की इच्छा पूर्ति हेतु ही अपनी पुत्री का विवाह गुरु कृपा से रोग-मुक्त एक कुष्ठि से कर देता है। कन्या प्राप्ति के लिए राजा लोग युद्ध भी करते थे। स्त्रियों का पुनर्विवाह भी हो जाता था। हरिपुर की जो रानी गुरु वाक्य से पगली हो गई थी, बाद में गुरू जी उसका विवाह अपने एक सेवक से करवा देते हैं। राजा तो उसे इस दशा में छोड़कर चला ही गया था। यह नारी की उपेक्षित दशा की ओर संकेत करता है।

नारी को अबला ही समझा जाता था ("मति अबलायो भूले") और वह पति की अनुगामिनी होती थी। सुखी और सम्पन्न दाम्पत्य जीवन स्त्री-पुरुष के विश्वासपूर्ण, मधुर एवं संयत सम्बन्धों पर ही निर्भर था। गुरुओं का पारिवारिक जीवन इसका अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करता है। पतिव्रता का महत्त्व एवं आदर्श सर्वमान्य था। उसमें बड़ी शक्ति मानी जाती थी। स्त्रियों में पर्दा प्रथा भी प्रचलित थी, किन्तु गुरु जी पर्दा प्रथा के विरोधी थे। हरिपुर की उन्हीं रानियों को दर्शन की आज्ञा मिली थी, जो बिना पर्दे के आई थीं। प्रायः कन्या का विवाह अपनी जाति एवं स्तर के परिवार में ही किया जाता था, किन्तु गुरु अमरदास केवल सुपात्र युवक को देखकर ही अपनी कन्या का विवाह निर्धन रामदास से कर देते हैं। लड़की वाले का स्थान वर-पक्ष से नीचा ही समझा जाता था। राजपूत अपनी कन्या का विवाह यवनों से करने की अपेक्षा उनसे युद्ध करना अधिक गौरवपूर्ण समझते थे। कुँवारी युवा कन्या का घर में बैठे रहना बड़ा कष्टप्रद था। कन्यादान एक पुण्य कर्म समझा जाता था। एक जगह सती-प्रथा एवं स्त्री के गिरवी रखने का संकेत भी मिलता है। समाज का नैतिक आदर्श था—

"धरम बिरत करि संतन सेव"।
परत्रिय पर धन कबहूं न लैवे॥

भाई संतोखसिंह ने उस युग की आर्थिक अवस्था का पर्याप्त विवरण 'गुरु प्रताप सूरज' में दिया है। कृषि के लिए सिंचाई के समुचित साधन उपलब्ध नहीं थे। यदि वर्षा समय पर नहीं होती थी, तो अन्न का संकट उपस्थित हो जाता था। ऐसी अवस्था में धर्म भीरु लोग वर्षा-प्राप्ति के लिए किसी सिद्ध या तपस्वी की पूजा भी करते थे।

व्यापार के प्रसंग में पटना, तलवण्डी, आनन्दपुर, अमृतसर, सुलतानपुर आदि की हाट, बाजार, दुकान, कोठी, आढ़त आदि का भी उल्लेख हुआ है। एक स्थान से किसी दूसरे स्थान पर अन्न ले जाकर महंगे दामों बेचने का भी वर्णन है। सिक्के थे—पैसे, टके, आने, रुपये—रजतमान, मोहर, मुद्रिका, दीनार आदि और माप के लिए गज तथा तोल के लिए सेर, मन आदि से काम लिया जाता था। हुण्डियाँ भी चलती थीं। वाहन के रूप में गज, सांढनी, रथ, सकट, पालकी, अश्व, बैलगाड़ी, आदि का उपयोग होता था। बोहित और जहाज का उल्लेख भी मिलता है। सरिता में बेड़े बांधकर लकड़ी लाने का वर्णन भी हुआ है। संचार व्यवस्था के लिए सांढनी, अश्व आदि पर हलकारे पत्र ले जाते थे। अधिकतर लोग सामान्य व्यवसाय ही करते थे। प्रशासन से सम्बन्धित मंत्री, सचिव, सेनापति, सैनिक, मुंशी, सिपाही, काज़ी, चौधरी आदि कुछ अधिकारी लोग अवश्य थे। कुछ बड़े साहूकार और व्यापारी भी थे। अधिक छोटे-छोटे शिल्पी या कर्मकार आदि ही थे, जैसे—कुम्हार, जुलाहे, पथरीए, ईंट बनाने वाले, बढ़ई, लुहार, धीवर, धोबी, दर्जी, रसोइये, सूपकार, हलवाई, लंगरी, नाई, गड़रिये, ग्वाले, सुअर या खर पालने वाले, टोकरी ढोने वाले मजदूर, घास बेचने वाले, तैराक, माली एवं कलाकर जैसे—नट, भाट, रबाबी,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डोम। इनके अतिरिक्त कृषिकार, कुलाल, सौदागर, सराफ, मसंद, पादे, पुरोहित, चंडाल, वैश्या एवं तस्कर आदि अनेक व्यवसायों का उल्लेख मिलता है। इन ग्रंथों के अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सम्पन्न या धनी वर्ग कम ही था, अधिक निम्न वर्ग ही था, मध्यवर्ग भी कम था।

उस युग में सेवा का बड़ा महत्त्व था किन्तु ऊँचे कुल वाले यदि मजदूरी करते थे, तो इसे अपमानजनक समझा जाता था, यद्यपि गुरुओं ने सेवा के माध्यम से श्रम के महत्व को भी स्थापित किया था। मजदूरी सस्ती थी। दो आने और भोजन के साथ दिन भर के लिए मजदूर मिल सकता था। रुपये का इतना मूल्य था कि सामान्य परिवार २५ रुपये में भी अपनी कन्या का विवाह सम्पन्न कर सकता था।

सेना के प्रसंग में कवि ने सैनिकों की वेश-भूषा, आयुध, वाहन, रण-वाद्यों, युद्ध-नीति, युद्ध-रीति आदि का विशद वर्णन किया है। अपराधियों को किस प्रकार की सजा दी जाती थी, इसका भी संकेत मिलता है। फाँसी, कैद तथा हाथ-पाँव आदि काटने की प्रथा का उल्लेख मिलता है।

भाई संतोखसिंह ने लोगों के भोजन, वस्त्राभूषणों, रहन-सहन, प्रसाधनों, पात्रों, वाद्य-यंत्रों आदि ऐसी वस्तुओं का भी वर्णन किया है, जो नित्य व्यवहार में आती हैं। उनके मनोरंजन के साधनों तथा खेल-तमाशों आदि का भी वर्णन मिलता है। भोजन के लिए खीर, चावल, चूरी, दधि, खिचड़ी, दलिया, पूड़ी, खांड, घी, फुलका, खुरमे, भले, चिरवी, मोदक आदि पदार्थों का उल्लेख मिलता है, जिनका प्रयोग अवसर तथा आर्थिक स्थिति के अनुरूप ही होता था। गरीब आदमी चने, बाजरे की रोटी आदि खाकर भी गुजारा करते थे। कुछ लोग माँस और मदिरा का भी प्रयोग करते थे। भोजन करने के लिये बहुत से लोग जल छिड़ककर, वस्त्र बिछाकर उस पर चौकी रखकर बैठते थे। वस्त्रों के अन्तर्गत घामी, जामा, पाग, चीरा, सूथन, दुकूल, कुलही, जिगा, कलगी आदि का तथा आभूषणों में बेसर, किंकिनी, कंगन, कड़े, हार, माला, अंगद तथा हीरे-मोती जड़े सोने के अनेक आभूषणों का उल्लेख मिलता है। भोजन, वस्त्र एवं आभूषण आदि व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को प्रकट करते थे।

कवि ने उबटन, दधि, अंजन, मंहदी आदि शृंगार-प्रसाधनों, बंब, ढोलक, रणसिंघे, छैणे, दुदुंभी, मृदंग, रबाब, डफ, बांसुरी, धौंसा, पटह, नौबत, सितार, नफीरी, तुरही, तूती आदि वाद्य यंत्रों, लोटा, कलश, थाली, लोशट, आदि पात्रों एवं पलंग, शिविका, चमरू आदि का भी उल्लेख किया है, जो उस समय प्रयोग में आते थे।

इन रचनाओं में आवास, नगर, दुर्ग, सरोवर, मंदिर एवं उपवनों आदि की रचना शिल्प पर भी प्रकाश डाला गया है,-और वृक्षों, पशु-पक्षियों, पुष्पों एवं ऋतुओं का भी वर्णन किया गया है, जो युग-चित्र को पूर्ण, यथार्थ एवं सर्वांगीण बनाने में सहायक होते हैं।

हिन्दी में उस युग में रचित कितने ऐसे काव्य ग्रन्थ हैं जिनका इतिहास-बोध इतना जीवन्त है और जिनका युग चित्र इतना विशद और व्यापक है, और जिसमें युग चेतना की ऐसी ज्वलन्त अभिव्यञ्जना हुई हैं। 'पृथ्वीराज-रासो', 'रामचरितमानस' तथा 'दशम-ग्रंथ' को छोड़कर इस दृष्टि से शायद कोई भी रचना भाई संतोखसिंह की उपर्युक्त रचनाओं ('गुरु नानक प्रकाश' तथा 'गुरु प्रताप सूरज') के समकक्ष नहीं है।

———

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेशचन्द्र पाण्डेय
हिन्दी विभाग,
दयानन्द स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
आज़मगढ़ (उत्तर प्रदेश)

हिन्दी कविता : आधुनिकता का आरम्भ बिन्दु

(भारतेन्दु की कविताएँ)

भारतेन्दु युग :

भारतेन्दु युग से हिन्दी साहित्य में आधुनिक युग का सूत्रपात हुआ। भारतेन्दु-युग खड़ी बोली गद्य का प्रवर्तन काल था[1]। भारतेन्दु-युग का महत्त्व दो कारणों से है—पहला तो यह कि इस युग में खड़ी बोली गद्य का श्रीगणेश हुआ। गद्य की शैलियों में निबन्ध के माध्यम से आधुनिकता का उदय हुआ। दूसरा कारण यह कि भारतेन्दु युग में साहित्य का स्वरूप परिवर्तित हुआ। साहित्य के प्रति लेखकों का दृष्टिकोण बदला। परिणामतः साहित्य के उद्देश्य में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। लेखकों द्वारा साहित्य के माध्यम से आधुनिक बोध को रूपायित करने—यथार्थ जीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करने के बहुविध प्रयास हुए। खड़ी बोली गद्य और गद्य में भी निबन्ध का विकास, इस युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानी जाती है। जहां तक इस युग की कविता का प्रश्न है, उसका भी कम महत्व नहीं है। इस युग की कविता में भी आधुनिक बोध का स्पष्ट चित्र मिल जाता है। परन्तु कविता की एक सीमा अवश्य थी—और वह यह कि गद्य के क्षेत्र में तो लेखकों ने खड़ी बोली को जरूर अपनाया, किन्तु कविता के क्षेत्र से ब्रजभाषा को एक बारगी हटा नहीं दिया गया। उस युग के लेखकों का यह विचार था कि कविता से ब्रजभाषा को हटा देने का मतलब होगा—अपनी परम्परा और संस्कृति से कट जाना[2]। परम्परा और संस्कृति से जुड़े रहने के तर्क के अलावा उस युग की भाषा विषयक कुछ मान्यताएँ भी थीं। स्वयं भारतेन्दु ने भाषा को तीन कोटियों में बांटा था—(१) घर में बोलने की भाषा (२) कविता की भाषा और (३) लिखने की भाषा[3] (अर्थात् गद्य की (भाषा)। भाषा-निर्माण के आरंभिक काल में इस प्रकार के वर्गीकरण को असंगत नहीं ठहराया जा सकता है और न तो यही कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग के लेखकों का दृष्टिकोण अनुत्तरदायित्वपूर्ण था। इसके साथ यह भी सही है कि भारतेन्दु ने, और उस युग के लेखकों ने इस बात को अच्छी तरह महसूस किया था कि गद्य और कविता में दो भाषाओं का प्रयोग बहुत तर्क सम्मत और विवेकपूर्ण नहीं है। स्वयं भारतेन्दु ने कविता में खड़ी बोली का प्रयोग आरम्भ किया था। 'मन्द मन्द आवे देखो प्रात समीरन', वाली उनकी कविता सन् १८७४ की 'हरिश्चन्द्र चंद्रिका' में छपी थी[4]।' भारतेन्दु ने पहली सितम्बर सन् १८८१ के 'भारतमित्र' में[5] खड़ी बोली में

१. रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास (नागरी प्रचारिणी सभा काशी, संवत् २०२२ वि०) पृष्ठ-४२९-३०।

२. डॉ० रामविलास शर्मा—भारतेन्दु-युग (विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड आगरा, चतुर्थ संस्करण, १९७३)—पृष्ठ, १४९।

३. भारतेन्दु लिखित 'हिन्दी भाषा' निबन्ध (भारतेन्दु के निबन्ध, संपादक, डॉ० केसरी नारायण शुक्ल, नंद किशोर एण्ड संस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण) पृष्ठ ६१।

४. डॉ० रामविलास शर्मा–भारतेन्दु युग—पृष्ठ १४६।

५. वही—पृष्ठ १४३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखे गये छन्दों के साथ इस विषय में सर्वसाधारण की सम्मति जानने के लिए एक पत्र भी छपाया था। दिसम्बर सन् १८८४ की 'नवोदिता श्री हरिश्चन्द्र चंद्रिका' में उन्होंने खड़ी बोली में लिखे हुए अनेक छन्द प्रकाशित किये थे[१]।'

भारतेन्दु के अतिरिक्त प्रेमघन ने खड़ी बोली में कवितायें लिखीं। अम्बिकादत्त व्यास और श्रीधर पाठक ने भी कविता में खड़ी बोली का प्रयोग किया। भारतेन्दु की मृत्यु के बाद, कविता की भाषा का विषय विवादास्पद बन गया। श्रीधर पाठक और अयोध्या प्रसाद खत्री खड़ी बोली में कविता लिखे जाने का समर्थन कर रहे थे। कविता में ब्रजभाषा के प्रयोग का समर्थन करने वालों में प्रताप नारायण मिश्र और राधाचरण गोस्वामी मुख्य थे[२]। यह इस बात का प्रमाण है कि भारतेन्दु युग के लेखक माध्यम अर्थात् भाषा की उपयुक्तता के प्रति सचेत थे।

कविता के वर्ण्य-विषय के धरातल पर भी इस युग की कविता में एक नये मोड़ की सूचना मिलती है। कुछ प्रमुख लेखकों की काव्य रचनाओं के माध्यम से, हम इस युग की कविता में आधुनिकता का निर्देश करने का प्रयास करेंगे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र :

भारतेन्दु के काव्य को दो कोटियों में विभाजित किया गया है—(१) मध्ययुगानुरूप काव्य : (क) भक्ति सम्बन्धी रचनायें, (ख) रीति शैली की रचनायें (ग) प्राचीन परम्परा के अनुसार अन्य रचनायें, और (२) नवीनोन्मुखी रचनायें[३]।

भारतेन्दु की नवीनोन्मुखी रचनाओं में कुछ राज-भक्ति परक तथा शेष देश-भक्ति परक हैं। इनके अतिरिक्त नाटकों की कुछ कविताओं में भी युगीन यथार्थ का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है।

राजभक्ति परक कविताएँ :

१. 'ड्यूक आॅव एडिनबरा के सन् १८६९ ई० में भारत-शुभागमन के अवसर पर लिखा गया' 'श्री राज-कुमार सुस्वागत पत्र'[४]।

२. 'सन् १८७१ में श्रीमान् प्रिंस आॅफ़ वेल्स के पीड़ित होने पर कविता'[५]।

३. 'मुंह-दिखावनी—राजकुमार श्री ड्यूक आॅव एडिनबरा की नव वधू की'[६]।

४. 'सन् १८७५ ई० में युवराज प्रिंस आॅव वेल्स के भारत-आगमन पर लिखी गयी कविता' 'श्री राजकुमार शुभागमन वर्णन'[७]।'

५. भारत भिक्षा'[८] तथा

६. लार्ड रिपन की प्रशंसा में लिखी गयी कविता 'रिपनाष्टक'[९]।

उपर्युक्त कविताओं में भारतेन्दु ने भाँति-भाँति से अंग्रेजों की प्रशंसा की है, अंग्रेजों और अंग्रेजी शासन के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की है तथा यह भी स्वीकार किया है कि—'ब्रिटिश सुशासित भूमि में आनन्द उमगे जात'[१०]। कवि भारतीयों की दृढ़ राज-भक्ति का परिचय देता है—

'मिथ्या नहीं कुछ याके माहीं।
राजभक्त भारत सम नाहीं'[११]॥

देश-भक्ति परक कविताएँ :

'भारत-वीरत्व' (द्वितीय अफगान युद्ध छिड़ने पर लिखी गयी) शीर्षक कविता में कवि भारतीय वीरों की

१. वही—पृष्ठ १४५।
२. वही—पृष्ठ १४६।
३. डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—पृष्ठ १६८-१८२।

४. भारतेन्दु ग्रन्थावली, दूसरा भाग—पृष्ठ ६२५-६२६।
५. वही—पृष्ठ ६३३।
६. वही—पृष्ट ६७५-६७६।
७. वही—पृष्ठ ६९७-७००।
८. वही—पृष्ठ ७०१-७११।
९. वही—पृष्ठ ८१५-८१७।
१०. वही—पृष्ठ ७०१।
११. वही—पृष्ठ ७११।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वीरता पर गर्व प्रकट करता है, उन्हें उत्साहित करता है और साथ ही राजभक्ति का परिचय देता हुआ कहता है—

"डिसलायल' हिन्दुन कहत कहाँ मूढ़ ते लोग।
दृग भर निरखहिं आज ते राज भक्ति-संजोग[1]।'

अफगान-युद्ध की समाप्ति पर लिखी गयी कविता 'विजय बल्लरी' और 'विजयिनी-विजय पताका या वैजयन्ती' में भी भारतीय वीरों की सराहना की गयी है तथा भारतीयों के हार्दिक उल्लास आदि का चित्रण किया गया है—

'आरजगन को नाम आज सब्ही रखि लीनो।
पुनि भारत को सीस जगत मंह उन्नत कीनो[2]।।'

अफगान युद्ध में भारतीय सैनिकों ने जिस शौर्य का प्रदर्शन किया था उसके प्रतिफलस्वरूप कवि यह आशा करता है कि—

'लिबरल दल बुद्धिमानै शांतिप्रिय अति उदार चित।
पिछली चूक सुधारि अबै करिहै भारत-हित[3]।'

राजभक्ति और देशभक्ति परक कविताओं में अतीत चित्रण :

राजभक्ति और देशभक्ति परक कविताओं में कवि भारत के प्राचीन पुरुषों, नगरों, विद्या-दर्शन, कला-कौशल और विगत वैभव का स्मरण करता है, तथा 'भरे नेत्र अंसुअन जल-धारा'[4] से यह महसूस करता है कि—

'भारत में छायो अंधियारा[5]।

कवि के मन मे अतीत के प्रति सम्मान की भावना है। उसे अपने अतीत पर गर्व है परन्तु जब वह अतीत से वर्तमान दशा की तुलना करता है तब उसका मन एक विचित्र खिन्नता से भर जाता है। उसका कारण यह है कि व्यास, राम तथा कोटि-कोटि ऋषियों की पुण्य भूमि भारत, जो कभी ज्ञान, विद्या तथा दर्शन के क्षेत्र में विश्व का सिरमौर माना जाता था, आज पराभूत तथा दुर्दशा-ग्रस्त है—

'जो भारत जग में रह्यो सबसो उत्तम देस।
ताही भारत में रह्यो अब नहिं सुख को लेस[6]।।

\+ \+ \+

'हाय वहै भारत भुव भारी।
सबही विधि तें भई दुखारी[7]।।

अन्य कविताएँ :

'बकरी-विलाप' शीर्षक कविता में देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिये, वैदिक धर्म के नाम पर की जाने वाली हिंसा, तथा धर्म के क्षेत्र में व्याप्त कुरीतियों पर प्रहार किया गया है—

'धिक् धिक् ऐसे धरम जो हिंसा करत विधान।
धिक् धिक् ऐसो स्वर्ग जो बधकरि मिलत महान[8]।

इसलिए कवि यह स्पष्ट निर्देश देता है कि—

'सब धर्मन सों श्रेष्ठ है परम अहिंसा धर्म[9]।

'नए जमाने की मुकरी' में भारतेन्दु ने नए जमाने की समस्याओं का बड़े विनोदी स्वर में वर्णन किया है। इस कविता में कवि का कौशल देखते ही बनता है। बड़ी गम्भीर समस्याओं को बड़े हल्के ढंग से प्रस्तुत किया गया है परन्तु समस्याओं की भीषणता पर जरा भी आंच नहीं आने पायी है। अंग्रेजी राज्य में भारतीयों का अनेक प्रकार से आर्थिक शोषण कविता का मुख्य विषय है। कविता में बेरोजगारी के चित्रण के अलावा, शोषण के विभिन्न एजेन्ट्स—चुंगी, अमला, पुलिस, अंग्रेजों तथा कानून पर व्यंग्य किया गया है। अंग्रेज और कानून पर व्यंग्य देखिए—

'भीतर भीतर सब रस चूसै।
हंसि हंसि कै तन मन धन मूसै।

१. वही—पृष्ठ ७६५।
२. वही—पृष्ठ ८०१।
३. वही—पृष्ठ ७९६।
४. वही—पृष्ठ ७०७।
५. वही—पृष्ठ ७०७।
६. वही—पृष्ठ ८०२।
७. वही—पृष्ठ ८०३।
८. वही—पृष्ठ ६९२।
९. वही—पृष्ठ ६९२।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाहिर बातन में अति तेज।
क्यों सखि सज्जन नहीं अँगरेज[१]॥
नई नई नित तान सुनावै।
अपने जाल में जगत फंसावै॥
नित नित हमें करै बल सून।
क्यों सखि सज्जन नहिं कानून[२]।

'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान' शीर्षक कविता भारतेन्दु के हिन्दी भाषा-विषयक प्रेम की परिचायक है। कवि का भाषा-विषयक दृष्टिकोण बहुत ही व्यापक है। कवि भाषा की उन्नति को सब प्रकार की उन्नति का मूल मानता है। कवि की दृष्टि में, हिन्दी की उन्नति देश की आशाओं-आकांक्षाओं से जुड़ी हुई है—

'निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को सूल[३]।

इसलिए कवि पुकार पुकार कर अपने देशवासियों से कहता है कि विदेशी वस्तुओं और विदेशी बुद्धि की आशा छोड़ो, कोरी बातों से काम नहीं चलने वाला है, आलस्य त्यागकर, एक जुट होकर—

'निज भाषा, निज धरम, निज मान करम व्यौहार।
सबै बढ़ावहु बेगि मिलि कहत पुकार पुकार[४]।'

नाटकों की कविताएँ :

सच्चा वैष्णव होने के नाते भारतेन्दु जीवन में सादगी, सदाचरण तथा खान-पान की शुद्धता के पक्षधर थे। मद्य, मांस के सेवन तथा आडम्बर प्रधान धर्म पर उन्होंने खुल कर प्रहार किया। विभिन्न वर्णों के लोग जिस प्रकार विधर्मियों की देखा-देखी स्वधर्म का परित्याग करते जा रहे थे, 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में उसका उपहास किया गया है—

१. वही—पृष्ठ ८११।
२. वही—पृष्ठ ८१२।
३. वही—पृष्ठ ७३१।
४. वही—पृष्ठ ७३८।

'अरे तिलभर मछरी खाइबो, कोटि गऊ को दान।
ते नर सीधे जात हैं सुरपुर बैठि विमान[५]।

मदिरा पान और ब्रह्म-समाज पर व्यंग का उदाहरण इस प्रकार है—

'मदिरा ही के पान हित, हिन्दू धर्महिं छोड़ि।
बहुत लोग ब्राह्मो बनत, निजकुल सों मुख मोड़ि[६]॥

उपर्युक्त उदाहरणों में हास्य और व्यंग्य का पैनापन दर्शनीय है। भारतेन्दु धर्म को शुद्ध और उदात्त रूप में प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। देशभक्ति तथा देशवासियों के प्रति कवि के मन में विद्यमान कल्याण कामना का प्रमाण निम्नलिखित पंक्ति में मिल जाता है—

'छुटै राजकर मेघ समय पै जल बरसावै[७]।'

'प्रेम जोगिनी' नाटिका में परदेसी द्वारा गाया हुआ गीत यथार्थ चित्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इस लम्बे वर्णनात्मक गीत में काशी की अधोगति का यथा तथ्य चित्रण किया गया है। छोटे-छोटे विवरणों (डीटेल्स) के माध्यम से कवि ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है। बोल-चाल के शब्दों के प्रयोग के कारण कविता में अतिरिक्त सहजता और सजीवता आ गयी है। एक उदाहरण पर्याप्त होगा—

'मैली गली भरी कतवारन सड़ी चमारिन पासी।
नीचे नलसे बदबू उबलै मनो नरक चौरासी।
कुत्ते भूंकत काटन दौड़े सड़क सांड़ सों नासी।
दौड़े बंदर बने मुछंदर कूदें चढ़े अगासी[८]॥

साधारण जनता को दिनदहाड़े लूटने वाले दलाल, दूकानदार, पुलिस और अमला भी कवि की पैनी निगाह से बच नहीं पाए हैं—

'सौदा लेत दलालों नोचें देकर लासालासी।
माल लिए पर दुकनदार नोचें कपड़ा देरासी॥

५. भारतेन्दु ग्रन्थावली—पहला खण्ड, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी : प्रथम संस्करण, संवत् २०२७—पृष्ठ १७।
६. वही—पृष्ठ १८।
७. वही—पृष्ठ २७।
८. वही—पृष्ठ २१०।

CC-0. In Public Domain: Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चोरी भये पर पुलिस नोचें हाथ गले बिच दांसी।
गए कचहरी अमला नोचें मोचि बनावैं घासी[१]॥

'नील देवी' में देवता पात्र द्वारा गाई हुई लावनी में कवि ने भारत की युगीन दयनीय तथा पतित अवस्था का मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किया है। देश की दुरवस्था के कारण हैं—विदेशी आक्रमण, विधर्मियों का कुप्रभाव तथा भारतवासियों की उद्यमहीनता, पारस्परिक कलह, वैमनस्य और स्वधर्म विमुखता। कवि निराश हो उठता है—

'अब तजहु बीर बर भारत की सब आसा।
अब सुख सूरज को उदय नहीं इत ह्वै है।
सो दिन फिर इत सपनेहुं नहिं ऐहैं॥
अपनी वस्तुन कहं लखिहैं सबहि पराई।
निज चाल छोड़ि गहिहैं औरन की धाई[२]॥

कवि भगवान से अश्रु-विगलित स्वरों में देश की पतित अवस्था का निवेदन करता है तथा डूबते हुए देश को (अपने को नहीं) बचा लेने की प्रार्थना करता है—

'कहां करुनानिधि केसव सोए।
जगत नेकुन यदपि बहुत विधि भारतवासी रोए॥
सब विधि बूड़त लखि निजदेसहि लेहु न अबहुं बचाई[३]॥

'भारत दुर्दशा' की कविताओं में भी भारतेन्दु बार-बार अतीत का स्मरण करते हैं। भारत की दुर्दशा उनसे देखते नहीं बनती है। वे यह अनुभव करते हैं कि जिस देश ने सबसे पहले सभ्यता के सूर्य का दर्शन किया था, जो संसार के देशों में अग्रणी था, जिस देश की धरती ने एक से एक वीर, ज्ञानी, दानी पुरुषों को जन्म दिया उसी देश में सर्वत्र मूढ़ता, कलह और अविद्या विद्यमान है। 'बुद्धि बल विद्या धन[४]' आदि के विनाश पर भारतेन्दु पश्चाताप करते हैं। पश्चाताप का कारण यह भी है कि अंग्रेजों के राज्य में सुख-सुविधा के विभिन्न साधनों का विकास अवश्य हुआ है, परन्तु भारतीयों का भाँति-भाँति से शोषण किया जा रहा है। भारतेन्दु ने बार-बार टैक्स के विरुद्ध अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। राजनीतिक पराधीनता से अधिक खलने वाली है आर्थिक पराधीनता। आर्थिक शोषण तथा समाज की विभिन्न समस्याओं का भारतेन्दु ने यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है—

'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पैधन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहूं पै महंगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दूने दुःख ईस देत हा हारी॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा भारत दुर्दशा न देखी जाई[५]॥

'भारत दुर्दशा' में ही सत्यानाश फौजदार के गीत के माध्यम से धर्म के नाम पर, समाज में प्रचलित कतिपय कुरीतियों का वर्णन किया गया है। भारतेन्दु ने इस गीत में बाल-विवाह, विभिन्न देवी-देवताओं, भूत-प्रेतादि की पूजा का तथा कूपमंडूक-प्रवृत्ति का विरोध किया है, विधवा विवाह तथा विदेश गमन का समर्थन किया है। वस्तुतः यहाँ हमें भारतेन्दु के सुधारक रूप का दर्शन होता है[६]। वे कामना करते हैं कि भारतवासी जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रगति करें। उनके विचार में, अंग्रेजों के सम्पर्क में यदि भारतवासी अभीष्ट प्रगति नहीं कर सके, तो यह उनका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। इसलिए वे कहते हैं—

'अंगरेजहु को राज पाइकै रहे कूढ़ के कूढ़।
स्वारथ पर विभिन्न मति भूले हिंदू सब ह्वै मूढ़[७]॥

'अंधेर-नगरी' में चना जोर गरम बेचने वाले घासी राम के गीत में व्यंग्यात्मक ढंग से टैक्स और आर्थिक शोषण का सजीव चित्रण किया गया है—'चना हाकिम सब जो खाते, सब पर दूना टिकस लगाते[८]।' याचक बाला के गीत में व्यंग्य का धरातल अपेक्षाकृत विस्तृत है। समाज के विभिन्न वर्गों के ऊपर व्यंग्य किया है और

१. वही—पृष्ठ २१०।
२. वही—पृष्ठ ११५।
३. वही—पृष्ठ १२०-१२१।
४. वही—पृष्ठ १३४।
५. वही—पृष्ठ १३४।
६. वही—पृष्ठ १३६।
७. वही—पृष्ठ १४८।
८. वही—पृष्ठ १६६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकारान्तर से भारतीय समाज की दुर्दशाग्रस्त अवस्था का चित्रण किया गया है—

'चूरन जबसे हिन्द में आया, इसका धनबल सभी घटाया[1]।' व्यंग्य के पात्र हैं—रिश्वतखोर सरकारी कर्मचारी, जमाहज़्म कर जाने वाले महाजन, अजीरन रोग ग्रस्त लाला लोग और सबके ऊपर—

'चूरन साहेब लोग जो खाता।
सारा हिन्द हजम कर जाता ।।
चूरन पुलिस वाले खाते।
सब कानून हजम कर जाते[2] ।।

कवि की सबसे बड़ी अभिलाषा है कि भारतवासी अपनी दासता की वृत्ति और आलस्य का त्याग कर, एकता स्थापित करें, परस्पर सहयोग तथा उद्योग के बल पर नूतन वैज्ञानिक उपलब्धियों से लाभान्वित हों एवं चतुर्दिक उन्नति करें[3]।

प्रकृति चित्रण में नवीनता :

भारतेन्दु प्रकृति के कवि नहीं हैं,[4] फिर भी 'श्रीचन्द्रावली' के यमुना-वर्णन[5] तथा 'सत्य हरिश्चन्द्र' के गंगा वर्णन का[6] महत्त्व इस बात में है कि भारतेन्दु ने रीतिकालीन प्रकृति चित्रण की परिपाटी से हट कर, उपर्युक्त प्रसंगों में, प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण करने का प्रयास किया, हालांकि ये वर्णन अलंकारों के बोझ से मुक्त नहीं हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु प्रगतिशील विचारों के कवि थे उन्होंने पूर्ववर्ती काव्य-परम्परा तथा रूढ़ियों का निर्वाह ज़रूर किया है परन्तु युग धर्म को पहचानने की भी उनमें विलक्षण क्षमता थी। अतीत और परम्परा का उन्होंने सम्मान किया, परम्परा तथा विगत से प्रेरणा ग्रहण करने की आवश्यकता पर बल दिया, परन्तु परम्परा के अन्धानुसरण को उन्होंने कभी प्रश्रय नहीं दिया। वर्तमान के प्रति उन्होंने सतर्क दृष्टि का परिचय दिया। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने समय की विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों और समस्याओं का बड़ी ईमानदारी और निर्भीकता के साथ कविता में भी चित्रण किया है। सच्चे देशभक्त और समाज-सुधारक के रूप में उन्होंने साहित्य और समाज को एक नयी दिशा दी। पराधीन देश के जन-मानस को झकझोर कर, उन्होंने नयी चेतना का शंखनाद फूंका। भारतेन्दु को उच्चकोटि का विचारक मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। उनका यह सुनिश्चित मत था कि जब तक जनता को आर्थिक कठिनाइयों से छुटकारा नहीं मिल जाता तब तक सुधार कार्यक्रम सफल नहीं हो सकते। इसलिए, बार-बार उन्होंने महंगी, बेकारी, टैक्स और भ्रष्टाचार के खिलाफ आवाज उठाई, तथा उद्योग-धन्धों की तरक्की पर बल दिया। भारतेन्दु के पास आधुनिक दृष्टि थी, इसमें संदेह नहीं और भारतेन्दु की कविताओं में आधुनिकता की अभिव्यक्ति, समसामयिकता और देश-भक्ति के धरातल पर, तथा यथार्थ-चित्रण की प्रवृत्ति में एवं अपने परिवेश को बदलने की सजग चेष्टा में, हुई है।

भाषा :

यह निर्विवाद सत्य है कि भारतेन्दु ने बहुत पहले से चले आते हुए भाषा-विषयक विवाद को अपने स्पष्ट चिन्तन तथा अपनी दूरदर्शिता से शान्त किया। भाषा को उन्होंने स्थिरता प्रदान की। भाषा के प्रति उनका दृष्टिकोण नितान्त स्वस्थ और संतुलित था। जहाँ तक काव्य भाषा का प्रश्न है, यह कहा जा चुका है कि विशेष कारणों से भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों ने ब्रज भाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में ग्रहण किया। स्वयं भारतेन्दु के अनुसार खड़ी बोली की कविता नीरस और भोंड़ी होती

१. वही—पृष्ठ १७०।
२. वही—पृष्ठ १७०।
३. वही—पृष्ठ ४६८—(मुद्राराक्षस)
४. ब्रजरत्न दास—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—पृष्ठ २१९-२२०।
५. भारतेन्दु ग्रंथावली—पहला खण्ड—पृष्ठ ८५-८७।
६. वही—पृष्ठ २७५।

CC-0. In Public Domain: Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है[1], हालांकि भारतेन्दु ने कविता में भी खड़ी बोली का प्रयोग किया था[2], परन्तु खड़ी बोली की कविता उन्हें जंची नहीं। अतः काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग होता रहा। जिस प्रकार भारतेन्दु ने साहित्य का यथार्थ जीवन और नूतन विचार धारा से मेल कराया, उसी प्रकार ब्रजभाषा को भी उन्होंने अपनी प्रतिभा के जीवंत स्पर्श से सबल और युगीन यथार्थ को वहन करने में सक्षम बनाया। उनके हाथों ब्रजभाषा निखर उठी तथा ब्रजभाषा के माध्यम से आधुनिक युग की समस्याओं की सफल अभिव्यक्ति संभव हो सकी[3]।

---

१. भारतेन्दु लिखित 'हिन्दी भाषा' निबन्ध (भारतेन्दु के निबन्ध, संपादक डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, नन्दकिशोर एंड संस, वाराणसी, द्वितीय संस्करण) —पृष्ठ ६३।

२. डॉ० लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, साहित्य भवन, प्रा० लि० इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, १९६५)—पृष्ठ २०४।

३. वही—पृष्ठ २०६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरेन्द्र गुप्त
सपरून, सोलन
(हिमाचल प्रदेश)

कबीर और तुलसी का समन्वयात्मक रूप—एक तुलनात्मक दृष्टि

'समन्वय' का शाब्दिक अर्थ है भलीभाँति क्रमयोजना। अँग्रेजी के Equilibrium को समन्वय का पर्यायवाची भी कहा जा सकता है। पर साहित्य में 'समन्वय' अपने हूबहू अर्थ में प्रयुक्त न होकर सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दो विरोधी तत्वों में उनकी विरोधी भावना को समाप्त कराते हुए साम्यता लाना या दो विरोधी पक्षों को ऐसे धरातल पर ले आना जहाँ दोनों एक हो जाएँ, वह ही समन्वयवाद है।

कबीर और तुलसी हिन्दी साहित्य के ऐसे समय में अवतरित हुए जिसे हिन्दी का स्वर्ण युग कहा गया। उस समय में रचा गया साहित्य आज भी अपने समक्ष किसी को ठहरने नहीं देता। उस समय के कवियों का जन्म परिस्थितियों के परिवेश में हुआ। यह बात तो ठीक है कि दोनों कवि मुसलमानों के शासनयुग में हुए परन्तु परिस्थितियाँ जितनी कबीर के समय में प्रतिकूल थीं उतनी तुलसी के समय में नहीं। कबीर के समय में अनेक वाद चल रहे थे। स्वामी मध्वाचार्य जी ने द्वैतवाद सम्प्रदाय चलाया। नाथ सम्प्रदाय के रमत योगी घट के भीतर चक्रों, सहस्रदल कमल, इला, पिंगला, नाड़ियों इत्यादि की ओर संकेत करने वाली रहस्यमयी वाणियाँ सुनाकर जनता पर धाक जमा रहे थे। साधारण जनता को बाह्य विधि-विधान, तीर्थ स्थानों के झमेलों में डाल कर वज्रयानी सिद्ध एवं नाथ पंथी उल्टे राह डाल रहे थे। संक्षेप में जिन दिनों कबीर का आविर्भाव हुआ सभी लोग बाह्याडम्बरों के माया जाल में आबद्ध थे। चारों ओर असत्य और मिथ्यावाद के बादल छाए हुए थे। सभी धर्म अपनी-अपनी बाँसुरी पर अलग-अलग से राग अलाप रहे थे। उस समय कबीर ने अपने बलिष्ठ व्यक्तित्व से, अपने तेज से, बिखरी जनता को इकट्ठा कर उन्हें एकता के सूत्र में पिरोने का प्रयास किया। कबीर का समय सम्वत् १४५५ से १५७५ एवं तुलसी का समय १५५४ से १६८० सम्वत् माना गया है। कबीर के समय में जनता त्रसित एवं भयभीत थी, यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि मुसलमानों के अत्याचारों से जब देवी देवता भी अपनी रक्षा नहीं कर सके तो जनता की तो बात ही क्या। जनता पर से देवी-देवताओं का विश्वास उठ-सा चुका था, इसलिए वह बौखलाई सी, घबराई-सी व्यर्थ के निःसार संप्रदायों के चमत्कारों से प्रभावित होकर कीचड़ में धंसती जा रही थी। उधर तुलसी के समय में, जो अकबर का समय था, हिंदू एवं मुसलमानों में सामञ्जस्य हो चला था। मुसलमानों का अत्याचार कम हो रहा था। कबीर का युग पूर्णतः अशान्ति का युग था, तो तुलसीदास जी का उससे कम। वस्तुतः कबीर ने अपने शक्तिशाली व्यक्तित्व से जनता के हृदय को समतल बनाकर तुलसी के लिए पृष्ठभूमि तैयार की।

तुलसी और कबीर में दोनों में से किसका अत्याधिक रूप समन्वयवादी के रूप में आया है यह हमें उनके साहित्य के परिप्रेक्ष्य में मूल्यांकित करना होगा।

तुलसी के समन्वय का स्वरूप :—

तुलसीदास जी की लब्धप्रतिष्ठित कृति 'रामचरितमानस' हिन्दी साहित्य की एक अनुपम रचना है यह कहने की बात नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' के माध्यम से समन्वयवादी विचारधारा प्रस्तुत की।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस युग में शिव और वैष्णव-भक्तों में वैर-वैमनस्य चल रहा था। तुलसी जी ने उसे समाप्त करने हेतु श्री राम के मुख से कहलवाया—

'शिव द्रोही मम दास कहावा,
सो नर सपनेहुं मोहि न पावा।
(रामचरितमानस)

दूसरी ओर शिव के मुख से कहलवाया—

सोइ मम इष्ट देव रघुवीरा
सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।
(रामचरितमानस)

अस्तु उन्होंने शिव भक्तों और वैष्णवों में वैर वैमनस्य को समाप्त कर समन्वयवाद के पुनीत स्रोत में स्नान करवाया।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने ज्ञान, भक्ति एवं कर्म में अत्यंत सुन्दर ढंग से समन्वय करवाया। उन दिनों ज्ञानियों एवं भक्तों में संघर्ष चलता था, दूसरे शब्दों में इसे ही निर्गुण एवं सगुण का समन्वय भी कहा जा सकता है। भगवान कृष्ण ने भी गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय करवाया—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनेव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।[1]

अर्थात् जो मुझ में समस्तकर्मों का समन्वय करके मेरे परायण हुए अनन्य योग से मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं मृत्यु-प्रधान संसार-समुद्र से उद्धार कर देता हूं।

अस्तु, तुलसी जी ने भी ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय यह कहकर करवाया-'भगतिहि ज्ञानहि नहि कुछ भेदा'।

(रामचरितमानस)

संक्षेप में तुलसी जी ने शिव और विष्णु के भक्तों में समन्वय करवाने के साथ-साथ ज्ञान, भक्ति एवं कर्म का, सगुण-निर्गुण, और नर-नारायण में भी समन्वय करवाया। राजा-प्रजा एवं धर्म और राजनीति, द्विज और शूद्र तथा पारिवारिक क्षेत्र में भी समन्वय करवाया।

कबीर का समन्वयवादी रूप :—

कबीर ने एक ऐसे ईश्वर की स्थापना की जो सभी धर्मों के लिए था। उन्होंने ईश्वर का ऐसा रूप स्थापित किया जिससे सब धर्म एक हो जाएँ—

'जाके मुख माथा नहीं ऐसा तत्व अनूप।'[2]

उनके ब्रह्म का स्वरूप ऐसा ही था। उन्होंने कहा—वह ब्रह्म घट-घट व्यापी है।[3] कबीर का ब्रह्म एक निर्वचनीय तत्व है, वह केवल अनुभूति जन्य है। कहने सुनने की चीज़ नहीं। उसका आकार नहीं। वह पाप-पुण्य, पुराणों, शास्त्रों से भी परे है। यह बात तो हम स्वीकार करते हैं कि उनके भगवान, उनके ब्रह्म का रूप निराकार है। उन्हें न तो नमाज़ पढ़नी पड़ती है, न पूजा करनी पड़ती है, वे तो हृदय में ही भगवान की भक्ति कर लेते हैं।[4] अतः कबीर की निर्गुणवादी विचार-धारा के साथ-साथ उनकी सगुण विचारधारा भी अभिव्यक्त हुई है। वह एक जगह भगवान का पूजन करते प्रतीत होते हैं।

भजि नारदादि सुकादि वंदित चरन पंकज भामिनी
भजि भजंसि भूषण पिया मनोहर देव-देव सिरोवनी।
बुधि नाभि चन्दन चरचिता तन रिदा मंदिर भीतरा
राम राजसि नैन वानी सुजान सुन्दर सुन्दरा
बहु पाप परवत छेदना भौ ताप दुरित निवारणा
कहै कबीर गोबिन्द भज परमानन्द वंदित कारणा।।[5]

अतः कहने की बात नहीं कि कबीर ने भगवान के केवल निर्गुण रूप को ही अपनाया। भक्ति का इतना सशक्त उदाहरण उनके सगुण रूप को बलिष्ठ बनाता है। उन्होंने एक और स्थान पर अपने भगवान को कृपा का

१. श्रीमद्भागवत गीता—अध्याय द्वादश, श्लोक ६ और ७

२. डॉ० श्यामसुन्दर दास—कबीर संग्रह—पृ० ६४
३. वही, पृ० १०५
४. वही, पृ० २००
५. डा० श्यामसुन्दर दास—कबीर ग्रंथावली—पृ० २१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सागर माना है, उसे करुणामय स्वीकार किया है।[1]

यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि कबीर निर्गुण एवं सगुण दोनों का विरोध समाप्त करना चाहते थे। इसीलिए तो जहाँ एक ओर निर्गुण पर बल देते हैं, वहां राम पर भी। 'निर्गुण राम, निर्गुण राम जपो रे भाई।'[2] हमारे विचार से जब कबीर ऐसा कहते हैं तो इसका अर्थ है कि राम के रूप को अपने हृदय में समाहित कर उसकी उपासना करो। यह ठीक है कि वह मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे, परन्तु जब वह राम का नाम लेते हैं, जब वह हरि का नाम लेते हैं तो उनका सगुण रूप उभर आता है। 'अब मोहि राम भरोसो तेरो, और कौन का करौं निहारा'।[3] यही तो समन्वय की भावना थी जिसे कि व्यावहारिक रूप दिया कबीर जी ने।

उन्होंने निर्गुण एवं सगुण में तो समन्वय करवाया ही पर इसके साथ-साथ उस समय प्रचलित सभी धर्मों में समन्वय करवा दिया। उन्होंने एक साथ ब्रह्म का गुणगान किया, राम की महिमा गाई,[4] हरि की सुध न भुलाई[5], रहीम को त्यागा नहीं।[6] उन्होंने सभी धर्मों को एक कर दिया। सभी भक्तों को यह कह कर "साहब मेरा एक है दूजा कहा न जाए। साहब दूजा जो कहे साहब खरा रिसाए।" एक और जगह उन्होंने कहा है :—

"हम तो एक एक करि जाना
दोइ कहै तिनही को दोजग, जिन नाहिन पहचाना।
एकै पवन एक ही पानी एक जोति संसारा
एकहि खाक घड़े सब भांड़े एकहि सिरजनहारा"[7]

उन्होंने जहाँ एक ओर नाथपंथियों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया,[8] वहाँ दूसरी ओर निरंजनी साधकों की बात भी अत्यन्त सुन्दर ढंग से कही।[9] उन्होंने जैन एवं बौद्ध[10] भक्ति के ढंग की आलोचना की है तो वज्रयानी और सहजयानी सिद्धान्तों का अनुकरण भी किया है।[11] अतः कबीर ने सभी धर्मों को एक करने का अद्वितीय कार्य किया। उन्होंने सभी के लिए एक मन्त्र दिया और वह लिया सूफी सन्तों से, सूफी सन्तों से कहिए या प्रेम मार्गी सन्तों से। उन्होंने सभी को यह मन्त्र दिया। परमात्मा से मिला जा सकता है, केवल प्रेम के आधार पर।

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं
सीस धरे भुई धरे तब पैठे घर माहि॥[12]

\+ + + +

कबीर बादल प्रेम का, हम पर बरसा आई
अंतरि भीगी आत्मा, हरी भई बनराई।[13]

कबीर ने ज्ञान एवं भक्ति का अभूतपूर्व समन्वय किया। उन्होंने ज्ञान रूपी प्रकाश से माया रूपी मीठी खांड को समाप्त करने को कहा[14]। उन्होंने माया को ऐसा वृक्ष बताया है जिसकी दुख एवं सन्ताप शाखाएँ हैं[15]। अतः माया को उखाड़ने के लिए ज्ञान का सहारा लिया। उन्होंने ब्रह्म को घट-घट व्यापी कहा है। उन्होंने ब्रह्म के निराकार रूप को अपनाया। इसके साथ-साथ भक्ति पर भी जोर दिया। उनके काव्य में नारदभक्ति सूत्र के ग्यारह भेद भलीभाँति परिलक्षित हीते हैं। नारद-भक्ति सूत्र में ग्यारह भेद इस प्रकार हैं :—

गुण माहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति
स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, संख्यासक्ति,
कांतासक्ति, तन्मयतासक्ति, परमविरहासक्ति

१. डा० श्यामसुन्दर दास-कबीर ग्रंथावली पृ० २६२
२. ,, वही, वही, पृ० १०६
३. ,, वही, वही, पृ० १२४
४. ,, वही, वही, पृ० १२५
५. ,, वही, वही, पृ० ११०
६. ,, वही, वही, पृ० ५६
७. डा० श्यामसुन्दर दास-कबीर संग्रह, पृ० १०५
८. ,, वही, वही, पृ० १५५
९. डा० श्यामसुन्दर दास-कबीर संग्रह—पृ० ४, ८८
१०. भूखे भगति न कीजै अपनी माला लीजैः (कबीर ग्रन्थावली, परिशिष्ट)
११. डा० श्यामसुन्दर दास-कबीर संग्रह—पृ० ८२, ३२८, ४१
१२. ,, वही, ,, पृ० ६८
१३. ,, वही, ,, पृ० ४
१४. ,, वही, ,, पृ० १६६
१५. ,, वही, ,, पृ० ३४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूपा एकधाप्येकादशधा भवति।[1]

उनके काव्य में गुणमाहात्म्यासक्ति[2] रूपासक्ति[3] पूजासक्ति[4] स्मरणासक्ति[5] दास्यासक्ति[6] कान्तासक्ति[7] वात्सल्यासक्ति[8] तन्मयतासक्ति[9] परमविरहासक्ति[10] आत्मनिवेदन एवं संख्यासक्ति[11] सभी रूप उपलब्ध हैं। वह एक जगह कहते हैं "भूखे भगति न कीजै, यह माला अपनी लीजै।[12] फिर एक जगह कहा है "मन मारे बिन भगति न होई।[13] फिर उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि हरि दिल की शुद्धि के बिना प्राप्त नहीं हो सकते।[14] उन्होंने राम की भक्ति ही को मणि माना है।

राम मणि राम मणि राम चिन्तामणि
भाग बड़े पायो छाड़े जिन।
असन्त संगति जिन जाई रे भुलाई
साधु संगति मिली हरि गुण गाई॥[15]

हरि का गुणगान करने के लिए साधु संगति का होना आवश्यक है। साधु संगति के बिना राम रूपी मणि नहीं मिल सकती।

१. नारद भक्ति सूत्र, सूत्र ८२
२. कबीर ग्रंथावली संग्रह - डा० श्यामसुन्दर दास पृ० ३२६,
३. वही, वही, पृ० २०३
४. जो पूजा हरि नहि भावै, सो पूजन हार चढ़ावे
जेहि पूजा हरि मन भावै सो पूजनहार न जानै
५. कबीर ग्रंथावली संग्रह, डा० श्यामसुन्दर दास पृ० ५
६. वही, वही, पृ० २६५
७. वही, वही, पृ० ५
८. हरि जननी में बालक तोरा
९. कबीर ग्रंथावली संग्रह, डा० श्यामसुन्दरदास पृ० २०७
१०. वही, वही, पृ० १९२, १४, १२७
११. वही, वही, पृ० १९२
१२. वही, वही, पृ० १९२
१३. वही, वही, पृ० ३१४
१४. वही, वही, पृ० ३१५
१५. वही, वही, पृ० १२७

इस प्रकार कबीर ने काव्य में ज्ञान को ही महत्व नहीं दिया बल्कि भक्ति द्वारा ही परमात्मा से मिलने की बात कही। यह मानने में हमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि उनकी दृष्टि सदैव साम्यता पर रही है।

कबीर ने "जाति-पाति पूछे नहीं कोए, हरि को भजे सो हरि का होए" कहकर ऊँच-नीच के भेद को समाप्त किया। कबीर जी ने जगह-जगह इस बात की पुष्टि स्वयं अपने द्वारा यह कहकर ही की "मैं जाति का जुलाहा"।

कबीर जी ने हिंदू और मुसलमानों को कहां तक एक करने का प्रयास किया, यह उनका काव्य प्रमाणित करता है।

"हिन्दू तूरक झूठि कुल दोई
कहै कबीर राम भजहु रे हिन्दू तुरक न कोई।"

उन्होंने जहाँ पंडितों को ललकार कर कहा :—

पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूं पहार,
ताते या चाकी भली पीस खाय संसार।

दूसरी ओर मुसलमानों के लिए :—

कंकर पत्थर जोरि के मस्जिद लई बनाए
ता पर मुल्लां बाग दे, क्या बहरा हुआ खुदाए॥

दोनों को मिलाया भी किस प्रकार प्रेम के धागे से :—

पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ पंडित भया न कोय,
ढाई आखर प्रेम के पढ़े सो पंडित होए।

इस प्रकार कबीर आए ही समन्वयात्मक दृष्टिकोण लेकर। सभी साहित्यकारों ने तुलसी के समन्वयवादी रूप को अधिक सशक्त स्वीकार किया है, परन्तु हमारे विचार से तुलसी से कहीं अधिक समन्वयवादी रूप उभरा है कबीर का।

परिस्थितियों ने कबीर को समन्वयवादी बनने पर मजबूर किया। राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक सभी परिस्थितियों ने कबीर को समन्वयवादी बनाया। उस समय जब कि जनता अनेक धर्मों के जंजाल में फंस रही थी, बाह्य आडम्बरों को महत्व दिया जा रहा था, कबीर ने अपने क्रान्तिकारी रूप से जनता को राह दिखाई। उसे हिन्दू, मुस्लिम दोनों को खरी-खरी सुनानी पड़ी। उधर तुलसी ने प्रेम से शिव भक्तों एवं वैष्णवों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेल करवाने का प्रयास किया।

तुलसी ने रामचरितमानस की रचना 'स्वान्तः सुखाय' की। उसमें तो कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता कि उनका दृष्टिकोण जनता के बीच समन्वय करवाना था। उधर कबीर ने तो जो देखा वही कह दिया। समाज की बुराइयों को उभार जनता में सन्तोष वृत्ति का संचार किया। एक बात और, 'तुलसी का समन्वयवाद व्यावहारिक सिद्ध नहीं हुआ। उसे प्रैक्टिकल रूप (शेप) प्राप्त नहीं हुआ। राजा और प्रजा में रामराज्य के माध्यम से समन्वय की बात कहना, उस समय जबकि राजा मुसलमान हो, महत्व नहीं रखती। उन्होंने रामराज्य, जो आदर्श का प्रतीक है, की स्थापना करते हुए धर्म और राजनीति में समन्वय दिखाया। पर उस समय राजनीति चला रहे थे मुस्लिम राजा। उनका कैसे दूसरे धर्मों से समन्वय हो सकता था। परन्तु कबीर ने तो पंडितों, काज़ियों, एवं साधारण जनता को ललकार-ललकार कर कहा। उन्हें एक करने का प्रयास किया।

कबीर का व्यक्तित्व ज्ञान, भक्ति के सुष्ठु अनुपात से तैयार हुआ था, जबकि तुलसी का समस्त काव्य में भक्त रूप ही मुखरित हुआ है। डॉ० आनन्दप्रकाश दीक्षित लिखते हैं कि कबीर के समन्वयवाद की आधार शिला परमतत्व के केवल नित्य तथा एक रस होने, उस पर आश्रित बहुरूपिणी सृष्टि के अस्थिर होने तथा उसके विविध अंगों के, उनकी मौलिक एकता के कारण एक समान सिद्ध होने पर स्थित है। उनकी वाणी में राम-रहीम, काबा-काशी, मन्दिर-मस्जिद, वेद-कुरान आदि की एकता प्रतिपादित है। इस विषय में उन्हें तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं पड़ी है। कबीर इस बात को भली प्रकार अपना चुके थे कि मानव सृष्टि में बाह्याचारों के अनुसार अनेकता होते हुए भी उनके मूल में एकता है, समता है।"[१] "तुलसीदास जी की सफलता का रहस्य तो उनकी समन्वय भावना ही थी। उनका सारा काव्य ही समन्वय की विराट् चेष्टा है। लोक तथा शास्त्र का समन्वय, गृहस्थ और वैराग्य का समन्वय, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वय, सभी कुछ उनमें मिलेगा।"[२]

डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित यह तो स्वीकार करते हैं कि उनकी वाणी राम-रहीम, काबा-काशी, मन्दिर-मस्जिद, वेद-कुरान में एकता का प्रतिपादन करती है। आश्चर्य है उन्होंने एकता शब्द प्रयुक्त क्यों किया? क्यों नहीं समन्वय शब्द प्रयुक्त किया? वह यह भी कह सकते थे कि उनकी वाणी में राम-रहीम, काबा-काशी, मन्दिर-मस्जिद, वेद-कुरान में एकता का प्रतिपादन करते हुए समन्वय की धारा बहाई। दूसरे शब्दों में डा० दीक्षित जी न मानते हुए भी मान गए हैं कि उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम में समन्वय करवाया। उनका यह कहना कि उन्हें तर्क-वितर्क नहीं करना पड़ा, भी अनुचित ही प्रमाणित होता है। वह तो एक लंगोटी धारण किए अपनी वाणी के तीक्ष्ण शरों से चौक में खड़े होकर जनता के मध्य आए भेदों को छिन्न-भिन्न करते दीख पड़ते हैं। वह कभी पंडित को ललकारते हैं, कभी मुल्ला को, क्या यह तर्क-वितर्क नहीं है। फिर आगे चलकर वह तुलसी को इस लिए समन्वयवादी घोषित करते हैं कि उनमें गृहस्थ और वैराग्य, पांडित्य और अपांडित्य का समन्वयवाद था। उन्होंने केवल मात्र राम के आदर्शों को आत्मतुष्टि के लिए रखा है, उन आदर्शों को यह कह देना कि इनसे तुलसी का समन्वयवादी रूप परिलक्षित होता है, उचित नहीं। अस्तु वह तुलसी को तो समन्वयवादी कहते हैं पर कबीर को जो वास्तविक रूप में समन्वयवादी थे, नहीं मानते।

फिर एक जगह वह लिखते हैं, "कबीर का ज्ञानवाद किस प्रकार जनता में निराशा और पलायन की प्रवृत्ति भर रहा था, इसे तुलसी ने समझा और सगुण राम की प्रतिष्ठा की।"[३] कबीर ने योग मार्ग को अपना कर, ईश्वर को घट के भीतर बता कर जनता के बीच से भक्ति को भगाने का प्रयत्न किया। इसके विपरीत

१. तुलसीदास वस्तु और शिल्प : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित पृ० १७५

२. तुलसीदास वस्तु और शिल्प : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित, पृ० १७६

३. वही, वही, पृ० १७४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुलसी ने निराकार ब्रह्म का प्रदिपादन कर जनता के बीच ला खड़ा किया।"[1] "कबीर ने आध्यात्मिक विचारों या दार्शनिक दृष्टिकोण को प्रकट करने के लिए रहस्य-वाद और उल्टबासियों का सहारा लिया जिसके कारण उनकी वाणी जनता के लिए उपयोगी सिद्ध न हो सकी। परन्तु तुलसी इन झगड़ों से सर्वथा दूर रहे। भक्ति का राज डगर अपना कर उन्होंने अपने काव्य को ऐसी सरल वाणी में कहा कि वह 'सुरसारि सम सबकर हित होई' की उदात्त भावना से भर गया।"[2]

कबीर ज्ञानवादी निर्गुण सन्तों की धारा के प्रवर्तक हुए हैं। यह बात तो ठीक है। पर कबीर जी कोरे ज्ञानवादी नहीं थे, यह हम सशक्त रूप से कह सकते हैं। उन्होंने कुछ भी कहा उसे ज्ञान की कसौटी पर। उन्होंने हरि, राम, रहीम, ब्रह्म के भक्तों, नाथपंथियों, वज्रया-नियों, प्रेम-मार्गियों सभी में जो समन्वय करवाया, उसका एक मात्र आधार था उनकी बुद्धि, उनका ज्ञान, उनका बात कहने का ढंग। हम नहीं समझते डा० दीक्षित किस प्रकार मानते हैं कि जनता में निराशा फैल रही थी। अपितु जनता तो उनके करीब आई। फिर आगे उनका यह कहना कि उन्होंने योगमार्ग अपनाया भी निराधार है। कबीर का घट-घट में ईश्वर को विद्यमान बताने से अर्थ था कि प्राणी का प्राणी से समन्वय। वह उसका अंश प्रत्येक प्राणी, प्रत्येक जीव में मानते हैं, इससे हमें एक-दूसरे से प्यार करना चाहिए। जिस बकरे को कसाई मारते हैं उसमें भी भगवान का अंश विद्यमान रहता है। कबीर ने रहस्यवाद के माध्यम से आत्मा और परमात्मा में समन्वय करवाया। जनता कहीं भी उलझती नहीं दीख पड़ती। उन्होंने सब्दों से लेकर उल्टवासियों को प्रयोग किया, जनता में बात सुनने की चाह अथवा उत्सुकता पैदा करने के लिए। उनका यह कहना कि कबीर की वाणी जनता के लिए उपयोगी सिद्ध न हो सकी, एकदम भ्रमात्मक है। कबीर ने वाणी के बल पर ही तो छिन्न-भिन्न जनता को एक किया। उन्होंने जो भी बात कही जनता के लिए जनता की वाणी में। उधर तुलसी ने तो काव्य की भाषा अपनाई, जिसे पढ़ा लिखा ही समझ सकता है। उस समय कितनी जनता पढ़ी-लिखी होगी यह हम आज भी जान सकते हैं। तुलसी की वाणी उतनी सरल नहीं जितनी कबीर की। कबीर ने जनता की बुराइयों को अपने ही माध्यम से उभारा है, "बुरा जो देखन में चला बुरा न मिल्या कौए"।

कबीर जी ज्ञानी सन्त थे इसीलिए उन्होंने जनता के बीच से माया को उखेड़ने का अभूतपूर्व प्रयास किया। मीरा अपने भगवान से कहती है, "अब तो आन मिलो रे।" उधर कबीर जी भी तो कहते हैं "बाल्हा आव हमारे गेहरे, तुम बिन दुखिया देहरे।" जहाँ मीरा फूलों की सेज तैयार रखती है वहाँ कबीर भी यही बात कहते हैं— "एक मेक ह्वै सेजन सोवै, तब लग कैसा नेह रे।" अस्तु उनका सगुण रूप स्वयं ही झलक जाता है।

ठीक है, तुलसी ने ज्ञान, भक्ति, कर्म का समन्वय करवाया, पर काव्य के माध्यम से। हम ऊपर कह आए हैं कि तुलसी का समन्वयवाद व्यावहारिक नहीं था। कबीर जी ने जहाँ ज्ञान मार्गी, प्रेम मार्गी, राम भक्तों, कृष्ण भक्तों में समन्वय करवाया वहाँ इसके साथ-साथ कर्म में भी। उन्होंने स्वयं सूत कात कर अपना निर्वाह किया—"हम घर सूत तनहि नित ताना"। उन्होंने योगियों की भाँति जंगल में भागने को नहीं कहा। उन्होंने संसार में रहकर भक्ति करने की विधि बताई। उन्होंने अपने हाथों से काम कर अपनी तथा अपने परिवार की उदर-पूर्ति की। अतः ऐसा ज्ञान-भक्ति एवं कर्म का सामञ्जस्य अन्यत्र दुर्लभ है।

ऐसा ज्ञात होता है कि कबीर का जीवन ही समन्वय-वाद के तत्वों से निर्मित था। इसी सन्दर्भ में श्री एस०टी० नरसिंहाचारी के विचार भी अवलोकनीय हैं—कबीर की दृष्टि सदा सामञ्जस्य पर थी इसीलिए उन्होंने सब सम्प्रदायों से उत्तम बातें ग्रहण कीं।"[3] कबीर ने जिस

१. तुलसी दास का वस्तु और शिल्प : डा० आनन्द प्रकाश दीक्षित एवं विश्व प्रसाद, पृ० १७४

२. वही, वही पृ० १७४

३. साहित्य सन्देश, सितम्बर १९५१, एस० टी० नरसिंहाचारी, पृ० ११४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म में जो बुरी बात लगी उसे उभार कर खण्डन किया और जिस धर्म में जो बात ठीक एवं उपयुक्त समझी उसे अपना लिया। इसीलिए उनके काव्य में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं योगियों के नाड़ी चक्र की, कहीं सूफियों के प्रेम तत्व की, कहीं पैगम्बर, कहीं खुदावाद की और कहीं वैष्णव अहिंसावाद की।[१] द्रष्टव्य है, उनकी सामन्जस्य की दृष्टि कहाँ तक गई। "हज हमारी गोमती तीर जहाँ बसहि पीताम्बर पीर।" हज मुसलमानों का तीर्थ कर्म है तो गोमती स्नान हिन्दुओं का। पीताम्बर यदि हिन्दुओं का पूजनीय है तो पीर मुसलमानों का। हज उनकी गोमती का किनारा है जहाँ पर पीताम्बर पीर बसते हैं। अब भी किस में साहस है जो कबीर के समन्वयवादी को ललकार सके।

कबीर का जन्म और मरण दोनों ही स्वाभाविक रूप से समन्वयवाद के परिप्रेक्ष्य में हुए। जन्म लिया विधवा ब्राह्मणी के घर से पला नीरू नाम के मुसलमान जुलाहे के घर।[२] मरने के समय जब हिंदू और मुसलमानों में झगड़ा हुआ तो चादर उठाने पर लाश की जगह केवल हड्डियाँ ही मिलीं। यह स्वत. प्रमाणित है कि कबीर का जन्म ही समन्वय करवाने के लिए हुआ।

कलात्मक रूप से यदि तुलसी ने अपने काव्य में छन्द चौपाई, छप्पय का समन्वय दिखाया तो कबीर ने एक से अधिक भाषाओं में समन्वय करवाया। उन्होंने पंजाबी, पूर्वी, राजस्थानी इत्यादि सभी भाषाओं को मिलाकर प्रयुक्त किया। इसीलिए उनकी भाषा को खिचड़ी भाषा कहा गया। जब वे किसी मुसलमान को कोई बात समझाना चाहते थे तो वह फारसी मिश्रित उर्दू का प्रयोग करते थे। यदि हिन्दू धर्म की चर्चा करते थे तो पंडितों को समझाते समय वे शुद्ध हिन्दी का ही प्रयोग करते थे। पंजाबी ही नहीं उनमें बंगला, मैथिली, राजस्थानी आदि कई और भाषाओं का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।[३]

निष्कर्षत: काव्य के माध्यम से जितना अधिक ओजपूर्ण, शक्तिशाली, बलिष्ठ एवं समन्वयकारी रूप कबीर का उभर सका है उतना गोस्वामी तुलसीदास का नहीं। हमें तुलसीदास जी द्वारा प्रस्तुत किए समन्वयवाद के तरीकों (मीनज) को सर्चलाइट फैंक कर ढूंढना पड़ता है। जबकि कबीर द्वारा प्रस्तुत समन्वयवाद की रेखाएँ अपने आप ही उभरती दीख पड़ती हैं। युग की परिस्थितियों के परिवेश में भी यदि मूल्यांकन किया जाए तो भी स्वत: सिद्ध हो जाता है कि कबीर हुए ही समन्वयवादी दृष्टिकोण को लेकर, उनका तो उद्देश्य ही जनता के बीच अनेक पक्षों को लेकर समन्वय कराना था। उस समय जब कि देश अनेकों सम्प्रदायों का अखाड़ा बना हुआ था, बाह्यचारों एवं छूत-अछूत आदि आडम्बरों का पालन एक प्रकार से नितांत आवश्यक माना जाने लगा था, ऐसे समय में कबीर जन्मा था, पैनी सी दृष्टि लेकर, दार्शनिक की सूक्ष्मबुद्धि एवं कवि का भावुक हृदय और भक्ति की अपार निष्ठा लेकर, और इन सभी के सामञ्जस्य से निर्मित हुआ था उनका समन्वयात्मक रूप। अत: तुलसी ने यदि ज्ञान, भक्ति एवं कर्म में समन्वय किया तो कबीर ने भी। तुलसी ने यदि राजा एवं प्रजा में समन्वय करवाने का प्रयास किया तो कबीर ने ऊँच-नीच में समन्वय किया। तुलसी ने यदि शैव भक्तों एवं वैष्णवों में समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया तो कबीर ने राम भक्त, हरिभक्त, नाथपंथी, वज्रयानी सभी में समन्वय की भावना का उद्रेक किया। अत: अवलोकनीय है डा० विमल कुमार के विचार रामानन्द जी के शिष्यों में कबीर ही एक ऐसे सन्त हुए जिन्होंने ज्ञान-भक्ति, धर्म-जाति, समाज एवं वर्ण और भी विषयों में समन्वय किया।

१. साहित्य सन्देश, सितम्बर १९५१, एस० टी० नरसिंहाचारी पृ० ११४
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ७७
३. कबीर की विचारधारा-डा० त्रिगुणायत, पृ० ३७५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उषा गोयल
२२, टैगोर रोड,
नई दिल्ली-१

गुलेरीजी की कहानियाँ और चरित्र-चित्रण की पद्धतियाँ

चन्द्रधर शर्मा 'गुलेरी' ऐसे लब्ध प्रतिष्ठ कहानीकार हैं जिन्होंने केवल तीन कहानियाँ लिखकर हिन्दी कथा-साहित्य में अमरत्व प्राप्त किया है। इतना कम लिखकर भी 'गुलेरी' जी ने अत्यधिक ख्याति व महत्ता प्राप्त की उसका एक प्रमुख कारण है पात्रों का विश्वसनीय, सम्वेदनात्मक और सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण।

'गुलेरी' जी प्रथम कहानीकार हैं, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती कहानीकारों—रामचन्द्र शुक्ल, देवकीनन्दन खत्री, गहमरी आदि द्वारा प्रस्तुत चमत्कारिक, अलौकिक तथा काल्पनिक चरित्र-चित्रण के स्थान पर मानवीय, सजीव, एवं यथार्थ चरित्र-चित्रण का सूत्रपात कर हिन्दी कहानी को पृथक साहित्य विधा के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

हिन्दी कहानी जिस समय लड़खड़ा रही थी, और चरित्रोद्घाटन के लिए वर्णनात्मक तथा विवरणात्मक आदि स्थूल विधियों का ही प्रयोग होता था, उस समय पूर्व दीप्ति (Flash back) के माध्यम से चरित्र-चित्रण का सफल प्रयोग निस्सन्देह उनकी सूक्ष्म दृष्टि व अप्रतिभ प्रतिभा का परिणाम है।

स्वप्न संघटन, पुनरावलोकन आदि मनोवैज्ञानिक प्रणालियों का प्रयोग 'गुलेरी' जी के लगभग ३० वर्ष पश्चात् जैनेन्द्र और अज्ञेय के यहाँ दृष्टिगत होता है। 'गुलेरी' जी के समकालीन कहानीकार सम्राट प्रेमचन्द और प्रसाद भी इस सम्बन्ध में मौन रहे हैं। इनके सैकड़ों चरित्रों में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जहाँ 'गुलेरी' जी के केवल तीन कहानियों में ही दृष्टव्य है। यदि चरित्र-चित्रण की इस सूक्ष्मता व मनोवैज्ञानिकता को दृष्टिपथ में रख 'उसने कहा था' कहानी पर विचार करें—तो नयी कहानी की शुरुआत को ४० वर्ष पीछे खींच कर यहीं से नयी कहानी की शुरुआत करने में अत्युक्ति नहीं।[1]

'गुलेरी' जी के पात्रों की चित्रपटी बहुत सीमिति हैं। मुख्य रूप से केवल छः पात्र सामने आते हैं—जयदेवशरण और कमला, रघुनाथ, भागवती तथा लहनासिंह और सूबेदारनी। इन सभी चरित्रों के निर्माण के मूल में दो भाव निहित हैं—प्रेम और त्याग। इन्हीं दो भावों का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास और प्रासंगिक रूप में व्यथा, हास, विलास, वीरता, प्रमाद, अन्तर्द्वन्द्व, संघर्ष आदि अनेक चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन लेखक ने सफलता से किया है। चरित्रों की मूर्त व अमूर्त दोनों प्रकार की चारित्रिक विशेषताओं, मनोभावों को प्रकाशित करने के लिए घटना, वर्णन, संकेत, संवाद, विवरण, मनोवैज्ञानिक आदि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष विधियों का सफल प्रयाग किया है। इन सभी चित्रण पद्धतियों में से घटनाओं द्वारा चरित्रांकन उनका सर्वप्रिय माध्यम रहा है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि इनकी कहानियाँ घटना-प्रधान मात्र है अपितु इन कहानियों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें घटना और चरित्र का सुन्दर सामंजस्य हुआ है।[2] 'गुलेरी' जी से पूर्व

१. नामवरसिंह ने निर्मल वर्मा की 'परिन्दे' (१९५६) को नई कहानी की शुरुआत कहा है—कहानी : नई कहानी—पृष्ठ ६५। प्रथम सं० १९६५, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

२. हिन्दी कहानी—डा० प्रकाश दीक्षित—पृष्ठ ११७. प्रथम सं० १९६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहानियों में जहाँ घटना, केवल घटना थी, वर्णन मात्र थे, वहाँ अब घटनाएं सर्वत्र चरित्रोद्‌घाटन में सहायक सिद्ध हुई हैं।

घटनात्मक चरित्र-चित्रण

'उसने कहा था' कहानी के मध्य भाग में जर्मनी युद्ध के रोमांटिक दृश्य की योजना हुई है जिसमें सुदूर देश में सिक्ख छिपकर शत्रु की तोपों की भीषण गोलाबारी में पराक्रम के साथ डटे हुए हैं। ये सारी की सारी घटनाएं लहनासिंह के व्यक्तित्व को प्रस्फुटित करने के लिए नियोजित की गई हैं। लहनासिंह कितना वीर, कर्त्तव्यपरायण, तुरत बुद्धि पूर्ण, और त्यागी है—इसका स्पष्ट परिचय युद्ध की घटनाओं से मिल जाता है—"बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय, फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूं, तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो।[1]

इसके अतिरिक्त—एक-एक अकालिया सिक्ख सवा लाख के बराबर होता है × × बिजली की तरह दोनों हाथों से उल्टी बन्दूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा......।[2] आदि सभी बातें लहनासिंह की वीरता, चातुर्य आदि को उद्‌घाटित करती हैं। वस्तुतः घटनाएं इतनी सोद्देश्य व सजीव हैं, मानों वे ही बोलती हैं पात्रों को बोलना नहीं पड़ता।[3]

'बुद्धू का कांटा' में रघुनाथ और भागवन्ती की अल्हड़ता, एक दूसरे को तंग करने की प्रवृति, लड़की के हास्य, व्यंग्य को व्यक्त करने के लिए यह घटना कितनी सफल बन पड़ी है—"रघुनाथ ने मुँह दूसरी ओर किया, उसने भी वैसा ही किया। रघुनाथ ने दाहिना घुटना उठाकर अपना आसन बदला, वहाँ भी ऐसा ही हुआ...।[4]

परिचयात्मक चरित्र-चित्रण

पात्रों के बाह्य व्यक्तित्व, उनकी वेश-भूषा तथा स्वभाव का चित्रण भी गुलेरी जी की कहानियों में सफलता पूर्वक हुआ है। परिचय के दोनों रूप—लेखक द्वारा पात्र का परिचय, तथा, पात्र द्वारा स्वयं अपना परिचय—प्राप्त होते हैं।

रघुनाथ के पिता का सम्पूर्ण व्यक्तित्व इन पंक्तियों में उभरकर सामने आ गया है—"रघुनाथप्रसाद द्विवेदी अबके इण्टरमीजिएट परीक्षा में बैठा है। उसके पिता दारसूरी के पहाड़ के रहने वाले और आगरे में बुझतिया बैंक के मैनेजर हैं × × बाबू बड़े सादे, अपने सिद्धान्तों के पक्के और खरे आदमी हैं, जैसे पुराने ढंग के होते हैं × × हाँ उसूलों के पक्के हैं......।"[5]

'सुखमय जीवन' में चाचा जी स्वयं अपना और कुशलता से अपनी पत्नी तथा बेटी का भी परिचय दे जाते हैं—"आइये, बाबू साहब आइये, मैं गुलाबराय वर्मा हूँ। पहले कमसेरियट में हैडक्लर्क था। अब पैंशन लेकर इस एकान्त में रहता हूँ। × × मैं ब्रह्म समाजी हूँ। कमला ने हिन्दी मिडिल पास कर लिया है......।[6]

"कहाँ तो रघुनाथ छेड़ से चिढ़ता था, अब कहाँ वह स्वयं छेड़ने लगा......।" यहाँ लेखक ने नायक के चरित्र-परिवर्तन का परिचय भी इसी पद्धति से दिया है। और इसी विधि का प्रयोग ग्रामीण स्त्री समाज के व्यवहार, रीति-रिवाज आदि का चित्रण करने में भी किया है।

इसी विधि से दो पात्रों का एक साथ परिचय भी लेखक ने कुशलता से किया है—"ऐसे बम्बूकार्ट बालों के बीच में होकर एक लड़का और एक लड़की चौक की दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं।"[7]

१. उसने कहा था (गुलेरी जी की कहानियाँ) पृ० ७२.
२. वही—पृष्ठ ७३
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आ० रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ ४६३, ग्यारहवाँ संस्करण।
४. 'बुद्धू का कांटा'—पृष्ठ ४७
५. 'बुद्धू का कांटा'—पृष्ठ ३०
६. 'सुखमय जीवन'—पृष्ठ २२
७. 'उसने कहा था'—पृष्ठ ६४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्वादात्मक चरित्र-चित्रण

'गुलेरी' जी ने कथोपकथनों का प्रयोग इस कुशलता से किया है कि वे सर्वत्र चरित्रोद्घाटन में सहायक सिद्ध हुए हैं। रघुनाथ और भागवन्ती की परस्पर मार-पीट के पश्चात् उनका यह वार्तालाप अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार की चारित्रिक विशेषताओं को उभारने में कितना समर्थ हुआ है—'तुम्हारा नाम क्या है'? 'भागवन्ती'! रहती कहाँ हो? 'मामी के पास, वही जिसने कुँए पर पानी पिलाया था'। तुम मेरे पीछे क्यों पड़ीं हो? 'तुम्हें आदमी बनाने को'। × × × 'तुम्हें एक सलाह दे जाती हूँ, कल से नदी पर नहाने मत आना × × गोता खाओगे तो कोई बचाने वाला नहीं मिलेगा'......रघुनाथ झेंपा और सम्भलकर बोला—'अब मेरी कोई जान बचायेगा तो मैं पीछा नहीं करूँगा, दो गाली भी सुन लूंगा।'[1] इस कथोपकथन द्वारा पहली बार जहाँ लड़की का नाम तथा निवास स्थान ज्ञात होता है वहीं इन दोनों का संघर्ष, उत्तर प्रत्युत्तर की भावना के मध्य उदय होता हुआ प्रेम आदि व्यक्त होता है। इसी के साथ यह संवाद रघुनाथ के मानसिक विकास का भी द्योतक है। जो रघुनाथ प्रारम्भ में स्त्री-वर्ग से घबराता था, आवेश में मार-पीट करता था, अब उसका विचार भविष्य में ऐसा नहीं करने का है—जिससे स्पष्ट होता है कि उसकी अल्हड़ता अब समाप्त होती जा रही है।

इसी प्रकार पात्रों के प्रथम परिचयात्मक चरित्र के लिए यह कथोपकथन बहुत सहायक सिद्ध हुआ है—"तेरे घर कहाँ हैं? 'मगरे में'...। 'और तेरे' 'माझे में', 'यहाँ कहाँ रहती है'? 'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं......।'[2]

लहनासिंह की कर्त्तव्य भावना एवं 'उसने कहा था' को पूर्ण करने की लगन आदि का चित्रांकन इस वार्तालाप द्वारा होता है—"लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह लगाकर पूछा—'कहो कैसे हो'? पानी पीकर बोधा बोला—'कंपनी छूट रही है......' 'अच्छा मेरी जरसी पहन लो...' 'और तुम'? 'मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है......'।[3]

संकेतात्मक चरित्र-चित्रण

लेखक ने पात्रों के अन्तर्जगत का चित्रण संकेतों द्वारा बड़ी सफलता से किया है। लहनासिंह के सन्निपात का चित्रण इन शब्दों में हुआ है। "हाँ अब ठीक है। पानी पिला दे। बस अब के हाड़ में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों बैठकर यहीं आम खाना..."।[4]

पच्चीस वर्ष पश्चात् सूबेदारनी के इस कथन में 'मैंने तेरे को आते ही पहचान लिया', सूबेदारनी के प्यार तथा अडिग विश्वास का वर्णन संकेत द्वारा हुआ है।

'बुद्धू का काँटा' में अन्त में रघुनाथ का प्रेम-भाव का स्पष्टीकरण तथा मनोभावों की तीव्रता की सूक्ष्म व्यंजना संकेत विधि से सुन्दर बन पड़ी है—

"घूँघट के भीतर जहाँ आँखें होनी चाहिएं, वहाँ कुछ गीलापन दिखा। देखो! मैं तुम्हारे प्रेम के बिना जी नहीं सकता। तुम मेरे प्राण हो, 'मेरा कांटा निकाल दो'। रघुनाथ ने एक हाथ उसकी कमर पर डालकर उसे अपनी ओर खींचना चाहा...।"[5]

रघुनाथ, जिसे केवल किताबी ज्ञान है, जगत के व्यावहारिक ज्ञान से अनभिज्ञ है, पानी के लिए कुंए पर जाता है। वहाँ महिला मण्डल की टीका टिप्पणी को सुनकर उसकी दशा का स्वाभाविक अंकन व उसके लज्जा, खीझ आदि मनोभावों का चित्रण भी इसी स्तर पर दर्शनीय है—"कुंए पर इतनी स्त्रियों को इकट्ठा देखकर वह सहम गया, उसके ललाट पर पसीना आ गया...सिर नीचा किए ज्योंही वह डोर को सुलझाता था त्योंही वह उलझती जाती थी...संकोच, प्यास, लज्जा और घबराहट से रघुनाथ का गला रुक रहा था, उसने खाँसकर कण्ठ साफ

१. बुद्धू का कांटा—पृष्ठ ५२
२. उसने कहा था—पृष्ठ ६४
३. उसने कहा था—पृष्ठ ६६
४. उसने कहा था—पृष्ठ ६७
५. बुद्धू का कांटा—पृष्ठ ६१

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना चाहा।"[१]

मनोविश्लेषणात्मक चरित्र-चित्रण

प्राय: मनोविश्लेषण का अर्थ फ्रायडियन सिद्धान्त से लिया जाता है। 'गुलेरी' जी की कहानियों पर फ्रायड का प्रभाव पड़ना ही असम्भव है क्योंकि हिन्दी साहित्य में फ्रायड का प्रभाव-लगभग सन् १९३० के पश्चात् दृष्टिगत होता है। तथापि व्यावहारिक मनोविज्ञान की सहायता से चरित्रोद्घाटन उनके चरित्र-चित्रण की नवीन विशेषता व मौलिक योगदान है।

पात्रों के मानसिक ऊहापोह, उनकी अस्त-व्यस्त मन:-स्थिति व अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण लेखक ने यत्र-तत्र कुशलता से किया है।

जब लहनासिंह एक दिन अपनी इच्छा के विरुद्ध लड़की का विवाह सम्बन्धी स्वीकारात्मक उत्तर पाता है तो उसकी मानसिक स्थिति विचित्र हो जाती है। उसके अचेतन मन की अस्त-व्यस्तता को बड़े ही कलात्मक ढंग से चित्रित किया है—

"लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया। एक छाबड़ी वाले की दिन भर की कमाई खोयी, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभी वाले के ठेले में दूध उँडेल दिया...।"[२]

पूर्व दीप्ति—स्वप्न और स्मृति के माध्यम से पात्रों की मनोव्यथा को अभिव्यक्ति प्रदान करने का कलात्मक व नवीन विधि का प्रयोग, कहानी में चरित्र-चित्रण की दृष्टि से उन्हें हिन्दी साहित्य में उच्च पद पर आसीन कर देता है।

चित्रपट के दृश्यों की भाँति लहनासिंह के मानस-पटल पर अंकित पूर्व चित्र एक-एक कर सामने आते हैं जो लहनासिंह के चरित्र विकास, उसकी मुख्य विशेषता-प्रेम, त्याग और बलिदान तथा सूबेदारनी के प्रेम की उच्चता को सफलतापूर्वक चित्रित करते हैं। मृत्यु पूर्व एक-एक स्मृति लहनासिंह के आगे कौंध जाती है। उसने कहा था...वजीरा पानी पिला, जो उसने कहा था मैंने कर दिया...आदि के अतिरिक्त पच्चीस वर्ष पश्चात् सूबेदारनी का एकदम पहचानना तथा लहना का श्रद्धानत होकर अपने प्राणों के मूल्य पर सूबेदारनी के पति-पुत्र की रक्षा का भार कन्धों पर वहन करना...आदि स्मृति चित्र से दोनों के प्रेम, निष्ठा, विश्वास व बलिदान का द्योतन होता है।

कर्त्तव्य तथा त्याग भाव के अतिरिक्त लहनासिंह के मन के एक कोने में सम्वेदनात्मक कोमल भाव हैं जिसका परिचय भी इसी स्मृति चित्र की योजना द्वारा होता है... 'रोती हुई सूबेदारनी ओबरी में चली गयी। लहनासिंह भी आँसू पोछता हुआ बाहर आया।"[३]

इस प्रकार 'गुलेरी' जी ने अपने कहानी-साहित्य में चरित्र-चित्रण की अर्वाचीन और नवीन, स्थूल और सूक्ष्म पद्धतियों का प्रयोग कर हिन्दी कथा-साहित्य को नया मोड़ दिया। कहानी की सजीव-यथार्थ परम्परा का सूत्र-पात का श्रेय निस्सन्देह 'गुलेरी' जी को ही है, इसीलिए हिन्दी-कहानी साहित्य में उनकी पृथक सत्ता है एवं महत्त्व पूर्ण स्थान हैं।

---

१. बुद्धू का कांटा—पृष्ठ ३९, ४०
२. उसने कहा था—पृष्ठ ६५
३. उसने कहा था—पृष्ठ ७८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीमती सुषम बेदी
प्राध्यापक हिन्दी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

नाटकीय संघर्ष[1] और हिन्दी नाटक

यदि नाटक की 'आत्मा' की बात की जाए या साहित्य की अन्य विधाओं से उसके पृथकत्व का मूल तत्त्व खोजा जाए तो वह द्वन्द्व या संघर्ष ही है। पाश्चात्य समालोचक ब्रैंडर मैथ्यूज़ ने नाटक का आत्म तत्त्व संघर्ष स्थापित करते हुए कहा है "यदि हम त्रासदी, अतिरंजित नाटक कामदी और प्रहसन आदि विभिन्न नाट्य रूपों में से एक एक नाटक को लें तो देखेंगे कि उन सबका आरम्भ एक ही बिंदु से होता है। कोई एक केन्द्रीय पात्र किसी बात की इच्छा करता है और यही इच्छा कार्य-व्यापार की प्रेरक शक्ति होती है। आधुनिक अथवा प्राचीन हर एक सफल नाटक में हम विरोधी इच्छाओं का संघर्ष, किसी-न-किसी प्रकार के कठिन विरोध के समक्ष मानव ईहा का प्रयत्न पायेंगे।[2]

विरोधों के साथ मानव ईहा का संघात संघर्ष है। यही नाटक का प्राण है—संघर्ष ही नाटक में 'कार्य' (action) पैदा करता है और संघर्ष की अभिव्यक्ति अनिवार्यतः कार्य के माध्यम से होती है। 'कार्य' से तात्पर्य बाहरी उथल-पुथल अथवा घटना-बहुलता से नहीं है। वास्तविक कार्य आन्तरिक हैं जो मानव की भीतरी वृत्तियों के पारस्परिक संघात अथवा मानसिक उथल-पुथल में अस्तित्व पाता है। बाध्य घटना व्यापार या तो भीतरी द्वन्द्व (कार्य) से ही उद्भूत है अथवा उसकी सार्थकता आंतरिक द्वन्द्व को प्रभावित करने में है। किंतु किसी भी स्थिति में वह भीतरी कार्य से स्वतन्त्र नहीं है और न ही केवल बाहरी तीव्र उथल-पुथल ही नाटक है। बाह्य घटनाओं का व्यापक जाल मानसिक ऊहापोह को अगर ढक लेता है तो नाटक अपने प्रभाव और अर्थ को खो देता है—इसीलिए बाध्य संघर्ष अनिवार्यतः अन्तः द्वन्द्व से उद्भूत और नियमित है। और नाटकीय संघर्ष के यही दो रूप हमें सामान्यतः नाटक में मिलते हैं—

आंतरिक संघर्ष—व्यक्ति की निजी वृत्तियों, इच्छाओं, भावनाओं, उद्देश्यों, विचारधाराओं अथवा ईहाओं का पारस्परिक द्वन्द्व।

बाह्य संघर्ष—व्यक्ति और व्यक्ति अथवा व्यक्ति और परिवेश के बीच संघर्ष।

नाटक में दोनों प्रकार के संघर्ष की स्थिति अनिवार्यतः बनी रहती है। किसी एक का अनुपात कम अधिक अवश्य हो सकता है। सोफ़ोक्लीज़ के 'इडिप्स रेक्स' से लेकर समकालीन नाटक 'वेटिंग फोर गोदो' का प्राण संघर्ष ही है।

१. हिन्दी में अभी नाटकीय द्वन्द्व या संघर्ष शब्दों का विभेद स्थापित नहीं हुआ। दोनों शब्द प्रायः एक ही अर्थ में, एक से संदर्भ में प्रयुक्त कर लिए जाते हैं। प्रयोगों और अर्थछाया के आधार पर हमें यही लगता है कि 'द्वन्द्व' शब्द नाटक में आंतरिक वृत्तियों के संघात के लिए अधिक उपयुक्त है और 'संघर्ष' बाह्य परिवेशगत उथल-पुथल के लिए। अंग्रेजी के शब्द Conflict और Struggle क्रमशः 'द्वन्द्व' और 'संघर्ष' को ही व्यक्त करते हैं।

२. नाटक साहित्य का अध्ययन—अनु० इंदुजा अवस्थी, पृ० ५३-५४

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'इडियस' में बाध्य संघर्ष का चित्रण ही अधिक है और वह संघर्ष मानव और नियति के बीच है। 'हेमलेट' में हेमलेट का क्लाडियस के साथ संघर्ष बाह्य द्वन्द्व है वहीं माँ, प्रेयसी तथा मित्रों का प्रवंचना हेमलेट के मन में कुंठा अविश्वास और निरर्थकता भर देते हैं, उसके अन्तर्द्वन्द्व का बिकास इसी स्तर पर हुआ है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि नाटक का प्राण द्वन्द्व मान लेने पर संस्कृत नाटक की क्या स्थिति रह जाती है जिसका प्राण रस है।

निःसन्देह संस्कृत नाटक में अन्तिम रूप से आनन्द या रस की हीसिद्धि की गई है किंतु संघर्ष की अवस्थिति वहाँ भी निश्चित रूप से है[1]—कालिदास की शकुन्तला की जीवन-यात्रा संघर्षों से मुक्त कदापि नहीं है और बाद के नाटकों मृच्छकटिकम्' या 'मुद्रा राक्षस' में तो ये संघात मुखर भी बहुत है। लेकिन यहाँ संघर्ष पाश्चात्य नाटकों की भाँति नाटक का मूलाधार नहीं है। संघर्ष यहाँ महज साधन के रूप में प्रयुक्त है, साध्य या मूल नहीं है और मूलाधार (रस) को उद्दीप्त करने वाला है। संघर्ष के आधारभूत भावतत्व-घृणा, प्रतिशोध, भय आदि संस्कृत नाटकों की अन्तर्यात्रा के अभिन्न अंग हैं लेकिन ये भाव सदा 'संचारी' के रूप में आये हैं और नाटक के मूल रस में अपना योग देकर उसी में विलीन हो जाते हैं। संस्कृत नाटक के नायक का लक्ष्य निरन्तर संघर्षों पर विजय पाते चला जाना था। नाटक का शास्त्रीय विवेचन करने वाले आचार्यों द्वारा वस्तु विभाजन के विविध अवस्थानों की की चर्चा इसी संघर्ष की सूचक है। पाश्चात्य नाटकों में संघर्ष दुःखांत परिणिति को प्राप्त होता है तो संस्कृत नाटकों में 'फलागम' की ओर। और संस्कृत नाटक में ये सारा संघर्ष नायक की आन्तरिक इच्छा-आकांक्षा से उद्भूत रहता है—इसलिए यह कहना कि आन्तरिक द्वन्द्व का संस्कृत नाटक में अभाव है, ठीक नहीं होगा। दुष्यन्त और शकुन्तला के भावात्मक घात-प्रतिघात ही नाटक में गति या 'कार्य' पैदा करते हैं। यह और बात है कि कहीं यह आंतरिक व्यापार संकेतों में ही या कम शब्दों में कह दिए गए हैं और लम्बे 'स्वगतों' का प्रयोग नहीं किया गया जैसा कि पाश्चात्य नाटकों में है लेकिन यहाँ हम ये भी कह चुके हैं कि संघर्ष संस्कृत नाटक में साधन है साध्य नहीं। 'संघर्ष' नाटक का प्राण संस्कृत में भी है। 'फलागम' की अनिवार्यता भारतीय आनन्दवादी दर्शन का प्रभाव है।

भारतेन्दु का सबसे अधिक परिचय संस्कृत नाट्य से था। इसीलिए उनके अधिकांश नाटकों में संघर्ष का स्वरूप संस्कृत नाटकों जैसा ही है। वस्तु तत्त्व अवश्य उन्होंने युगीन परिस्थितियों से ग्रहण किया किंतु संरचना संस्कृत नाटकों जैसी ही है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' का संघर्ष संस्कृत नाटकों के संघर्ष विकास के अनुरूप अन्त में 'फलामय' की ओर अग्रसर होता है। किंतु भारतेन्दु पाश्चात्य नाट्य परम्परा से एकदम अपरिचित भी नहीं थे शेक्सपियर के नाटक का अनुवाद भी इन्होंने किया था। 'भारत दुर्दशा' का संघर्ष पाश्चात्य 'त्रासदी' के संघर्ष के अधिक निकट है लेकिन प्रतीकात्मक होने के कारण इसके संघर्ष में मासलता या सघनता नहीं आ पाई।

प्रायः आलोचक हिंदी नाट्य-रचना पर विचार करते हुए प्रसाद को ही हिंदी नाटक में द्वन्द्व का अवतारक मानते हैं। उनके अनुसार प्रसाद ने पश्चिमी विशेषतः शेक्सपियर के नाटकों का अध्ययन—अवगाहन किया और नाटक में द्वन्द्व को स्थान दिया। जैसा कि मैं पहले कह चुकी हूँ संघर्ष की अवस्थिति प्रसाद से पहले भी थी। प्रसाद का योगदान दो रूपों में था—पहला कि उनके नाटकों में चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व और उलझाव अधिक सघन और गहरे हैं जो पहले के नाटकों में नहीं थे। दूसरे उनके 'द्वंद्व' का 'फार्म' पश्चिमी नाटकों के अधिक निकट है—नायक वहाँ त्रासदी की ओर अग्रसर होता है। जबकि ये त्रासदी केवल वैयक्तिक स्तर पर है—बाह्य संघर्ष के स्तर पर नायक 'फलागम' को ही प्राप्त होता है। मालविया की मृत्यु या देवसेना से वियोग चन्द्रगुप्त और स्कंदगुप्त की 'पर्सनल' ट्रेजेडी हैं—वर्ना राष्ट्रीय स्तर पर उन्हें विजय का मंगलमय उपहार ही मिलता है। यही कारण है

१. रंगमंच व नाटक की भूमिका, लक्ष्मीनारायण लाल, पृ० ४६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि प्रसाद में भारतीय कार्यावस्थाओं और पाश्चात्य नाट्य स्थितियों दोनों का निदर्शन मिलता है और यह प्रसाद की समन्वयकारिणी प्रतिभा का कमाल था कि 'रस' और 'द्वन्द्व' दोनों वहाँ एक-दूसरे के उत्कर्षक बन गए हैं।

जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' में जनशक्ति और राजशक्ति का संघर्ष बाह्य स्तर पर चित्रित है और सामयिक प्रगतिवादी वर्ग-संघर्ष का आभास देता है। परंतु वहीं धर्मपद और विशु के बीच पिता-पुत्र के सम्बन्धों का उद्घाटन कर इस द्वन्द्व को मानवीय स्पर्श दिया गया है। इससे भी गहरे उतर कर हम नाटक के भीतर कलाकार के सूक्ष्म मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को विकासशील पाते है। नाटककार ने विशु के भीतर कलाकार की कोमल मौन सृजन-शक्ति और पौरुष के द्वन्द्व को वाणी दी है। इस द्वन्द्व की चरम अभिव्यक्ति विशु द्वारा मूर्ति के खंडन में हुई है। 'कोणार्क' के 'संघर्ष' का विकास भी पाश्चात्य नाट्य संरचना के अधिक अनुरूप है। नाटक क्रमशः दुःखांतता की ओर अग्रसर होता है। किंतु संवेदना और संस्कृति की भारतीयता ने विशु को विशु ही बना रहने दिया है।

'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास महत्त्वाकांक्षा और जीवन की सरलता के बीच ठीक चुनाव न कर पाने के कारण भटकता रह जाता है—परिस्थितियों और वैभव की चोट खाकर वह उसी सरलता के बीच लौट आना चाहता है लेकिन तभी वह महसूस करता है कि वह कहीं का नहीं रहा—कि समय प्रतीक्षा नहीं करता, कि सब वैसा का वैसा नहीं रहता और अब यहाँ से भी लौट कर भी न जाने कहाँ जाना होगा—और इसी प्रश्न के साथ नाटकीय संघर्ष को त्रासद परिणति देता हुआ कालिदास चला जाता है। ठीक वही स्थिति 'लहरों के राजहंस' में नंद की है। नंद के सामने भी प्रश्न चुनाव का है मोह और विराग के बीच। वह दोनों और खिंचता है लेकिन न तो वह तथागत के बताये मार्ग को स्वीकार कर पाता है, न निश्चित होकर सुन्दरी के साथ जीवन का उपभोग कर पाता है। परिणिति उसकी भी दुःखद है। वह अपना रास्ता खुद तलाशने के लिए अन्त में अकेला ही निकलपड़ता है उसकी करुणा मानव की नियति की करुणा है—ठीक जो 'आधे अधूरे' के महेन्द्र की भी है जो परिस्थितियों के बीच टूटता हुआ उन्हीं में जीने के लिए मजबूर है।

आज के लगभग सभी उल्लेख्य हिंदी नाटकों के संघर्ष का रूप पाश्चात्य नाटक के ही अधिक अनुरूप है और दुःखांतता या त्रासद परिणति की ओर उन्मुख है। इस अनुरूपता का कारण नकल नहीं बल्कि हमारे आपसी जीवन और विश्वासों की समानता है। आज भारतीय आनन्दवादी 'फलागम' में आस्था खो बैठा है। उसकी संवेदना या बोध आधुनिक है और यह आधुनिकता ही व्यक्ति के आंतरिक और परिवेशत संघर्षों के यथार्थ अंकन की माँग करती है। जहाँ यथार्थ का आग्रह हो वहाँ आनन्दवादी समाधान सत्ता खो देते हैं। और संघर्ष या द्वन्द्व ही जीवन का यथार्थ बनकर स्थापित रहता है। इसी से आज का नाटक संघर्ष की निरन्तरता की सच्चाई को बनाये रखने के लिए अन्तहीन होता जा रहा है दुःखांत या सुखांत की सीमा से बाहर चला गया है। 'आषाढ़ का एक दिन' या 'लहरों के राजहंस' या 'द्रौपदी' उन अर्थों में त्रासदियाँ नहीं है जिन अर्थों में शेक्सपियर या ग्रीक नाटकों के संघर्ष का अन्त होता रहा है बल्कि वहाँ व्यक्ति पीड़ा और यंत्रणा को झेलता हुआ संघर्ष जारी किये हुए हैं। जैसा कि आधुनिक पश्चिमी नाटकों में भी है।

नाटक में केवल संघर्ष का निर्देश ही पर्याप्त नहीं है। जब तक कि वह संघर्ष किसी व्यापक मानवीय मूल्य से नहीं जुड़ा होता, उसकी सार्थकता संदिग्ध रहेगी। हेमलेट का समस्त संघर्ष मानव अस्तित्व के गहन और मौलिक प्रश्न से जुड़ा हुआ है 'To be or not to be; that is the question' यही प्रश्न 'हेमलेट' के संघर्ष को अर्थ दे जाता है। प्रसाद के 'स्कंदगुप्त' में भी यही मौलिक प्रश्ननिहित है जिसके आधार पर इस नाटक के बाह्य और आंतरिक संघर्ष का विकास हुआ है इस साम्राज्य का बोझ किस लिए ? हृदय में अशांति, राज्य में अशांति, परिवार में अशांति। केवल मेरे अस्तित्व से।

विराग और कर्म की वृत्तियों का ये द्वन्द्व मानव का मौलिक द्वन्द्व हैं नाटकीय संघर्ष में सार्थकता तीव्रता और प्रभावात्मकता तभी आ सकती है अगर वो किसी सार्थक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवीय अनुभूति से जुड़ा हो। 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास या 'लहरों के राजहंस' का नंद परिस्थितियों से लड़ते हुए आज के आम आदमी हैं जो अपने लिए अभी रास्ता तलाश रहे हैं। नंद का द्वन्द्व स्कंदगुण के द्वन्द्व से बहुत फर्क नहीं है मोह और विराग के आघातों से ही नंद भी प्रताड़ित है। इसी तरह महत्त्वकांक्षा और जीवन के सरलता के बीच चुनाव का प्रश्न भी आदिम मानवीय द्वन्द्व है जिससे कालिदास जूझ रहा है। लक्ष्मी नारायणलाल के 'दर्पण' की नायिका पूर्वी का संघर्ष भी मौलिक और शाश्वत प्रश्न में जुड़ा है—मानव के व्यक्तित्व का स्वामी कौन है ? वह स्वयं या समाज और धर्म ? उसका पहला दायित्व अपने प्रति है या समाज के प्रति ?

यह मौलिक प्रश्न या मानवीय मूल्य हर सार्थक नाट्यकृति के आंतरिक संघर्ष में अनुस्यूत रहता है और किसी नाटक को सार्थक बनाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० पुरुषोत्तम शर्मा
हिन्दी विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

रीति-कवियों की नारी-चेतना में 'स्वकीया'

अथातो विषय जिज्ञासा

बात काफी पुरानी है और शायद इसीलिए बहुत दिनों बाद याद भी आई है। एक घरेलू किस्म की व्यक्तिगत चर्चा के दौरान आचार्यपाद द्विवेदी जी ने वराहमिहिर का एक श्लोक सुनाया था—

'रत्नानि विभूषयन्ति योषा भूष्यन्ते वनिता न रत्नकन्या।
चेतो वनिता हरन्त्यरत्ना नो रत्नानि विनांगनांगसंगात् ।।'

आज, जबकि कुछ लिखने-समझने की ठान कर जमा हूँ, मेरे अन्तरतर की अध्यापकीय सहज-शोध-लिप्सा ने इसका संदर्भ भी ढूंढ निकाला है। वराहमिहिर की कालजयी कृति 'वृहतसंहिता' (७४/२) पर यह श्लोक दर्ज है। वराहमिहिर का यह कथन अकस्मात् मुझे द्विवेदी जी के एक अविस्मरणीय भाषण का स्मरण करवा देता है। उन्होंने कहा था 'भारतीय साहित्य का समस्त माधुर्य और समस्त मृदुत्व वहीं से (नारी-चेतना के माध्यम से) उद्भासित हुआ है।'

स्वयं को रीति-काव्य का अध्येता समझने का मुगालता बहुत दिनों से पालता चला आ रहा हूं। ऊपर कही बातों का कई बार अचानक ही ध्यान आ जाने पर यह इच्छा होने लगती है कि रीति-कवियों की नारी-चेतना को इन संदर्भों के आलोक में एक बार फिर से विचारा जाना चाहिए। रीति-साहित्य के अधिकारी विद्वान् बच्चन सिंह और जगदीश गुप्त के विचारों ने इस ओर और भी गंभीरता से सोचने के लिए प्रेरित किया है। इसी प्रेरणा का परिणाम प्रस्तुत विचार हैं जो कि इन दिनों लिखी जा रही है एक विशद् चर्चा का पूर्व-पक्ष मात्र हैं।

रीति-कवियों की काव्य-चेतना के अन्तर्वर्ती नैतिक-मूल्यों की निर्धारिका उनकी व्यक्तिवादी सामाजिक दृष्टि के आधार नारी संबन्धी उनका दृष्टिकोण एक विचारणीय विषय है। नैतिक (विशेषतः आचारपरक) मूल्यों की रचना-प्रक्रिया पर नारी-चेतना और तत्सम्बन्धी परिकल्पनाओं का प्रभाव विशेष रूप से पड़ता है। इसका मूल कारण सामाजिक-आचार की एक प्रथा विशेष का बोध है। यह वह प्रथा है जिसके अनुसार पुरुष के लिए इस प्रकार के सभी विधानों एवं मूल्यों का परित्याग अपेक्षित है जो कि नारी के सम्मुख नैतिकता की मर्यादा से दूर पड़ते हों। सनातन भारतीय चिन्तना के अनुसार उसी स्थान पर देवताओं का निवास माना गया है जहां नारी का सम्मान होता है—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्रफलाः क्रिया ।।[1]

नारी के प्रति सम्मान की भावना को यदि व्यापक अर्थों से समझा-विचारा जाय तो कहा जा सकता है कि उसके प्रति नैतिक मर्यादा से रहित कोई कार्य न करना ही उसका वास्तविक सम्मान है। इस प्रकार प्रथा विशेष से उद्भूत इस आदर्श के पीछे भी नैतिक मूल्यों की ही समस्या दृष्टिगोचर होती है।

नैतिक-मूल्यों के संदर्भ में रीति-कवियों की नारी-चेतना का अध्ययन उनके द्वारा कथित 'नायिका-भेद' के आधार पर किया जा सकता है। सामान्यतः जिस नारी के आठों ही अंग पूर्ण हों उसे ही नायिका कहा जा सकता है। अंगों से अभिप्राय उसके उन कायिक तथा मानसिक

१. मनुस्मृति, ३/५६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुणों से है जिनके आधार पर उसके संपूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इन अंगों (गुणों) को 'यौवन, रूप, गुण, शील, प्रेम, कौलीन्य, वैभव तथा भूषण, आदि शब्दों के माध्यम से व्याख्यायित किया गया है। नायिका तथा उसके गुणों के सम्बन्ध में रीति-काव्य के एक प्रतिनिधि कवि का कथन है—

'जा कामिनी में देखिये पूरन आठों अंग।
ताहि बखाने नायिका त्रिभुवन मोहन रंग।।
पहिले जोवन रूप गुन सील प्रेम पहिचान।
कुल वैभव भूषन बहुरि आठौं अंग बखानि।।'[2]

इसी गुण-गणना के आधार पर नायिकाओं को स्वकीया, परकीया तथा सामान्या जैसी कोटियों में विभाजित किया गया है। स्वकीया को अष्टांगवती (आठों अंगों या गुणों से युक्त), परकीया को 'कुल-नेम' से रहित तथा सामान्या को कुल, शील तथा प्रेम से रहित रूपों में परिकल्पित किया गया है—

'भूषन जोबन रूप गुन विभव सील कुल प्रेम।
आठों अंग सुकियाहि के परकिय बिन कुल नेम।।
सामान्या बिन सील कुल प्रेम विभौ पहिचानि।
भूषन जोबन रूप गुन सहित उत्तमा जानि।।'[3]

नैतिक-मूल्यों के संदर्भ में नायिका-भेद के अन्तर्गत स्वकीया ही श्रेष्ठ एवं आदर्श नायिका है। स्वकीया का पहला आवश्यक गुण उसका विवाहित होना है। वह मनसा, वाचा, कर्मणा अपने नायक (पति) के अनुकूल होती है और स्वप्न तक में भी पर-पुरुष का चिन्तन नहीं करती है। यहां तक कि स्नान, दान, तथा देवपूजा आदि को भी वह पति-सेवा के सम्मुख तुच्छ समझती है।[4]

कुल मिलाकर स्वकीया नायिका एक आदर्श गृहिणी का शास्त्रीय पर्याय है। इसलिए नैतिक-मूल्यों के संदर्भ में रीति-कवियों द्वारा वर्णित उसका स्वरूप एवं तत्सम्बन्धी मान्यताएँ विशेष रूप से विचारणीय हैं।

रीति-काव्य में स्वकीया के स्वरूप तथा मुद्राओं का उल्लेख अनेकानेक बहुरंगी छवियों के साथ उपलब्ध है। रीति-कवियों की नैतिक-चेतना से सम्बद्ध जिस युगबोध और व्यक्तिबोध का संकेत पूर्व पंक्तियों में किया गया है उसी की वैचारिक-प्रक्रिया का परिदृश्यमान प्रभाव इन कवियों का स्वकीया के प्रति विशेष लगाव एवं झुकाव है। इस झुकाव के न केवल कई मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक बल्कि सामाजिक कारण भी हैं। वस्तुतः 'स्वकीया और परकीया के प्रेम के अन्तर को कुछ विस्तारपूर्वक समझ लेने पर ही स्वकीया के महत्व की पूर्ण स्थापना हो सकती है। परकीया का प्रेम असामाजिक या सामाजिक व्यवस्था का परिपंथी और सामान्यतः एकांतिक होता है। किन्तु विवाह के पवित्र बन्धनों में बंध कर स्वकीया का सामाजिक दायित्व बहुत बढ़ जाता है।'[5] इसीलिए उसका यह रूप विशेषतः विचारणीय है।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि नैतिक तथा जागतिक आधारों पर स्वकीया के सम्पूर्ण आचरण का केन्द्र उसका निजी नायक अर्थात् पति होता है। पति से उसका सम्बन्ध विवाह के माध्यम से होता है। इसीलिए नैतिक मूल्यों की संरचना एवं परिव्याप्ति में विवाह को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संस्था के रूप में स्वीकारा गया है। भारतीय नैतिक-चिन्तन के अन्तर्गत वैवाहिक-नैतिकता को प्रभूत महत्त्व प्रदान किया गया है। भारतीय दृष्टि से विवाह सामाजिक धरातल पर एक ऐसा अनुबन्ध है जो कि दो विपरीत लिंगी प्राणियों की अपेक्षित वैचारिक एकता तथा एकत्रित जीवन-यापन की दिशाएँ एक निश्चित बोध के अनुसार निर्धारित करता है। इसी अनुबन्ध के आधार पर स्वकीया-नायिका को सामाजिक-बोध द्वारा निर्धारित नैतिक-मूल्य उन सब गुणों की

२. देव, रसविलास, ४, ६ तथा ७।
देव के प्रस्तुत कथन की तुलना 'सहृदयहृदय लीला' के लेखक राजानक रुय्यक के इस कथन के साथ की जा सकती है—
'रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः।।'
३. नगेन्द्र, देव और उनकी कविता, पृ० १४२।
४. केशवदास कृत 'विज्ञानगीता' के दोहा सं० १६/४३ का भावानुवाद।

५. बच्चनसिंह, रीति कवियों की प्रेमव्यञ्जना, पृ० ३२५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मान्यताएँ प्रदान करते हैं जिन्हें कालिदास—"गृहिणी सचिवः सखी मित्रः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ"[६] के कथन के माध्यम से निर्देशित कर गए हैं। इस प्रकार भारतीय परम्परा को मान्य नैतिक-मूल्यों में विवाह का विशेष महत्त्व है।

विवाह-प्रभावित विचार-चेतना की प्रक्रिया के अनुसार रीति कवियों की नैतिक-चेतना के अन्तर्गत तत्सम्बंधी मूल्यों का सर्वाधिक प्रतिफलन स्वकीया नायिका से संबंधित विभिन्न प्रसंगों तथा परिस्थितियों में हुआ है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि युगीन परिस्थितियों के प्रभाववश रीतियुगीन पुरुष वर्ग में नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था सिद्धान्त रूप में ही विद्यमान रह गई थी। सिद्धान्त और क्रिया के अन्तर्विरोध के कारण नैतिक-चेतना के प्रतिमानों का क्रियात्मक रूप पूर्णतः परिवर्तित होकर लगभग अनैतिक हो गया था। नैतिक-चेतना केवल पातिव्रत्य में ही सिकुड़-सिमट गई थी। इस काल के 'काव्य-पुरुष' का स्वर अधिकांश प्रसंगों में नैतिकता से बहुत दूर सुनाई पड़ता है। पारंपरिक जैविक मूल्य-चेतना के आधार पर वैवाहिक-नैतिकता के आदर्श-स्वरूप की वरीयता एवं प्राप्ति पर भारतीय समष्टि-चिन्तना निरन्तर बल देती रही। पुरुष-वर्ग नैतिकता को पहले ही लगभग त्याग चुका था। ऐसी अवस्था में 'पुरुष की अपेक्षा नारियों ने इन (नैतिक) आदर्शों के अनुरूप अपने जीवन को अधिक ढाला। इसीलिए सिद्धान्त और व्यवहार दोनों में स्वकीया नायिका को बहुत अधिक गौरव दिया गया।'[७]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि कम से कम रीतियुगीन नैतिक-मूल्यों के निर्धारण एवं रक्षण में नारी के स्वकीया रूप की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भौतिकतः वह स्वयं भी आचारात्मक मूल्यों का मूर्तिमान विग्रह होती है। कर्म की दृष्टि से वह गृह कार्य में दक्ष, प्रियंवदा, पतिप्राणा तथा पतिव्रता होती है। उसका धर्मबहुल, पतिप्रेमी तथा प्रियभाषी रूप सातत्य से युक्त होता है। इन सब गुणात्मक क्रियाओं से युक्त होने के कारण वह सतत् सौभाग्यवर्द्धिनी होती है। जिस नर को उसकी पत्नी रूप में प्राप्ति होती है वह मनुष्य होता हुआ भी वास्तव में इन्द्र है।[८]

रीति-कवियों ने नैतिक-मूल्यों के क्षेत्र में स्वकीया के महत्त्व को पूरी तरह से अङ्गीकार कर लिया प्रतीत होता है। उनकी नीति-प्रबोधिनी रचनाओं में उसके वे सब रूप मिल जाते हैं जो कि उसके शील, सौजन्य एवं सत्व युक्त स्वरूप के प्रतिपादक तथा नैतिक मूल्यों के निर्धारक हैं। स्वकीया की प्रत्येक साधना तथा कर्म या ध्यान योग का अन्तिम निष्कर्ष पति है। वह उसकी आचारवत्ता की सीमा भी है और संभावना भी। स्वकीया की समग्र नैतिकता एक मात्र पति में ही समाविष्ट होती है। पति ही उसका प्रथम, अन्तिम एवं परम नैतिक मूल्य होता है। इसी आधार पर स्वकीया के संदर्भ में पति को तथा पति से संबन्धित विभिन्न मान्यताओं तथा मर्यादाओं को उसके नैतिक-मूल्य माना जा सकता है। परन्तु इस सब के लिए अन्य सभी अपेक्षित गुणों के अतिरिक्त पारस्परिक (दाम्पत्य) प्रेम का होना आवश्यक है—

'नव सुन्दर दंपति जदपि सुख सम्पति को मूल।
प्रेम बिना छिन छेम नहिं हेम सलाका तूल।'[९]

स्वकीया-भाव के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त आचार के विभिन्न पक्षों का अध्ययन प्रेम-भावना के प्रकाश में और भी सुगमता से किया जा सकता है।

रीति-कवियों ने परम्परा-बोध के आधार पर स्वकीया की नैतिक मान्यताओं के महत्त्व को समझा तथा उसका यथेष्ठ गुणगान भी किया है। जहां तक स्वकीया की व्यक्तिगत नैतिक-चेतना का सम्बन्ध है, उसकी नैतिक प्रतिष्ठा का मूल आधार हैं—पातिव्रत्य और शील! रीति कवियों ने नैतिक-प्रतिमान के रूप में स्वकीया के पति-प्रेम को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। भारतीय नैतिक और विशेष रूप से आचारगत मूल्य-विधान की परंपरा में स्वकीया की इस मनोवृत्ति को विशेष रूप से

६. रघुवंशम्, ८, ६७।
७. द्र० संदर्भ संख्या ५, पृ० ८२०।
८. गरुड़ पुराणम् (पूर्व खण्ड), १०८, १८ से २१।
९. [illegible] (सं०) प्रेमसुधा (प्रेम खण्ड), ३, ३।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वपूर्ण माना गया है। रीति-साहित्य में नैतिक-मूल्यों के प्रति उसके प्रेममय उत्सर्ग का उल्लेख अपेक्षाकृत कम मात्रा में हुआ है। परन्तु जितना भी हुआ है वह महत्त्व-पूर्ण है। पहली बात तो यह कि तत्युगीन सामंतीय वातावरण स्वकीया के इस नैतिक-स्वरूप के अनुकूल नहीं था। दूसरा कारण कलात्मक अथवा रचना-प्रक्रिया से सम्बद्ध है। रीति-काव्य का कलात्मक ढांचा स्वकीया के नैतिक स्वरों को आबद्ध करने में लगभग असमर्थ था। इसका कारण उसकी छन्दगत संकीर्णता थी। उसके अन्तर्गत स्वकीया के आदर्श रूप का चित्रण तो किया जा सकता था किन्तु उसके मानसिक विस्फार को चित्रित करने की सामर्थ्य उसमें नहीं थी। दम्पति की जैविक आवश्यकताओं तथा मनोदशाओं के आधार पर निर्मित किसी भी प्रकार के मूल्यबोध को प्रचलित लाक्षणिक शब्दावली, रूढ़ प्रतिमानों तथा पारंपरिक छन्दों के माध्यम से अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता था। क्योंकि ये काव्योपादान भावनात्मक आवेग तथा मूल्य-चेतना की विस्तीर्ण परिधियों को समेटने में असमर्थ थे।

किन्तु फिर भी इस काव्यधारा में स्वकीया के नैतिक स्वरूप का चित्रण मिलता है। इस स्वरूप परियोजन की प्रक्रिया के पीछे इसके प्रणेता कवियों की युगनिरपेक्ष एवं सनातन धारणाएँ एवं आस्था का अकाट्य बोध है। इस सब के ही प्रभाववश पति-प्रेम की परिकल्पना की अन्तर्वर्तिनी नैतिक-चेतना के सम्बन्ध में उन्होंने जो कुछ कहा है वह थोड़ा होते हुए भी महनीयता एवं पूर्णता से युक्त है। प्रमाणस्वरूप कुछ एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

केशवदास[१०]

पत्नी पति बिनु दीन अति पति पत्नी बिनु मंद।
चंद बिना ज्यौं जामिनी ज्यौं जामिनी बिनु चंद॥

देव[११]

(क) बारीयै बैस बड़ी चतुरै हो
बड़े गुन देव बड़ीए बनाई।
सुन्दरै हौ सुघरै हो सलोनी हो
सील भरे रस रूप मनाई॥
राजबहू [बलि राजकुमारी अहौ
सुकुमारि न मानी मनाई।
नैसिक नाह के नेह बिना
चकचूर ह्वै जैहै सबै चिकनाई॥

(ख) देव पतिव्रत पाटी पढ़ी
न कढ़ी कबहू पिय के हिय पैठी।
लाज करै गुरु लोगन में
अरु काज करै घर में घर बैठी॥

मतिराम[१२]

आनन्द चंद निहारि निहारि
नहीं तनु औ धन जीवन वारैं।
चारु चितौन चुभी मतिराम
हिये मति कौं गहि ताहि निकारैं॥
क्यौं करि धौं मुरली मनि कुंडल
मोरपखा बनमाल बिसारैं।
ते धनि जे ब्रजराज लखैं
गृहकाज करैं अरु लाज संभारैं॥

बिहारी[१३]

पटु पाखे भखु कांकरे सपर परेई संग।
सुखी परेवा पुहुमि में ऐके तुँही विहंग॥

१०. विज्ञानगीता, १६, ४०।

११. (क) देव सुधा, छं० २३४।
(ख) रीति कवियों की प्रेमव्यञ्जना, पृ० ३२७ से उद्धृत।

१२. ललित ललाम, छं० १७४।

१३. बिहारी सतसई, दो० ६१६ (रत्नाकर जी की गणना के अनुसार)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्माकर[१४]

खान पान पीछे करति सोवति पिछली छोर।
प्रान पियारे से प्रथम जगति भावती भोर॥

भिखारीदास[१५]

पान और खान तें पी को सुखी लखे
आपु तबै कछु पीवति खाति है।
दासजू केलि थलीहि में डीठो
बिलोकति बोलति औ मुसकाति है।
सूने न खोलत बेनी सुनैनी
व्रती ह्वै बितावति वासर-राति है।
आलियौ जानै न ये बतियां यों
तिया पिय प्रेम निबाहति जाति है॥

सेनापति[१६]

देखि चरनारबिंद बंदन कायौ बनाइ
उर को विलोकि विधि कीनी आलिंगन की।
चैन के परम ऐन राखे करि नैन नैंक
निरखि निकाई इन्दु सुन्दर बदन की।
मानौं एक पतिन के व्रत की पतिव्रत की
सेनापति सीमा तन मन अरपन की।
सिय रघुराइ जू कौं माल पहराइ
लौंन राई करि वारी सुन्दराई त्रिभुवन की॥

ग्वाल[१७]

प्रात ही प्रीतम के पग छ्वै करि
सासु जिठाननि के परै पांइन।
छाहौं न छ्वावत है गुरु लोगन
देख्यो न आनन जागो लुगाइन।
त्यौं कवि ग्वाल करै गृहकारज
साजी रहे निज सील के माईन।
है कुल रीतन की सरसाइन
पीहर सासुर की सुख दाइन॥

रीति-कवियों की काव्य-चेतना में उपलब्ध पति-प्रेम से सम्बन्धित स्वकीया की नैतिकता एवं आचारवत्ता का निदर्शन उपर्युक्त उद्धरणों में हुआ है। यद्यपि रीति-युगीन चेतना तथा वैचारिक संवेदना के स्तर पर इस प्रकार की आचार-गरिमा का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। व्यावहारिक रूप में प्रेम से सम्बद्ध इन नैतिक मूल्यों का भले ही कोई महत्त्व न हो परन्तु इसके सैद्धांतिक पक्ष का विशेष महत्त्व है। युगीन चेतना तथा संवेदना से असम्पृक्त होकर यदि देखा जाए तो ये सभी कथन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। रीति कवियों द्वारा वर्णित ये सभी नैतिक-प्रतिमान नैतिकता के उन मानदण्डों को प्रस्तुत करते हैं जिनके द्वारा उसकी वरीयता तथा मूल्यगत गरिष्ठता को आंका जा सकता है। युगीन परि-स्थितियों के बोध से पूर्णतः निर्लिप्त रीति कवियों द्वारा कथित ये मूल्य वस्तुतः नैतिक मूल्यों की अन्तर्वर्तिनी उन आचार विधाओं के प्रतिफलित बिम्ब हैं जो कि आदि-काल से ही भारतीय मनीषा की चिन्तना का अभिन्न अंग रही हैं।

पति की अनुरागिनी के जिस रूप के आधार पर स्व-कीया की नैतिकता की चर्चा हो चुकी है, सामाजिक-विधान की दृष्टि से भी उसका वह रूप विशेष महत्त्वपूर्ण है। साधारण मनस्विता एवं विवेक की धारिका स्वकीया के व्यक्तित्व के माध्यम से भी इन परिकल्पनाओं को रूपा-यित नहीं किया जा सकता। उसके व्यक्तित्व में इन सबके साथ ही दक्षता आदि विशेषताओं का समाहार भी आवश्यक है। किन्तु ऐसे व्यक्तित्व की संभावना तभी हो सकती है जबकि विश्व की 'श्री' ही रूपायित हो जाय। 'स्कन्द पुराण' में कहा भी गया है—

'दक्षा प्रजावती साध्वी प्रिय वाक्यवशंवदा।
गुणैरमीभिः संयुक्ता सा श्रीः स्त्रीरूपधारिणी॥'[१८]

जहां पर इस प्रकार के गुणों से युक्त स्वकीया नायिका निवास करती है, प्रमुदित तथा संतुष्ट रहती है वहां पर

१४. जगद्विनोद, छं० १९।
१५. शृंगार निर्णय, छं० ६४।
१६. कवित्त रत्नाकर, ४, १८।
१७. रसरंग, २, ३९।
१८. काशीखण्ड, ३६, ८७।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नैतिक मूल्यों का साक्षात् अवतरण होता है। क्योंकि वहां पर देवताओं का निवास होता है और प्रत्येक क्रिया सफलता की संभावना से युक्त होती है—

'यत्र नार्यः प्रमुदिता भूषणाच्छादनाशनैः।
रमन्ते देवतास्तत्र स्युस्तत्र सफलाः क्रिया ॥'[१९]

नैतिक-मूल्यों की सफलता की दृष्टि से रीति-कवियों ने स्वकीया के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों को बड़ी सूक्ष्मता से समझा था। इसीलिए घोर शृंगारिकता और नैतिक-पतन के उस युग में भी स्वकीया का वर्णन खूब जमकर किया गया। नैतिक मूल्यों की निर्धारणा का एक प्रतिमान उसकी प्रिय के प्रति पूर्ण अनुरक्ति को मानकर ही उन्होंने आचारात्मक प्रतिमानों का विवेचन-विश्लेषण वैयक्तिक चेतना के आधार पर समष्टिमंगल की ध्येय रूप में प्राप्ति के लिए किया। व्यष्टि के माध्यम से समष्टि की कल्याण-कामना ही नैतिक-मूल्यों का मूल लक्ष्य होता है। संभवतः रीति-कवियों के स्वकीया-सम्बन्धी वर्णन इसी दिशा में किये गये परोक्ष प्रयास हैं। रीति-काव्य में स्वकीया-भाव का वर्णन किस सीमा तक सामाजिक मर्यादा का व्यञ्जक बन गया था इसे निम्न-लिखित छन्द के माध्यम से समझा जा सकता है—

'पति ते न करे तन बाहिर औ
जिमि जाहिर सूम करै न धनै।
गुन सील स्वभाव सनेह पतिव्रत
बारिध को भयो मीन मनै।
कवि तोष कोऊ न कबौं घर तें
गुनि द्वार की देहरी ना गमनै।
निज नैननि सेजति नंद किसोरहिं
औरहि चौथि को चंद गनै ॥'[२०]

रीति-कवियों के स्वकीया-वर्णन के प्रसंग में कही गईं ये कुछ एक बातें और दिये गये थोड़े से उदाहरण दिशा संकेत मात्र हैं। इस विषय का विस्तृत अध्ययन रीति-काव्य के कई अनजाने पक्षों का उद्घाटन करने में समर्थ है। स्वकीया सम्बन्धी वर्णनों के माध्यम से रीति कवियों की पारिवारिक नैतिकता को भलीभाँति समझा-विचारा जा सकता है। किन्तु इस सबके लिए रीति काव्य के प्रति पूर्वाग्रहों का त्याग तथा एक नितान्त नवीन दृष्टि अपेक्षित है। ऐसा हो जाने पर रीतिकाव्य के कितने ही अनजाने नैतिक आयामों को उद्घाटित किया जा सकता है। लेखक इस कच्चे चिट्ठे को पुख्ता बनाने की दिशा में प्रयत्नशील भी है।

———

१९. वही, ४०,५१।

२०. तोष, सुधानिधि, छं० २०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० गोपीनाथ तिवारी
सत्य सदन,
विंध्यवासिनी नगर,
गोरखपुर

नाटक और काव्य में अंगीरस की समस्या

रस का मूलतः सम्बन्ध 'नाटक' से है। रस के आविष्कर्त्ता हैं, आचार्य भरतमुनि जिनका प्रसिद्ध ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" है। नाट्यशास्त्र का क्षेत्र नाट्य है, काव्य नहीं। संस्कृत में काव्य के दो प्रकार स्वीकृत किए गए हैं—दृश्यकाव्य और श्रव्य काव्य। दृश्यकाव्य ही नाट्य है और श्रव्य काव्य को 'काव्य' कहा जाता है, यद्यपि संस्कृत में नाट्य को भी काव्य कहा गया है। भरतमुनि नाट्यशास्त्र का प्रारम्भ करते हुए लिखते हैं—

प्रणम्य शिरसा देवौ पितामह महेश्वरौ
नाट्यशास्त्रं प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणा यदुदाहृतम् ॥
नाο शाο १-१

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र लिखने का संकल्प लिया और उसे ही वे पूरा कर रहे हैं। नाट्य और नाटक दो शब्द हैं। नाट्य प्रयोग प्रधान है और नाटक रचना प्रधान। कवि ने जिसे रचा है और उस नाटक के आधार पर जो मंचीय प्रयोग होता है वह नाट्य है। नाट्यशास्त्र, प्रयोग प्रधान शास्त्र हैं जिसका विषय है नाटक का अभिनय। प्रसंगतः नाटक के विषय में भी बताया गया है। संस्कृत में हिन्दी नाटक के लिए व्यापी शब्द 'रूपक' है। रूपक का स्थान हिंदी में नाटक ने ले लिया है! संस्कृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में रूपक के १० भेदों में सबसे प्रधान 'नाटक' है। फलतः नाटकों का निर्माण भी बहुत हुआ। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में प्रयोग अर्थात् 'अभिनय' के सभी क्षेत्रों को प्रतिष्ठित किया है। चूंकि प्रयोग किसी कृति के आधार पर ही संभव है अतः अठारहवें अध्याय में दश रूपकों को भी स्थान दिया है। उन्नीसवें में नाटक के संध्यंगों की चर्चा की है।

भरतमुनि ने नाट्य को ही महत्त्व देते हुए इसकी अत्यंत प्रशंसा की है। संसार की ऐसी कोई कला या विद्या, ऐसा कोई शिल्प, ज्ञान, योग, या धर्म नहीं है जिसे नाट्य क्षेत्र में स्थान न मिला हो। नाट्य को पंचम वेद की संज्ञा दी गई है। नाट्य का इससे अनिवार्य सम्बन्ध है। बिना रस के नाट्य संभव ही नहीं है। अतः रस, नाटक रचना की भित्ति है। यदि रचनाकार नाटक (रूपक) में रसों की अभिव्यक्ति न करे, तो नाट्य में रस की अभिव्यक्ति कैसे सम्पन्न हो सकती है। भरतमुनि नाट्य में रस की अनिवार्यता पर बल देने के लिए स्पष्टतः घोषित करते हैं—"नहि रसाहृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते" (नाο शाο ६.३२ के पश्चाद्)। आचार्य अभिनवगुप्त भी इसीलिए यह मानते हैं कि नाट्य क्या है? केवल रस। "तेन रस एव नाट्यम्"(हिοअο भारती पृο ४२८) "यदि वा नाट्यमेव रसाः। रससमुदायो हि नाट्यम् (हिο अο भारती पृο ५०३)।

अन्य नाट्यशास्त्रियों ने भी नाटक के क्षेत्र में रस को ऐसा ही महत्त्व प्रदान किया है। शारदातनय कहते हैं—"ऊपर कहे रसों की अभिव्यक्ति केवल नाट्य के माध्यम से ही संभव है क्योंकि अवस्था का अनुकरण ही नाट्य है[1]"। दशरूपककार रूपकों के भेद रस के आधार पर ही करते हैं[2] नाट्य क्या है? भरतमुनि कहते हैं—'अवस्था-

१. उक्ता रसारस व्यक्ति र्नाट्ये नै वेत्युदीरिता
अवस्थानुकृतिर्नाट्यमिति सामान्य लक्षणम् ॥
भाο प्रο पृο १८०

२. [illegible] (दο रूο १-७)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुकृतिं हिनाट्यम्', पात्रों की अवस्थाओं का अनुकरण ही नायट् है। पात्रों की ये अवस्थाएं किसी कथा में बँधी हुई होती हैं। अवस्था क्या है? दुष्यन्त पेड़ की ओट से शकुन्तला को निर्निमेष देख रहा है और रूप की प्रशंसा कर रहा है। हरिश्चन्द्र अपने मृत पुत्र को देखकर रोते हैं, विलाप करते हैं। बुद्ध शांत बैठे हैं, कामदेव आक्रमण करता है। बुद्ध शांत हैं। निराश कामदेव चरणों पर गिरकर क्षमा माँगता है। ये सब परिस्थिति जन्य भाव ही हैं जो नाटक में ग्रथित होते हैं तथा नाट्य में नटों द्वारा प्रदर्शन होते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि नाट्य भावों के प्रदर्शित का प्रयोग स्थल है। भरतमुनि इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्
लोकवृतानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
नाο शाο १-११२

नाट्य है नाना अवस्थाओं वाले मानवी कार्यकलापों का अनुकरण। ये अवस्थाएँ, नाना भावों से ग्रंथित हैं। दूसरे शब्दों में अवस्थाओं में भावों का ही मिश्रण है, अतः नाट्य भी भाव प्रकटीकरण का साधन है, और भाव ही तो रस हैं।

रसों की संख्या भी धीरे-धीरे बढ़ती गई। भरतमुनि ने आठ रसों को स्वीकृति दी। अभिनव, उद्भट, आनन्द-वर्धन और मम्मट ने नौ रस माने। रुद्रट, विश्वनाथ, मधुसूदन सरस्वती और भानुदत्त ने इस संख्या को दस तक पहुंचाया। भोजराज ने बारह माने और हरिपाल देव ने तेरह। नाटक में कई रस अनुस्यूत हो सकते हैं किन्तु एक रस मुख्य होता है जो "अंगी रस" कहलाता है।

भरतमुनि ने रस का अटूट सम्बन्ध नाटक से स्थापित किया और बिना रस के नाटक की कल्पना असम्भव मानी गई। धीरे-धीरे रस का पदार्पण काव्य (श्रव्यकाव्य) के क्षेत्र में भी हुआ। अभिनव गुप्त के गुरु ने जब कहा कि रसकी अवस्थिति काव्य में भी मानी जा सकती है तो अभिनव गुप्त ने कहा—इसका आश्रय स्थल नाटक ही है। रूपक का स्थान काव्य से बहुत ऊँचा है। काव्य वही रचता है जो रूपक रचना में असमर्थ होता है। हाँ यह माना जा सकता है कि काव्य में भी रस निहित है।[1] नाटकों में रस की अनिवार्य प्रधानता को देखकर कुछ काव्यशास्त्रियों ने काव्य (श्रव्यकाव्य) उसे ही कहा जो अलंकारमय था। दण्डी और भामह इसी पक्ष के हैं। वामन भी अलंकारों को ही काव्य का सौन्दर्य स्वीकार करते हैं और कहते हैं, कि अलंकारों से ही काव्य ग्राह्य बनता है।[2] जयदेव तो यहाँ तक कह डालते हैं कि जो यह मानता है कि अलकारों के बिना भी काव्य रचा जा सकता है वह यह क्यों नहीं मानता है कि बिना उष्णता के अग्नि कहला सकती है।[3] किन्तु इसको धीरे धीरे काव्य में प्रमुखस्थान प्राप्त होता गया और आचार्य विश्वनाथ ने तो कह दिया कि रसमय वाक्य (वाणी) ही काव्य हैं। अर्थात् बिना रस के काव्य रचा नहीं जा सकता है। उद्भट, आनन्दवर्धन, मम्मट, पंडित राज जगन्नाथ, मधुसूदन सरस्वती, रूप गोस्वामी आदि आचार्य इसी मत के हैं।

काव्यशास्त्रियों ने रूपकों में नाटक की प्रधानता को देखकर काव्यों में महाकाव्य को सबसे ऊपर प्रतिष्ठित किया तथा नाटक के अनुकरण पर महाकाव्यों में रसों की अवस्थिति को अनिवार्यता दी गई। साथ ही यह भी कहा गया कि श्रृंगार, वीर या शांत में से एक रस अंगीरस होगा। इस प्रकार नाटक और काव्य, दोनों ही क्षेत्रों में 'अंगीरस' को मान्यता प्राप्त हुई। अब प्रश्न है कि दो या अधिक रसों के चित्रण में से किसे अंगीरस माना जाय? नाटकीय क्षेत्र में अंगीरस बताने की इतनी कठिनाई उपस्थित नहीं हुई है जितनी काव्य के क्षेत्र में। अंगीरस की पहिचान कैसे हो? इस सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत है कि जो रस अन्त में प्राप्त हो उसे ही अंगीरस माना जाए। इसीलिए आनन्दवर्धन ने महाभारत में शांत रस को अंगीरस माना क्योंकि अन्त में

१. हिन्दी अभिनवभारती अο ६, पृο ५०४
२. सौन्दर्यमलङ्कारः, काव्यम् ग्राह्यमलङ्कारात्।
१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती
असौ न मन्यते कस्मादनुस्ण मनलंकृती।
२. रसात्मकं वाक्यं काव्यं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह सामने आ जाता है। बीच-बीच में भी कहीं झलक दिखाता है। किन्तु महाभारत में नाम से तथा कथा और वर्णनों से वहाँ वीर रस ही प्रचुरता से अनुष्यूत मिलता है। महाभारत नाम यही संकेत देता है कि इसमें युद्ध का वर्णन है। मुख्य कथा तथा उसकी प्रासंगिक कथाओं से युद्ध ही अधिकांशतः उद्घाटित होता चलता है, अतः वीर अंगीरस है। बाल्मीकि रामायण को लें। उसका अन्त करुण है। सीता पृथ्वी में समा जाती हैं और राम दुःखी हैं। राम प्रजाजनों के साथ सरयू में प्राण विसर्जन करते हैं और स्वर्ग को जाते हैं। इससे रामायण का अंगीरस करुणा सिद्ध होगा। इसे करुण रस का महाकाव्य कुछ मनीषियों ने माना भी किन्तु आदि से अन्त तक कथा क्रम को देखा जाय तो वीररस 'अंगी' रूप में प्रतिष्ठित मिलेगा। यदि अन्त को देखा जाय तो भवभूति कृत नाटक 'उत्तर रामचरित' का अंगीरस शृंगार सिद्ध होगा, क्योंकि अन्त में राम और सीता का मिलन होता है, किन्तु यह करुण रस का नाटक है। फलतः अन्त को देखकर अंगीरस को स्वीकृति देना कहीं-कहीं भ्रामक हो सकता है। प्रायः नाटकों का अन्त उसी रस पर होता है जो प्रधान है, धीरे-धीरे गुप्त प्रकट हो वह आगे बढ़ता है। अतः अधिकांश नाटकों में अंगीरस को ढूँढना सरल है। कालिदास के तीनों नाटकों अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र में शृंगार अंगीरस है जो धीरे-धीरे आगे बढ़ता है और अन्त में प्रकट हो जाता है। अतः अंगीरस उसे ही मानना चाहिए जो नाटक या महाकाव्य के कलेवर में सूत्रवत आगे बढ़कर अन्त में प्रकट होता है। अभिनव गुप्त कहते हैं कि नाट्य में सूत्र रूप में एक ही रस व्याप्त होता है; अन्य रस गौण रूप में उसी के आश्रित होकर रहते हैं।[1] रुद्रभट्ट का कथन है कि आद्योपांत एक ही रस हो, उसी का बाहुल्य हो, वही अंगीरस है।[2] अतः जिस रस को नाटक या काव्य में प्रधानता मिली है उसे ही अंगीरस स्वीकार किया जाना चाहिए, चाहे अंत में वह न भी खड़ा हो। बाल्मीकि रामायण में प्रधानता वीर रस की ही है। अतः वीर रस इसका अंगीरस है। उत्तर रामचरित में करुण की प्रधानता है, यद्यपि अन्त में शृंगार वर्णित है, अतः इसका अंगीरस 'करुण' है। जायसी कृत पद्मावत को लें। इसके अन्त में नायक मारा जाता है, नायिका सती हो जाती है। इस दृष्टि से इसका अंगीरस करुण माना जाना चाहिए। किन्तु आरंभ से अन्त तक इतमें शृंगार निरूपित है। अतः शृंगार इसका अंगीरस है। रामचरितमानस में सभी रस प्राप्त होते हैं। वीर रस का चित्रण भी बहुतायत से है किन्तु आदि से अन्त तक ईश्वरीय अनुराग का चित्रण अधिकता से ग्रथित है। पात्र राम के भक्त हैं या राम से भक्ति माँगते हैं। यही स्वर प्रधान है। अतः भक्तिरस इसका अंगीरस हैं। निर्वेद को भी प्रधानता नहीं मिली है। संसार का त्याग यहाँ स्वीकृत नहीं है वरन् अपने स्थान पर रहकर राम की भक्ति करो, यही उपदेश है। अन्त में भी सुग्रीव, अंगद, निषाद आदि को भेजा जाता है कि अपने घर रहो, राम की भक्ति करो। वशिष्ठ, भरत को भी यही उपदेश है। मंदोदरी और विभीषण भी अपने स्थानों पर रहकर राम भक्ति में रत रहे, यही चित्रण हुआ है। अतः भक्तिरस ही मानस का अंगीरस है। पृथ्वीराज रासो के अन्त में नायक पृथ्वीराज तथा उसके मित्र चन्द की मृत्यु होती है। इसे देखते हुए अंगीरस करुण माना जाय, किन्तु कवि करुण रस को सूत्रवत ग्रथित नहीं करता है। कथा के प्रसंगों में वीर और शृंगार घुले-मिले हैं। इन दोनों में से वीर रस को अधिक स्थान और महत्त्व मिला है। अतः पृथ्वीराज रासो का अंगीरस 'वीर' है। कामायनी के अन्त में शांत रस की झलक मिलती है किन्तु नामकरण में तथा आदि से अन्त तक कथा प्रसंगों में शृंगार को भरपूर स्थान मिला है। अतः शृंगार कामायनी का अंगीरस है, वीर तथा शांत इसके सहायक रस हैं।

हिन्दी के कुछ नाटकों को लें। भारतेन्दु जी कृत सत्य हरिश्चन्द्र का अंगीरस 'वीर' है, इसमें किसी को आपत्ति नहीं है। मुद्राराक्षस का अंगीरस भी 'वीर' है। नील देवी को लें। यह दुःखांत नाटक है। नायक, नायिका और प्रतिनायक सब मृत्यु को प्राप्त होते हैं। किन्तु

१. हि० अ० भारती पृ० ४४२
२. शृंगार तिलक १-१८

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि से अन्त तक उत्साह स्थायी भाव गुंफित हैं : राजा उसके साथी और नील देवी—सभी यवनराज से संघर्ष में रत हैं। अतः अंगीरस 'वीर' है, करुण नहीं। प्रसाद जी के नाटकों को लें। यहाँ अंगीरस की खोज थोड़ी कठिनाई उपस्थित करती है। प्रसाद जी नाटक का अन्त सुखमय करते हुए भी दुःख का थोड़ा-सा रंग उंडेल देते हैं। अतः ये नाटक शुद्ध सुखांत नहीं बन पाए हैं।

स्कन्दगुप्त को लें। स्कंदगुप्त को राज्यश्री तथा देवसेना प्राप्त होती हैं। नाटक का क्रमागत अंत यहीं हो जाना चाहिए था। किन्तु प्रसाद जी सुखान्त को एक दृश्य द्वारा बदल देते हैं। देवसेना, नायक स्कंद को सदा के लिए छोड़ जाती है तथा नायक-नायिका दोनों ही दुःखी हैं। करुण रस की एक छाया उतर कर आ जाती है। किन्तु करुण रस, नाटक का अंगीरस नहीं है। शेष दो रस हैं—श्रृंगार और वीर रस। इनमें से किसे प्रधान माना जाय। दोनों ही हाथ में हाथ डालकर चलते हैं। अतः किसे प्रधानता दी जाय। आरंभ से अन्त तक प्रसंगों और परिस्थितियों को परखा जाय तो वीर रस की प्रधानता दिखाई पड़ेगी। यह ठीक है कि स्कंद में एक उदासीनता सी है किन्तु वह कार्य क्षेत्र और युद्ध क्षेत्र में कूदता है, तनकर खड़ा होता है और संघर्ष करता है। फलतः विजयी होता है। अतः वीर रस 'अंगीरस' है। चन्द्रगुप्त की भी यही स्थिति है। वहाँ नायक चन्द्रगुप्त में स्कंदगुप्त की सी उदासीनता नहीं है। वह उत्साह से कर्म क्षेत्र में आगे बढ़ता हुआ युद्ध रत है तथा आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है। फलतः चन्द्रगुप्त का अंगीरस भी 'वीर' है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुस्तक-परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० रमाकान्त आंगिरस
संस्कृत विभाग,
पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़

'भवभूति'[1]

डॉ० मिराशी द्वारा भवभूति सरीखे महान् कवि एवं नाटककार की रचनाओं के मर्म का हिन्दी में अवतारण वस्तुतः हिन्दी साहित्यविदों की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। हालांकि इस दिशा में भवभूति की कविता के रहस्योद्‌घाटन का प्रयत्न हिन्दी में अयोध्याप्रसाद सिंह, गंगाप्रसाद राय, रमा पाण्डेय, के अलोचनाग्रन्थों में प्रारम्भ हो चुका हुआ है तो भी प्रस्तुत ग्रन्थ प्रौढ़ता की दिशा में भवभूतिविषयक आलोचना की सफलतर प्राप्ति है।

इस रचना से पूर्व डॉ० मिराशी संस्कृत साहित्य की एक महान् विभूति (कालिदास) की कृतियों की विद्वत्तापूर्ण आलोचना के माध्यम से एक मर्मज्ञ पण्डित के रूप में ख्याति प्राप्त किये हुए ही थे किन्तु भवभूति जैसे कवि पर उनकी कलम का उठना उनके आलोचक की दूरदर्शिता है कि संस्कृत साहित्य के एक अद्यावधि उपेक्षित साहित्यकार को उसे अपने सही आभामण्डल में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

वस्तुतः भवभूति के विषय में भी कई विवाद बने हुए हैं। उनकी निश्चित तिथि का निर्णय, स्थान का निर्णय, उनका दर्शन और कवित्व कई तरह की शंकाएं बनी रही हैं। संस्कृत साहित्य में भवभूति उस पीढ़ी से जुड़े हुए हैं जो कला और पाण्डित्य का समन्वय लेकर अर्थात् 'कवयः पण्डित कवयः' के आदर्श को लेकर सर्जन के क्षेत्र में उतरी। फलतः कला की तरलता और पाण्डित्य के गाम्भीर्य दोनों की अन्विति ने एक तीसरे व्यक्तित्व को जन्म देने में सहयोग दिया जिसे सहृदय एवं सुधी आलोचक का नाम दिया गया। रस, भाव, अलंकार, औचित्य, ध्वनि आदि की समर्थ चर्चा को संस्कृत साहित्य में देख कर स्पष्ट हो उठता है कि "वस्तुतः श्रेष्ठकवि की कविता किसी सहृदय आलोचक से परिणीता होकर ही सार्थवती हो पाती थी। पार्वती की भौंहों के विलास का मूल्य सही तौर पर शंकर ही कर सकते हैं, स्वयं पार्वती के पिता हिमालय भी नहीं।" इसी प्रवृत्ति ने संस्कृत आलोचना के मानदण्डों को परीक्षण की गहन सूक्ष्मता को आँकने की क्षमता प्रदान की। प्रस्तुत कृति को देखते हुए हम कहेंगे कि डॉ० मिराशी एक सहृदय आलोचक हैं, और भवभूति की इस निरवधि काल प्रवाह में अपने समान धर्मा की तलाश की वासना को तृप्त करने में सक्षम हैं क्योंकि भवभूति पर लगाए गए कई आरोपों की खुली जांच करके वे न्यायोन्मुख दृष्टि का परिचय देते हैं।

भवभूति के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को सही ढंग से समझने से पूर्व श्री मिराशी ने अपने सूक्ष्म भारतीय इतिहास ज्ञान एवं पुरातत्त्व सम्बन्धी शोधों को आधार बनाकर कवि एवं नाटककार की यथार्थ मनोवृत्ति को गहराई से पकड़ने के लिए उसका सटीक इतिहास में स्थान एवं उस विशिष्ट प्रदेश, जिसका प्रभाव भवभूति को आन्दोलित करता रहा दोनों को अपनी शोधमीमांसा के बल पर पकड़ना चाहा है। इस दिशा में अग्रसर होते हुए डॉ० पी० वी० काणे सरीखे साहित्यिक दिग्गजों के मतों को अपर्याप्त सिद्ध कर भवभूति का ठीक रचनाकाल ७०८ से

१. 'भवभूति', महामहोपाध्याय डॉ० वासुदेव विष्णु मिराशी, अनुवादक—डॉ० केशवराव मुसलगांवकर, पाप्युलर-प्रकाशन, बम्बई, प्रथम संस्करण, १९७२, मूल्य रु० ३०/-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७३० ईस्वी के बीच निश्चित किया है। यह काल ऐतिहासिक दृष्टि से कई तरह से महत्त्वपूर्ण रहा है।

भवभूतिकालीन परिस्थिति नामक परिच्छेद में डॉ० श्री मिराशी ने अपनी गहन इतिहास-दृष्टि का उन्मेष किया है। फलतः पुराने पण्डितों के मतों का विशद विवेचन कर भवभूति को द्राविड़ पण्डित उम्बेक से पृथक् सिद्ध करके उसे विदर्भ प्रदेश में उत्पन्न एवं जीवन का उत्तर-काल प्राचीन विदर्भ के पूर्वी अंचल में आमगाँव के निकट पद्मावती या पद्मपुर तथा कन्नौज जैसे नगरों में बिताने वाला सिद्ध किया है। इन प्रदेशों में भवभूति के जीवन की घटनाओं के प्रकाश में लाने वाले कौन-कौन से कारण रहे, उनका परीक्षण करने के लिए तत्कालीन राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन खुल कर कराया गया है। इस सन्दर्भ में एक-एक तथ्य अन्तः साक्ष्यों एवं बाह्य साक्ष्यों से परिपुष्ट होकर दृढ़तर होता गया है।

अगले परिच्छेद में भवभूति के जीवन-चरित को स्पष्ट करने के लिए भवभूति सम्बन्धी यत्र तत्र बिखरे परवर्ती संस्कृत कवियों एवं आलोचकों के भवभूति विषयक कथनों की पर्यालोचना करते हुए उनकी अन्तरंग प्रमाणों से संगति बिठाकर नाटककार के अपने मानस अधिमानस एवं भौतिक जीवन के सूत्रों को साहित्य के सन्दर्भ में खोलने का सचेष्ट प्रयत्न है। भवभूति के जीवन के आसपास की प्रकृति का अधिक से अधिक उसके साहित्य में वर्णित प्रकृति से सम्बन्ध स्थापित कर वर्णनों को अधिक सजीव बनाने की चेष्टा की है।

इसके बाद इतिहास की एक अन्य समस्या जो विद्वानों को उलझन में डाले रही, यानी दो संस्कृत के धुरन्धर व्यक्तित्वों भवभूति और उम्बेकाचार्य की एकरूपता को खण्डित कर डॉ० मिराशी ने डॉ० पी० वी० काणे के आक्षेपों का परीक्षण बड़ी सतर्क दृष्टि से करते हुए उम्बेकाचार्य को परवर्ती सिद्ध किया है।

भवभूति के नाटकों का प्रयोग कहाँ हुआ? इसका प्रमाण अन्तःसाक्ष्य है। महावीर चरित में नान्दी के अन्त में सूत्रधार कहता है कि "कालप्रियनाथ की यात्रा में एकत्र हुए सज्जनों ने मुझे ऐसे नाटक का अभिनय प्रस्तुत करने का आदेश दिया है।" किन्तु यहाँ भी 'कालप्रियनाथ' शब्द ने बखेड़ा खड़ा कर दिया। डॉ० पी० वी० काणे की दृष्टि में 'कालप्रियनाथ' शब्द महाकाल शंकर का बोध कराता हुआ या तो उज्जयिनी की ओर संकेत करता है अथवा पद्मपुर के शंकर-मन्दिर की ओर। डॉ० मिराशी इस तर्क को ऐतिहासिक एवं पुरातत्त्वीय प्रमाणों के आधार पर खण्डित करते हुए 'कालप्रियनाथ' शब्द से सूर्य का अर्थ लेते हुए कालपी नगर स्थित सूर्य मन्दिर की उद्भावना करते हैं। किन्तु इस अध्याय में डॉ० मिराशी के तर्क अधिक परिपुष्ट नहीं लगते हैं। डॉ० काणे जीवित होते तो डॉ० मिराशी की खींचातानी का यथार्थ उत्तर देने में कभी न चूकते।

डॉ० मिराशी का इतिहास-बोध सचमुच ही इस रचना को अद्भुत मूल्य प्रदान करता है। अपने मतों की परिपुष्टि के लिए उन्होंने स्थान-स्थान पर संस्कृत कवियों को ही नहीं पुराणों उपपुराणों के कथनों का भी गहन अनुशीलन किया है।

आपात समीक्षा की सीमा को स्वीकारते हुए हम देखते हैं कि आगे के तीन परिच्छेदों में डॉ० मिराशी का पण्डित एवं मर्मी आलोचक मुखर हो उठा है। भवभूति के तीनों महावीर चरित, मालती माधव, एवं उत्तररामचरित नाटकों के उत्तरोत्तर रचनाविकास को स्पष्ट करते हुए एक-एक नाटक की साहित्यिक समीक्षा जिस कुशलता के साथ की है वह नितान्त संस्कृत साहित्य के सहृदय आलोचक का आदर्श उपस्थित करती है। मूल ग्रन्थों से उद्धृत प्रायः अधिकांश श्लोकों का सुबोध अनुवाद साधारण पाठक के लिए भी भवभूति की कविता को सहज एवं बोधगम्य बना देता है।

नाट्यकला की दृष्टि से संविधानक के आधार गुण-दोष, पात्रों का स्वभाव चित्रण, रस बोध, सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, मनोविज्ञान, उदात्त विचार, कृत्रिमता, इन सबका सांकेतिक सर्वांग विवेचन रचना के मूल्य को संबधित करता है। इस साहित्यिक विवेचना के अनन्तर डॉ० मिराशी भवभूति के विषय में एक धारणा को खड़ा करते हैं कि भवभूति का कवित्व दार्शनिक प्रेरणाओं का परिणाम है या नहीं। 'भवभूति के विचार' नामक परिच्छेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वे उन्हें अन्य दर्शन प्रणालियों से तुलनात्मक विधि से विवेचित करते हुए वेदान्ती घोषित करते हैं।

इस मत के प्रतिपादन में डॉ० मिराशी ने यथार्थ की अवतारणा तो की किन्तु खुलकर प्रमाणसंवलित लेखनी नहीं उठाई। संभवतः दर्शन की ओर उनकी दृष्टि उतनी नहीं रमी जितनी इतिहास सम्बन्धी खोजबीन में रमी है।

अन्ततः प्रस्तुत ग्रन्थ भवभूति के उत्तररामचरित को कुन्दनमाला नाटक की तुलना में समीक्षित करके भवभूति के संस्कृत साहित्य में स्थान निर्धारण के साथ उसके चिन्तन पक्ष को हल्के से छूता हुआ परवर्ती नाटककारों के साथ तुलनात्मक समीक्षा में समाप्त हो जाता है।

डॉ० मिराशी की इस रचना की विशिष्टता यह है कि यह विद्वानों और स्नातकोत्तर परीक्षाओं के छात्रों के लिए बराबर उपयोगी है। चार सौ चौबीस पृष्ठों में छः परिशिष्टों सहित १० परिच्छेद और सुधरे हुए संदर्भग्रन्थों की प्रामाणिक सूचिका एवं कौशलपूर्ण विषयविन्यास इस ग्रन्थ के मूल्य को संवर्द्धित करते हैं। भवभूति के जन्म-स्थान की समस्या से सम्बद्ध कुछ एक मानचित्र एवं मूर्ति चित्र प्राच्यविद्याविशारदों के लिए भी महत्त्वपूर्ण संकेत देते हैं।

अन्ततः हम देखते हैं कि प्रस्तुत ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में रूपान्तरित करने सम्बन्धी डॉ० केशवराव मुसलगांवकर का प्रयास नितान्त प्रशंसनीय हैं। कुछ एक स्थलों को छोड़कर अनुवाद नितान्त सशक्त है। और कुछ श्लोकों के अनुवाद को देखकर तो उनके अनुवाद कलाविज्ञ होने में कोई सन्देह नहीं रहता।

डॉ० केशवराव के इस प्रयास का स्वागत करके पाप्युलर प्रकाशन बम्बई वालों को भी ऐसी सुरुचिपूर्ण कृति को सुन्दर साइज में बाहरी आकारगत उत्कर्ष के साथ प्रकाशित करने के लिए बधाई दी जानी चाहिए। हिन्दी और संस्कृत के विद्वानों के बीच यह कृति सेतु का काम दे ऐसी अपेक्षा की जा सकती है। ••

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० सत्येन्द्र कुमार तनेजा
हिन्दी विभाग,
हंसराज कॉलेज, दिल्ली

"आधुनिक साहित्य : विविध परिदृश्य"[1]

सबसे पहले मुझे श्री कथूरिया से यह शिकायत है कि उन्होंने पुस्तक की रूप-सज्जा, शीर्षक, निबन्धों के आकर्षक नामकरण में जिस मात्रा में 'आधुनिकता' का परिचय दिया है, उसका निर्वाह वे रचना निर्वाचन और रचना-विवेचन में नहीं कर पाए। इस पुस्तक में २५ समीक्षात्मक निबन्ध संकलित किए गए हैं। संपादक महोदय ने 'विविध परिदृश्य' में इतनी विविधता रखी है कि उसे इसका गुणात्मक मूल्य चुकाना पड़ा है। विवेच्य रचनाएँ इतनी अधिक हैं, कि उनका गंभीर या सर्वांगीण मूल्यांकन न संभव था और न शायद हुआ ही है। यह इस पुस्तक की पहली सीमा है।

भूमिका में सम्पादक महोदय ने यह दावा किया है कि उसने रचना-निर्वाचन में 'आधुनिकता' या लेखक की 'प्रतिनिधि रचना' या 'उत्कृष्ट उपलब्धि' को प्रमुख प्रतिमान माना है पर इस बात का निर्वाह नहीं हुआ। निस्सन्देह समीक्ष्य-पुस्तकों के चुनाव में इन तीनों विशेषताओं का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ध्यान रखा गया होगा पर यह भी सच है कि आधुनिक साहित्य की कई उल्लेखनीय उपलब्धियां इस संकलन में नहीं हैं। जिस पक्ष की ओर संपादक महोदय का सर्वाधिक ध्यान गया है, उसके संकेत भूमिका में ढूंढ़ने कठिन नहीं है—"उन (रचनाओं) की मूल्यवत्ता अब संदिग्ध न रह कर विश्वविद्यालयीय दृष्टि से मुद्रित हो चुकी हैं।" जाहिर है कि विश्वविद्यालय या पाठ्यक्रम द्वारा निर्धारित अधिकाधिक पुस्तकों की समीक्षा के मोह ने इस संकलन की उभरती संभावनाओं को कुंठित किया है। 'विश्वविद्यालयीय दृष्टि से मुद्रित' से मेरा अभिप्राय कदापि यह नहीं है कि विवेच्य रचनाओं का महत्त्व कम है परन्तु पाठ्यक्रम की सीमाएं इस संकलन की सीमाएं बन गई हैं। जैसे, भगवती प्रसाद वाजपेयी एक लोकप्रिय लेखक हैं, लोकप्रियता उनकी उपलब्धि है, और वही उनकी सीमा भी। 'चलते चलते' का चुनाव इस शंका की पुष्टि करता है। इसी तरह ऐसी बहुचर्चित पुस्तकों को लेना जिन पर अन्यथा स्वतन्त्र रूप से बहुत लिखा-सोचा जा चुका है, कम विस्मयवादी नहीं है। मेरे मत में यह पुस्तक की दूसरी सीमा है।

मूल्यांकन की सुविधा के लिए संकलित निबन्धों को मैं तीन श्रेणियों में रख रहा हूं। पहली श्रेणी के अन्तर्गत निम्न लेखक-समीक्षक आते हैं जो अपनी योग्यता और क्षमता अन्यत्र प्रमाणित कर चुके हैं और एक तरह से प्रतिष्ठित से लेखक-समीक्षक कहे जा सकते हैं—सर्वश्री रामदरस मिश्र, जगदीश कुमार, प्रेम प्रकाश गौतम, कृष्णदत्त पालीवाल। निस्संदेह यह मानना पड़ेगा कि इन बन्धुओं ने परिपक्व चिंतन, सूक्ष्म पकड़ तथा प्रभावोत्पादक प्रस्तुति का यहां भी परिचय दिया।

इसी श्रेणी में कुछ उदीयमान लेखक-समीक्षकों से मैं बहुत प्रभावित हुआ हूं। सर्वश्री ईश्वर लाल गुप्त, सुलेखचन्द्र शर्मा, लाजपतराय गुप्त के चिंतन और मूल्यांकन की उभरती शक्ति निश्चय ही प्रशंसनीय है। ईश्वर लाल गुप्त के दोनों निबन्धों में उनकी क्षमता का परिचय मिला है। गोदान जैसी बहुचर्चित रचना का पुनरावलोकन

१. आधुनिक साहित्य: विविध परिदृश्य, (सम्पादक) सुन्दरलाल कथूरिया, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-७

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरल कार्य नहीं है पर उन्होंने अपने निबन्ध में पुनरावृत्ति से बचते हुए कई नए प्रश्नों पर अपने ढंग से सोचा-विचारा है। 'राग दरबारी' के अनुशीलन में भी उन्होंने मूल संवेदना को समझते हुए अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है। सुलेखचन्द्र शर्मा ने यशपाल के रचना-तन्त्र में विद्यमान राजनीतिक मताग्रह के झूठ और सच को जिस योग्यता से पकड़ा है, उसी के परिणामस्वरूप वे 'झूठा-सच' के सही मूल्यांकन में सफल रहे हैं। लाजतराय गुप्त ने 'पहला राजा' की सांकेतिकता और प्रतीक-विधान का सम्यक् विवेचन करते हुए नाटक की शक्ति और संभावनाओं को उजागर किया है।

दूसरी श्रेणी में अधिकांश समीक्षक-लेखक आते हैं जिनमें कहीं-कहीं स्वतंत्र चिंतन तथा मौलिक सूझ-बूझ के प्रमाण अवश्य मिले हैं पर सामूहिक रूप से उनका मूल्यांकन औसती या 'ठीक है' की कोटि में आने वाला है। इस श्रेणी में हैं—सर्वश्री लक्ष्मणदत्त गौतम, सुखबीरसिंह, रवीन्द्रनाथ दरगन, सुन्दरलाल कथूरिया, सुरेशचन्द्र शुक्ल, रमेश गौतम, महेश आनन्द, ओम्प्रकाश, रमाकान्त शुक्ल, वीरेन्द्रनाथ मिश्र, ज्ञान विद्यावाचस्पति। तीसरी श्रेणी में शेष वे निबन्ध आते हैं जो मात्र भर्ती के कहे जाएंगे। इनके लेखक न रचना के साथ न्याय कर पाऐ हैं और न कोई कोण उजागर कर पाए हैं।

अन्त में, कुछ शब्द, संपादक कथूरिया के लिए। उपर्युक्त सीमाओं के बावजूद यह संकलन उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। इसमें एक साथ कई नई रचनाओं का मूल्यांकन किया गया है और कुछ बहुचर्चित रचनाओं को नए कोण से सोचा-विचारा गया है। साथ में इतना तो मानना ही पड़ेगा कि इससे नई पौध के समीक्षकों को प्रेरणा और बल मिला। इस तरह श्री कथूरिया साधुवाद के पात्र हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० हरदयाल
हिन्दी विभाग,
श्यामलाल कॉलेज,
शाहदरा, दिल्ली

"आधुनिकता और समकालीन रचना-संदर्भ"[1]

डॉ० नरेन्द्र मोहन के आधुनिकता, समकालीन हिन्दी कविता, कहानी और उपन्यास तथा मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि सम्बन्धी अठारह आलोचनात्मक लेखों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। यह फुटकर लेखों का संग्रह है, कोई व्यवस्थित ढंग से लिखी सुनियोजित पुस्तक नहीं। ऐसे संग्रह का एक स्वाभाविक दोष यह होता है कि उसमें बहुत सारे रिक्त स्थान छूट जाते हैं किन्तु उसका गुण यह होता है कि उसमें भरती की सामग्री कम होती है या नहीं होती है। ये गुण-दोष इस पुस्तक में भी विद्यमान हैं। इसमें रिक्त स्थान छूटे हैं। कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना के अतिरिक्त अन्य साहित्यिक विधायें बिल्कुल छूट गई हैं। उपन्यास और आलोचना के समकालीन रचना-संदर्भ की चर्चा भी निश्चय ही अपर्याप्त है, किन्तु अभाव या त्रुटि के साथ-साथ सन्तोष की बात यह है कि इसमें कविता, कहानी, उपन्यास और आलोचना सम्बन्धी लेख स्फूर्ति क्षणों की रचना होने के कारण सजीव आलोचना का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं तथा समकालीन रचना–संदर्भ समझने में सहायता पहुंचाते हैं।

पहला लेख 'आधुनिकता की भूमिका' संग्रह का सैद्धान्तिक लेख है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि संग्रह के सभी लेखों में आधुनिकता की उस दृष्टि का व्यावहारिक उपयोग किया गया है जिसे इस पहले लेख में प्रस्तावित किया गया है किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आलोचक का आधुनिकता के प्रति आग्रह है, उसने आधुनिकता को एक मूल्य के रूप में ग्रहण किया है। इसीलिए उसकी दृष्टि में 'आधुनिकता समकालीनता का पर्याय नहीं है।' आधुनिक बोध से संयुक्त हर रचना समकालीन संदर्भों से अनिवार्यतः जुड़ी रहती है, किन्तु इसके बावजूद 'आधुनिक लेखक समकालीनता का अतिक्रमण करता है और उसकी नयी व्याख्या करता है।' इस प्रकार आधुनिकता कालनिरपेक्ष दृष्टि है। वह एक 'प्रश्नाकुल मानसिकता' है जो हर बंधी-बंधायी व्यवस्था या मर्यादा या धारणा को तोड़ती है। आधुनिकता का यह क्रियाशील रूप उसे एक जड़ या स्थिर धारणा बनने से बचाता है। वह एक 'संश्लिष्ट व्यापार' है जिसमें अनेक गुण, अनेक विशेषतायें, अनेक प्रवृत्तियाँ विरोधात्मक स्थिति में एक साथ विद्यमान रह सकती हैं। नरेन्द्र मोहन आधुनिकता को संकीर्ण मतवाद के शिकंजे में कसने के विरुद्ध हैं। उनके आधुनिकता के विवेचन से आधुनिकता की उनकी धारणा का कुछ-कुछ आभास तो मिलता है किन्तु वह पूरी तरह से पकड़ में नहीं आ पाती। समकालीन चिन्तन में आधुनिकता की इतनी अधिक छवियाँ अंकित की गई हैं, कि कोई उसकी प्रत्येक छवि को नकारता हुआ 'नेति-नेति' कह सकता है या उसे 'प्रेम मूरति' मान कर तुलसीदास की चौपाई से सन्तुष्ट हो सकता है— 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' फिर भी समकालीन हिन्दी साहित्य में विषय-वस्तु, रूप-विधान, भाषा और शिल्प के स्तर पर महत्त्वपूर्ण परिवर्तन एवं नवीनता का आधान हुआ है जिसके उत्तरदायी कारण के रूप में हम आधुनिकता को स्वीकार कर

१. **आधुनिकता और समकालीन रचना–संदर्भ** डॉ० नरेन्द्र मोहन; आदर्श साहित्य प्रकाशन, वैस्ट सीलमपुर, दिल्ली-३१, १९७३, मूल्य १५ रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं।

समकालीनता की धारणा तो निश्चय ही कालबद्ध धारणा है। किन्तु सर्वसम्मति से या अधिकांश लोगों के लिए सामान्यतः मान्य उसकी कालावधि अभी तक निश्चित नहीं हुई हैं। डॉ० नरेन्द्र मोहन ने कविता, कहानी और उपन्यास के मामले में समकालीनता की कालावधि अलग-अलग ग्रहण की है। कविता के संदर्भ में लगभग तीस वर्ष, कहानी के संदर्भ में लगभग बीस वर्ष और उपन्यास के संदर्भ में मात्र चार-पाँच वर्ष समकालीनता की कालावधि है। इस पुस्तक में यह कालावधि घुणाक्षर न्याय से निकलती है, लेखक के सचेत चिन्तन या योजना से नहीं। लेखक ने कविता की चर्चा 'प्रयोगशील कविता' से शुरू की है और फिर 'नयी कविता' से होता हुआ वह 'समकालीन कविता' अर्थात् सातवें दशक की कविता तक पहुंचा है। कविता का उसका विवेचन प्रवृत्तिमूलक भी है तथा कवि, कविता या कविता-पुस्तक विशेष के विशेषत्व की व्याख्या करने वाला भी। वह प्रयोगशील कविता एवं नयी कविता को अलग-अलग मानता है। नयी कविता के प्रवर्तन और विकास के सूत्र प्रयोगवाद में खोजे जा सकते हैं पर इसका यह आशय नहीं है कि नयी कविता को प्रयोगवाद का पर्याय या छद्म रूप कहा जाए। दरअसल, नयी कविता को प्रयोगवाद का 'फालो-ऑन' नहीं कहा जा सकता। ज्यादा-से-ज्यादा यह कहा जा सकता है कि नयी कविता का सम्बन्ध भाव और विचार की उस जमीन से है जिसे प्रयोगवाद ने निर्मित किया था। प्रयोगवादी कवियों ने अपने समय के यथार्थ के अनुरूप जिन नवीन और विविध काव्य-प्रवृत्तियों को जन्म दिया, उन प्रवृत्तियों को नये कवियों ने अपने युग-जीवन के यथार्थ के अनुरूप रूपान्तरित करके कविता को नयी दिशाओं की ओर उन्मुख किया। (पृ० ३४) नयी कविता प्रयोगवादी कविता से ऐतिहासिक, तात्त्विक एवं संवेदनात्मक आधारों पर भिन्न है। वह नयी युगीन चेतना एवं नयी सौन्दर्याभिरुचि की सूचना देती है। नयी कविता में प्रयोग उसके पूरे संरचनात्मक तंत्र में व्याप्त है। नयी कविता में प्रयोगवाद के विपरीत व्यक्ति की निजता की धारणा के स्तर पर नहीं, अपितु गहरी तड़प और ताप के स्तर पर व्यंजित किया। (पृ० ३५-३६) सन् ६० के आते-आते नयी कविता भी शिल्प और कथ्य की दृष्टि से रूढ़ हो गयी।' (पृ० ४५) तब साठ के बाद की कविता जन्मी जिसकी विशेषताएं नयी कविता से बहुत भिन्न हैं। 'वह भाषा, संवेदना और काव्य-मुहावरे के स्तर पर बहुत बदल गयी है।' (पृ० ५१) इस प्रकार तीन दशकों की कविता के विकासात्मक चरणों की धारणा नरेन्द्र मोहन को स्पष्ट है। वह इस बात के लिए भी सतत प्रयत्नशील रहे हैं कि विकास के इन तीन चरणों के व्यक्तित्व को परस्पर अलगा सकें और इस दिशा में उन्हें एक सीमा तक सफलता भी मिली है।

नरेन्द्र मोहन के कविता सम्बन्धी लेखों को जिस प्रकार विकासानुक्रम में रखा जा सकता है उसी प्रकार कहानी सम्बन्धी लेखों को भी रखा जा सकता है। कहानी सम्बन्धी सातों लेख स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी की वस्तुगत प्रवृत्तियों को स्पष्ट करते हैं। उसके अनुसार भारतीय स्वातंत्र्य संघर्ष एवं स्वतंत्रता की प्राप्ति ने इस देश की मानसिकता को एक नया अर्थ एवं आयाम प्रदान किया जिससे इस देश का साहित्य भी प्रभावित हुआ। नयी कहानी ने किसी विचार, धारणा या सिद्धान्त की अपेक्षा 'अद्भुत सत्य या भोगे हुए यथार्थ' को महत्त्व दिया और 'संक्रान्त मन स्थितियों को विशेष रूप से उजागर किया। इसमें महानगरीय संदर्भों में सम्बन्धों की विसंगति, विडम्बना, जटिलता, तनाव और त्रास को अभिव्यक्त किया गया है, साथ ही ग्रामांचल के यथार्थ की भी प्रामाणिक अभिव्यक्ति हुई है। सातवें दशक की कहानी छठे दशक की कहानी से भिन्न है। 'यह भिन्नता कहानी के ऊपरी रूप-रंग तक सीमित न होकर, कहानी के मौलिक स्तरों पर प्रतिफलित होने वाली तात्विक भिन्नता है। यह परम्परागत कहानी से कहानी की मुक्ति है।···सातवें दशक की कथा-पीढ़ी ने उन तमाम मूल्यों को चुनौती दी जिनके प्रति पूर्व दशक की कथा-पीढ़ी ललक से भरी हुई थी और उस हद तक भावुक और रोमानी थी।' (पृ० ८३-८४) सातवें दशक में लिखी गयी कहानियों की जाँच-पड़ताल करते समय नरेन्द्र मोहन ने 'सम्बन्धों में व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता' को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेखांकित करने की कोशिश की है। सम्बन्धों में पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, यौन आदि विविध सम्बन्ध समाहित हैं। नरेन्द्र मोहन के विवेचन से समकालीन हिन्दी कहानी की वक्तव्य-वस्तु स्पष्ट होती है।

उपन्यास सम्बन्धी तीन लेख हैं। पहले लेख में 'बेघर' (ममता कालिया), 'सूरजमुखी अंधेरे के' (कृष्णा सोबती), 'यात्राएँ' (गिरिराज किशोर) 'विपात्र' (मुक्तिबोध) तथा 'एक चूहे की मौत' (बदी उज्जमा) की; दूसरे लेख में 'चलता हुआ लावा' (रमेश बक्षी) और 'उसका शहर' (प्रमोद सिन्हा) की तथा तीसरे लेख में 'जल टूटता हुआ' (रामदरश मिश्र) की चर्चा है। इन उपन्यासों की चर्चा में इनके कथ्य की परीक्षा की गयी है। आलोचक का आग्रह कथ्य की सहजता, विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता पर है। वह भावुकता की अपेक्षा यथार्थ के अभावुक और वास्तविक प्रस्तुतीकरण पर बल देता है। वह उपन्यासों में नवीनता चाहता है किन्तु नवीनता के लिए उपन्यास के सुगठन और विश्वसनीयता की बलि दिये जाने के पक्ष में कदापि नहीं है। इस दृष्टि के कारण वह 'बेघर', 'सूरजमुखी अंधेरे के', 'चलता हुआ लावा' की वस्तुगत एवं शिल्पगत नवीनता के बावजूद उनकी दुर्बलताओं को उद्‌घाटित करने से नहीं चूकता।

संग्रह के अन्तिम लेख में 'मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि' का विवेचन है। इस विवेचन के अनुसार मुक्तिबोध पूरी तरह से किसी सिद्धान्त विशेष का अनुसरण करने वाले समीक्षक नहीं थे। मार्क्सवाद का उन पर गहरा प्रभाव था किन्तु वे शत-प्रतिशत उससे बंधे हुए नहीं रहे। वस्तुतः उन्होंने कलात्मक अनुभव (सौन्दर्यतत्व) और जीवन के वास्तविक अनुभव (जीवन मूल्य) के मिश्रण से अपनी आलोचनात्मक दृष्टि प्राप्त की क्योंकि 'वे जीवन सत्य को ही सिद्धान्तों का नियामक मानते हैं। वास्तविक जीवन में पाये जाने वाले तत्वों को वे साहित्य में प्रकट तत्व की सत्यता की जाँच की कसौटी मानते हैं। संक्षेप में कहें तो वे जीवन-मूल्य और कलात्मक-साहित्यिक मूल्य में आवयविक सम्बन्ध मानते हैं।' (पृ० १४७)

यहाँ यह प्रश्न उठाना स्वाभाविक होगा कि डॉ० नरेन्द्र मोहन की अपनी समीक्षा-दृष्टि क्या है? इन लेखों को पढ़कर मुझे लगा है कि अभी वह पूर्णतः स्थिर नहीं हुई है। कहीं-कहीं हमें लगता है कि डॉ० नरेन्द्र मोहन की समीक्षा-दृष्टि वस्तुवादी है, किन्तु अधिकांश स्थलों पर कलावादी समीक्षा-मूल्यों के प्रति उनका झुकाव न केवल स्पष्ट है बल्कि आग्रहपूर्ण भी है। 'मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि' शीर्षक लेख में मुक्तिबोध की समाज-प्रतिबद्ध, मूल्य सम्पृक्त दृष्टि का विरोध करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'इस दृष्टि से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता। आधुनिक बोध के सम्बन्ध में उनकी इस धारणा, जो इस दृष्टि से प्रभावित है, को मान्यता नहीं दी जा सकती।' (पृ० १५०) इस असहमति और अमान्यता का आधार क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में मिलेगा—'सामाजिक, आर्थिक संदर्भों पर ध्यान देने से साहित्यालोचन में सहायता तो मिलती है पर उसे कलाकृति के कालात्मक मूल्यों की परख का मानदण्ड नहीं ठहराया जा सकता। साहित्य का मानदण्ड तो साहित्यिक-कलात्मक-सौन्दर्यात्मक ही हो सकता है। सामाजिक-आर्थिक संदर्भ और वास्तविक जीवन के तथ्य और अनुभव तो उस निष्कर्ष की पूर्व स्थितियों के रूप में मौजूद रह सकते हैं। किसी कलाकृति के विवेचन-मूल्यांकन में उनके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता, पर उन्हें अंतिम कसौटी के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती।' (पृ १४८) उपर्युक्त उदाहरणों से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली यह है कि नरेन्द्र मोहन समीक्षा के वस्तुवादी आधारों—सामाजिक मूल्यों को आंशिक स्वीकृति प्रदान करते हैं। दूसरी बात यह है कि उनकी साहित्यिक कृति के मूल्यांकन की अन्तिम कसौटी 'साहित्यिक-कलात्मक-सौन्दर्यात्मक' मूल्य है। कहा जा सकता है कि फिलहाल वे वस्तुवादी एवं कलावादी समीक्षा-मूल्यों के द्वन्द्व में ग्रस्त हैं। यदि कोई विशेष बात नहीं घट जाती तो उनका विकास कलावादी समीक्षक के रूप में होगा।

हम डॉ० नरेन्द्र मोहन की समीक्षा-दृष्टि से सहमत या असहमत हो सकते हैं किन्तु इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि वे हिन्दी के युवा पीढ़ी के एक गम्भीर समीक्षक हैं। उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ●

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हस्तलेख-परिचय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ० हिम्मतसिंह जैन
साहित्य कलिका, ६६, जैन गली,
हिसार (हरियाणा)

कृष्णायन—श्री शिवदास विरचित
(कृष्ण काव्य परम्परा का अभिन्न अंग)

कवि-परिचय

नागरी प्रचारिणी सभा के विवरण में ग्रन्थ के रचयिता का नाम ठीक नहीं लिखा गया[1]। कवि की वंशावली में से 'जगन्नाथ' नाम ग्रहण करके उसे ही रचयिता मान लिया गया। परन्तु "सुत शिवदास परम पदि गावै"[2] आदि कवि के शब्दों को देखकर तथा कवि नाम की काव्य में स्थान-स्थान पर लगी हुई छाप से[3] स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रंथ का रचयिता शिवदास है। विवरण की भूल का सुधार किया जाना चाहिए।

शिवदास द्विज कुल के कौशिक गोत्र में उत्पन्न हुए थे। वह रिछारिया ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम भीमसेन था। वह बुन्देलखण्ड के रहने वाले थे। इनका आदि निवास स्थान चुरारा नामक ग्राम था। वहाँ से किसी कारणवश महेबा आ गए तथा फिर वह छतरपुर (मध्य प्रदेश) में रहने लगे।[4]

इन्होंने 'कृष्णायन' की रचना सं० १८४५ वि० में की थी।[5] इसके अतिरिक्त इनका कोई अन्य ग्रंथ खोज विवरणों द्वारा प्रकाश में नहीं आया।

कवि राधाकृष्ण का भक्त था। वह राम लक्ष्मण आदि की भी ईश्वर रूप में पूजा करते थे।[6] वह सरल हृदय के व्यक्ति थे जैसा कि उनकी निम्न पंक्तियों से स्पष्ट होता है। वह पाठकों को भी अपने काव्य के सुधार भी सहर्ष आज्ञा दे देते हैं।

अछिर घटवदि होइ जह मात्रा घटिवदि होई।
लीजौ तौन सुधार वषोर न दीजो कोई।।[7]

स्वरूप तथा सामान्य परिचय :

यह ग्रन्थ नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी को सन् १९०९-११ की खोज में प्राप्त हुआ।[8] इसका लिपिकाल

१. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का विवरण १९०९-११ क्रम संख्या-१२५—ना० प्र० सभा, वाराणसी।
२. कृष्णायन — बाल-काण्ड सं० २४
३. बाल-काण्ड पुरन भयौ, कही कथा हरिजान,
कहि सिवदासै दिजियौ चर्न सर्न सुष पान।
(बाल-काण्ड सं० ३७६)
हर्ष कृष्ण तब घर को आये,
कहि सिवदास चरनहिय ध्याये।
(वृन्दावन-काण्ड सं० १२५)
मम जन कौ जे कष्ट है ताकी कर हौ नास,
कहि सिवदासै जु दीजिये चर्न सर्न निज आस।
(रहस-काण्ड सं० ११६)
चहि सिवदास यह कीन, चर्न सर्न मुहि दीजिये।
(उषा-काण्ड सं० १७२)
४. कृष्णायन—बाल-काण्ड सं० २२ से २७।
५. वान वेद वसु इंद लौ अंक वाम गति चार।
असुन सुदि दसमी गुरौ कृष्णायन अवतार।।
(बाल-काण्ड सं० ३१)
६. बंदौ राम लषन चर भ्राता।
भर्त चत्र गुन निर्भयदाता।।
(कृष्णायन बाल-काण्ड सं० १८)
७. कृष्णायन—तीर्थ-काण्ड सं० १७५।
८. हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का खोज विवरण १९०९-११, सं० १२५—ना० प्र० स० वाराणसी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सं० १८८८ वि० तथा रचनाकाल सं० १८४५ वि० है। ग्रन्थ का आकार ६॥" × ६॥" है प्रत्येक पृष्ठ पर लगभग १२ पंक्तियां है तथा प्रत्येक पंक्ति में ७ शब्द हैं। इसका विस्तार १६६ पत्रों में है। ना० प्र० सभा के विवरण में पत्रों की संख्या भूल से ६६ लिख दी गई। इस ग्रन्थ की केवल एक प्रति प्राप्य हुई है जो आर्य भाषा पुस्तकालय, ना० प्र० सभा वाराणसी में सुरक्षित है।[1] ग्रंथ का आरम्भ एक संस्कृत के श्लोक द्वारा होता है। इसके पश्चात् विभिन्न देवी देवताओं की वन्दना की गई है।

कथा विभाजन सात काण्डों में किया गया है[2] प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में कथा संकेत दिया गया है, यथा—

द्वारका काण्ड वर्नन करौ संत चरन चितु ल्याइ।
कुटंम आदि वह राज कर हरि लीला हरिषाई॥[3]

प्रत्येक काण्ड का विषय विभाजन निम्न प्रकार से है—

बाल-काण्ड—मंगलाचरण, कवि परिचय, राजा परीक्षित द्वारा शुक मुनि से कथा सुनने का आग्रह। वसुदेव विवाह-समय आकाशवाणी होना, वसुदेव-देवकी का कारागृह निवास। कृष्ण जन्म। पूतना वध। गर्ग मुनि आगमन। यमुलार्जन उद्धार। अघासुर, वकासुर, धेनुक आदि राक्षसों का वध। ब्रह्मा का मोह। काली दमन। प्रलम्बासुर वध।

वृन्दावन-काड—वृन्दावन में गाएं चराने जाना। दावानल पान। इन्द्र प्रकोप। गोवर्धन पर्वत उठाना।

रहस-काण्ड—कृष्ण की गोपियों के साथ रास-क्रीड़ा कृष्ण के अन्तर्धान होने पर गोपियों का शोकाकुल होना। कृष्ण का लौटना। पुनः रास।

मथुरा-काण्ड—वृषभासुर बध। कंस द्वारा अक्रूर का भेजा जाना। कृष्ण का मथुरा आगमन। कंस वध। उद्धव का व्रज गमन। अक्रूर का पाण्डवों के पास जाना।

द्वारिका-काण्ड—जरासंध से युद्ध। कालयमन का घेरा। द्वारिका गमन। रुक्मिणी हरण। कृष्ण का हस्तिनापुर जाना तथा सुन्दर कन्या का हरण। नरकासुर को पराजित करके सोलह सहस्र नारियों से विवाह करवाना।

उषा अनिरुद्ध-काण्ड—अनिरुद्ध तथा उषा का विवाह। काशी नरेश को पराजित करना। जरासंध वध। शिशुपाल वध।

तीर्थ-काण्ड—बलराम की तीर्थ-यात्रा। सुदामा का कृष्ण के पास जाना तथा सम्पत्ति प्राप्त करना। कृष्ण जी का कुरुक्षेत्र-गमन। फलश्रुति।

कवि ने इस ग्रन्थ में एक नवीनता दिखाई है। इसके प्रत्येक काण्ड की समाप्ति की सूचना गद्य के स्थान पर पद्य में दी गई है।

बाल काण्ड पुरन भयौ, कही कथा हरिजान।
कहि सिबदासै दिजियौ, चर्न सर्न सुषयान॥[4]
वन काण्ड पुरन भयौ, देषो यामै वोध।
हरि चरित्र जु जानियौ, लीजौ कवि बुधि सोध॥[5]

प्रत्येक काण्ड के आदि में उसके पढ़ने, श्रवण करने तथा मनन करने का महत्व भी वर्णित है—

सुनै कहै चितु ल्याइ, निसि वासर हरि कौ भजै।
कृष्ण करै जो चाइ, संतन मैं मिल कै वसै।[6]

प्रेरणा-स्रोत

कवि ने ग्रन्थ की रचना भक्ति भावना से प्रेरित होकर की। कृष्ण भक्ति का महत्वपूर्ण ग्रंथ है श्री भागवत पुराण। अतः उन्होंने इसी ग्रंथ का आधार लेकर कृष्ण कथा को छन्दोबद्ध किया।[7] काण्डों का विभाजन मौलिक

१. पुस्तक—संख्या २३७/२३७।
२. बाल विंद्रावनि रहस लौ मथुरा करौ वषान।
द्वारका उषा तिर्थ है सात काण्ड ये जान॥
(तीर्थ-काण्ड सं० १७१)
३. कृष्णायन—द्वारिका-काण्ड सं० १
४. कृष्णायन—बाल-काण्ड सं० ३७६।
५. वही—वन-काण्ड संख्या ६६।
६. कृष्णायन—द्वारिका-काण्ड सं० ३।
७. दसमसकंध भागवति गावो,
कृष्ण नामहू रहे मैं ध्यावो।
सुष मुनि न्रप कौ कथा सुनाई,
परम मोछ राजा की भाई।
(बाल-काण्ड सं० ६)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ढंग से करने पर भी कवि ने प्रत्येक काण्ड के अन्त में श्री भागवत पुराण का नाम लिखा है।[1] इससे स्पष्ट है कि कवि पर उक्त पुराण का पर्याप्त प्रभाव है। इस पुराण के दशम स्कन्ध की समस्त कथा कवि ने ग्रहण की है। कवि को ग्रंथ रचना की प्रेरणा एक विप्र द्वारा मिली जिसके दर्शन उन्हें स्वप्न में हुए—

सपनिन विप्र येक हम देखा,
कहि हरि भगत करौ विसेषा।
माया मोह त्याग जौ दैवै,
सो श्री पति के चरनन लैवै।[2]

अतः कृष्ण सम्बन्धी अन्य प्रबन्ध काव्यों की भाँति कृष्णायन की प्रेरणा भी कवि को उसकी भक्ति भावना से अनुप्राणित होकर भागवत पुराण से मिली।

काव्यत्व

प्रबन्ध-सौष्ठव

कृष्णायन में कृष्ण जन्म से कृष्ण जीवन की अन्तिम अवस्था तक की कथा को छन्दोबद्ध किया गया है। तुलसी के रामचरित मानस के अनुकरण पर कवि ने इसे सात काण्डों में विभाजित किया है।

१. बाल-काण्ड, २. वृन्दावन-काण्ड, ३. रहस-काण्ड, ४. मथुरा-काण्ड, ५. द्वारिका-काण्ड, ६. उषा-काण्ड, ७. तीर्थ-काण्ड। काण्डों की कथा के अनुरूप ही उनका नामकरण किया गया है। उदाहरण के लिए तीर्थ-काण्ड में बलराम की तीर्थ-यात्रा तथा कृष्ण की कुरुक्षेत्र-यात्रा का वर्णन है। काण्ड विभाजन में कवि ने पर्याप्त कुशलता तथा मौलिकता का परिचय दिया है। इसके कथा तन्तु भलीभाँति जुड़े हुए हैं। पाठक की उत्सुकता अन्त तक बनी रहती है।

कृष्ण की मूल कथा के साथ-साथ अनेक प्रासांगिक घटनाओं को भी सम्मिलित किया गया है। प्रासांगिक घटनाओं की योजना पुराण-शैली के आधार पर की गई है। नृप अनेक बार शंका उपस्थित करता है तथा शुकदेव जी उस शंका के समाधान में प्रासांगिक घटना का उल्लेख करते हैं। जैसे जिस समय कृष्ण ने यमुलार्जन को शाप मुक्त किया, उसी समय राजा परीक्षित ने शंका प्रस्तुत की कि इनको शाप कैसे मिला था। उत्तर में शुकदेव जी ने प्रासांगिक घटना का वर्णन किया। इसी प्रकार राजा ने गोपियों के साथ बिहार करने पर प्रश्न किया कि कृष्ण ने पराई स्त्रियों के साथ क्रीड़ा क्यों की? तथा द्वारिका-काण्ड में नृप ने पूछा था कि कृष्ण ने सोलह सहस्र नारियों के साथ विवाह कैसे करवाया? इनके उत्तर में शुकदेवजी ने प्रासांगिक घटनाएं सुना दी। यह शैली आज के पाठक के लिए रुचिकर नहीं है।

कृष्ण जीवन के विभिन्न प्रसंगों को जोड़ने के लिए निम्न आशय की पंक्तियों की अनेक बार आवृत्ति की गई है। इनके द्वारा कवि प्रसंगों को जोड़ने में तो पूर्ण सफल रहा है 'परन्तु एक ही आशय की पंक्तियों की अनेक बार आवृत्ति से पाठक का मन ऊब जाता है।

सुष मुन न्रप कौ कथा सुनावै,
कृष्ण बड़े हो सुरभ चरावै।[3]
सुष मुनि न्रप सौ कथा वषानी,
अति सुष भयौ परिछत मानी।[4]
सुष मुन न्रप कौ कथा सुनाई,
रिष नारद द्वारावति आई।[5]

कवि को भय था कि ग्रन्थ का विस्तार अधिक न बढ़ जाए अतः वह थोड़े शब्दों में ही कृष्ण कथा का वर्णन करके इसका लाभ प्राप्त करना चाहता है। इसी शीघ्रता के कारण कथा का वर्णन भी भलीभाँति न हो सका। एक दो स्थान पर कथा क्रम भी विक्षित हो गया है तथा इसी कारण कुछ स्थानों पर पाठक को कवि का आशय समझने में कठिनाई अनुभव होती है। उदाहरण स्वरूप कुछ पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं—

१. इति श्री कृष्णायने, कलि मल हरने, श्री भागवत दशम स्कन्धे बाल-काण्ड समाप्त।
२. कृष्णायन—बाल-काण्ड सं० ७।
३. कृष्णायन—बाल-काण्ड सं० ३००।
४. वही—मथुरा-काण्ड सं० १२०।
५. वही—उषा-काण्ड सं० ७८।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अग्या है तब नाम वाषानै,
वकु प्रलंव चानूर सुठानै ।
त्रनबर्ती अघासुर सोई,
केसी धेन वकासुर होई ।
तिनै पुतनै अग्या दीना,
अग्या दैत अनेकन लीना ।
जप तप जग्य करों विनासा,
देव दुजन की करौ निरासा ।[१]

कवि को कई बार अवसर का ज्ञान नहीं रहता। जिस समय उद्धव यशोदा के पास पहुंचे, उस समय उसने कृष्ण का कुशलता-समाचार न देकर उसके सम्मुख कृष्ण के ईश्वरत्व का उपदेश दिया—

कहि धौ नन्द जसमति माता,
पूरन भाग तुम्हारौ माता।
जिन कौ चित्र कृष्ण मैं रासा,
तिन के निकट कृष्ण को वासा।[२]

कवि ने कृष्ण जीवन के अनेक भावपूर्ण प्रसंगों के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया। उदाहरण के लिए कृष्ण के रास के समय बिछुड़ जाने पर गोपियों का विरह वर्णन किया गया है परन्तु वह बहुत नीरस है। ऐसे समय पर गोपियों की पीड़ा वर्णन न करके केवल राक्षसों के नाम गिनाकर कवि ने इतिश्री कर दी है—

अघा वकासुर मारे जाता,
येकै काली नाथ जु काता।
गोपिन वस्त्र लीन कर दीना,
गोवर्धन कर लीन प्रवीना।[३]

कवि ने कृष्णायन का सृजन भक्ति भावना से प्रेरित होकर किया, अतः अनेक स्थानों पर लम्बी-लम्बी कृष्ण स्तुतियों को स्थान दिया गया है, जिससे कथा वर्णन में गतिरोध भी उत्पन्न होता है तथा पाठक का मन भी ऊबता है। ब्रह्मा, काली नाग, वरुण देव, अक्रूर, रुक्मिणी आदि[४] पात्रों ने कृष्ण की विस्तृत स्तुतियां कीं। कवि ने कृष्ण तथा उसके ज्येष्ठ भ्राता बलराम की अनेक बार आरती उतारने तथा देवों द्वारा पुष्प वर्षा का वर्णन किया है।

वज्र मार गिर गिरत है सोई,
अब बलिराम की आरत होई।[५]

कवि की भक्ति भावना के कारण पुनरावृत्ति को भी स्थान मिला है। कृष्ण द्वारा वध किए गए राक्षसों के नाम अनेक बार गिनाए गए हैं।[६] एक दो स्थान पर ऋषियों के नामों की परिगणना भी की गई है—

न्रप तब जग्य विचारी आनी,
वेप्र वर्न कर नाम वषानी।
भरद्वाज, व्यास जू आये,
असत वसिष्ट चिमन जू गाये।
कन्यक मैत्रज चित्र सुनामा,
विश्वामित्र महातप धामा।
वसुदेव सुमत तहा अब देषा,
जैमुन विमत तहा विसेषा।[७]

इसी प्रकार कवि ने तीर्थ-काण्ड में भी कुरुक्षेत्र के स्थान पर यज्ञ समय उपस्थित ऋषियों की सूची बनाई।

कथा की रूपरेखा श्री भागवत पुराण के दशम स्कन्ध से ग्रहण की है। शुकदेव तथा परीक्षित का वार्तालाप कृष्णायन में भी दृष्टिगोचर होता है। पुराण की ही भाँति इसमें "राजोवाचः, शुकदेवोवाच, श्री भगवान्वाच" आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। परन्तु यह उसका अनुवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों ग्रन्थों के कथा प्रसंग तथा वर्णन शैली में पर्याप्त अन्तर है। कृष्ण कथा का विभाजन अनेक लीलाओं या अनेक अध्यायों के स्थान

१. वही—बाल-काण्ड सं० ८३।
२. वही—मथुरा-काण्ड सं० २१८।
३. वही—रहसं-काण्ड सं० ५४।

४. वही—बाल-काण्ड सं० २६९ से २८४ व ३४२ से ३४७, वृन्दावन-काण्ड सं० १५० से १५९, मथुरा-काण्ड सं० १०० से १०६, द्वारिका-काण्ड सं०
५. वही—बाल-काण्ड सं० ३७२।
६. वही—वृन्दावन-काण्ड सं० १२८ से १३९ व मथुरा-काण्ड सं० ५५ से ६०।
७. वही—उषा-काण्ड सं० १२४ व १२६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर सात काण्डों में होने में शैली में अन्तर आ गया है। भागवतकार एक-एक घटना का विस्तृत वर्णन करता चलता है परन्तु कृष्णायन में कवि ने कथा वर्णन में बड़ी शीघ्रता दिखाई है। इसमें श्री जु (राधा) नामक गोपी भी रास समय उपस्थित है जबकि भागवत पुराण में नहीं। कथा प्रसंग में भी कुछ स्थानों पर अन्तर डाला गया है।

कृष्णायन में अघासुर ग्वाल बालों को उदर में बैठा कर सो जाता है परन्तु भागवत पुराण में सोता नहीं। कृष्णायन का उद्धव गोपियों से भी हार नहीं मानता, जबकि भागवत पुराण का उद्धव अन्त में गोपियों के सम्मुख नतमस्तक हो जाता है। कृष्णायन में कृष्ण ने जरासंध को करारी हार दी परन्तु भागवतकार ने इस स्थान पर अपने इष्ट देव की यथार्थ घटना का ही चित्रण किया है तथा कृष्ण को युद्ध में पराजित घोषित किया है।

कवि ने सामान्यतः प्रत्येक काण्ड में कथा का पूर्व संकेत दिया है जिससे रोचकता बढ़ जाती है—

उषा काण्ड वर्नन करौ गुरु चरनन चितु ल्याव।
कृष्ण तनय सुत जानियो, उषा अनुरुधि ब्याव।[1]

यद्यपि कृष्णायन प्रबन्ध सौष्ठव की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना नहीं कही पर जा सकती, फिर भी इसमें कथा तन्तु भली भाँति जुड़े हुए हैं तथा पाठक को कथा समझने में प्रयास नहीं करना पड़ता। इस ग्रन्थ की रचना पौराणिक शैली के अनुसार की गई है।

बाल कृष्ण-वर्णन—इन्होंने कृष्ण का बाल-वर्णन करने में पूर्ववर्ती कवियों का अनुकरण अवश्य किया परन्तु वह उसमें सफल न हो सके, जो निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

गोपी बाल समेत, वन सरता परवति विषै।
धेन गुवाल के हेत वैन वजावति हरि फिरत।[2]

प्रकृति-वर्णन—कवि का प्रभु चरणों की ओर अत्यधिक ध्यान होने के कारण प्रकृति को इनके काव्य में किंचित स्थान भी प्राप्त न हो सका। कवि वृन्दावन का अति आकर्षक चित्र प्रस्तुत कर सकता था परन्तु कवि की भक्ति भावना ने चलती हुई कलम को थाम दिया। वह पुष्पों द्वारा बलदेव की पूजा करने के चक्कर में फंस गया—

सषा सुनौ वृन्दावन रीता,
लता लटक रहि दाव की प्रीता।
फल अरु फूल गिरत तर छाड़ी,
सो पुजा बलदेव की आई।[3]

ऋतु वर्णन में भी कवि ने ऋतुओं का चित्र उपस्थित करने के स्थान पर उनके लाभ हानि ही बताए हैं।[4] एक दो स्थान पर प्राकृतिक पदार्थों की गणना करके वर्णन को नीरस बना दिया है—

सकल फूल फूलै निस होई,
जाही जुही चमेली सोई।
सेवती वेल मालती षूभौ,
चंपो कर्न निवरिया फूलौ।
केवरौ पाडर केतकी होई,
फूल गुलाब वर हो वन सोई।[5]

अतः कवि को प्राकृतिक चित्र प्रस्तुत करने के लिए अनेक अवसर प्राप्त हुए परन्तु वह उनका एक बार भी लाभ न उठा सका। प्रकृति द्वार पर अनेक बार झांकी परन्तु उसे प्रत्येक बार तिरस्कार ही मिला।

रस-परिपाक

अधिकतर कृष्ण सम्बन्धी प्रबन्ध काव्य शृंगार रस प्रधान हैं परन्तु कृष्णायन इनसे भिन्न है। इसमें भक्ति रस की प्रधानता है, क्योंकि यहाँ रुक्मिणी तथा गोपियाँ तक कृष्ण के प्रति भक्ति-भाव रखती हैं। उनमें प्रेमिका-भाव का पूर्ण अभाव है। यही कारण है कि काव्य में शृंगार के स्थान पर भक्ति भावना की ही स्थापना हो सकी।

जिस समय श्री जू को लेकर श्री कृष्ण जी अन्तर्धान

१. कृष्णायन—उषा-काण्ड सं० १।
२. वही—वृन्दावन-काण्ड सं० १८।
३. वही—बाल-काण्ड सं० ३०२।
४. वही—वृन्दावन-काण्ड सं० ११।
५. वही—रहस-काण्ड सं० ६।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गए, उस समय अन्य गोपियों ने भक्तों की भाँति कहा—

गोपी येक कृष्ण संग जाई,
हम तैं है बडिभागिन भाई।
कृष्ण चर्न रज विधि नहिं पावै,
'सो गोपी नित सिरैं लगावै।'[1]

कृष्ण अन्तर्धान समय गोपियाँ प्रेमिका की भाँति विरह वर्णन नहीं करती बल्कि भक्त के समान कातर होती हैं—

व्रजवासी दुष हरन हौ सरन तुम्हारौ लीन।
दरस नैंक मुहि दीजिये प्रान जात अब दीन।
दासी मम करि जान, चरन कमल हिरदै वसै।
तप तन दूर करि मान, हरि दरसनि इच्छा हमैं।[2]

गोपियों की श्रृंगार भावना कवि की भक्ति भावना के सम्मुख दब गई। अतः कृष्ण-गोपियों के प्रेम-व्यापार का वर्णन कृष्णायन में न हो सका।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में केवल एक स्थान पर वात्सल्य रस[3] तथा एक स्थान पर भयानक रस[4] का आभास मात्र मिलता है। स्पष्ट है कि कृष्णायन भावुक हृदयों में रस का संचार करने में सर्वदा असफल रहा है।

भाषा-शैली—

कृष्ण सम्बन्धी अन्य कवियों की भाँति इन्होंने भी ब्रजभाषा में ही कृष्णायन की रचना की। परन्तु इनकी भाषा अशक्त तथा भावों का भार सहने के अयोग्य है। कवि पाठक मस्तिष्क तक कृष्ण की पावन कथा पहुँचाने में तो सफल हो गया परन्तु अपरिमार्जित भाषा होने के कारण पाठक अनेक बार क्षुब्ध हो उठता है। कवि को काव्याभ्यास भी अधिक नहीं है अतः उसे लय तथा मात्रा पूर्ण करने के लिए भी भाषा को कई स्थानों पर बहुत बिगाड़ना पड़ा है, जिससे नीरस तुकबन्दी जान पड़ती है। अशक्त भाषा होने के कारण कवि की कल्पना व उच्च भावों की उड़ान को पूर्ण स्थान प्राप्त व हो सका। "शिवदास के कृष्णायन की भाषा बहुत सरल है। ब्रज होते हुए उस पर बुन्देलखण्डी का पूर्ण प्रभाव है। इसमें बुन्देलखण्डी शब्दों का अच्छा संग्रह है।"[5] निम्न पंक्तियों में बुन्देलखण्डी शब्दों का प्रयोग दृष्टव्य है—

कान नहीं काहु की होई,
लोरौ जेठो गनै न कोई।[6]
आपुन षाइ सषन सब दैवै,
बचै तौन ढरकाइ कै लैनै।[7]
चीज वस्त तब काढ़ी देषौ,
ग्रह-ग्रह गाड़े अगनित लेषो।[8]
गोपी कहि मुहि मान जु आबा,
कांमी पुर्ष दियौ टरकावा।[9]
जुरासिंध गयौ पार, बल ने छैंकौ जाइ कै।[10]

ग्रन्थ में गयऊ, भयऊ, पावा, नसावा, धावा, पठावा, आवा, गिरावा, जावा, चलव आदि[11] अवधी क्रियाओं का प्रयोग भी किया गया है।

यकीन[12] तथा लाइक[13]—केवल दो उर्दू भाषा के शब्द ग्रंथ में प्रयुक्त हुए हैं तथा "विषै"[14] पंजाबी भाषा का शब्द भी प्रयोग किया गया है।

प्रवीना तथा विशेषा शब्द कवि को अत्यन्त प्रिय हैं। इनका प्रयोग उचित व अनुचित रीति से अनेक पदों में

१. कृष्णायन—रहस-काण्ड सं० ५७।
२. वही—रहस-काण्ड सं० ६८ व ६९।
३. वही—बाल-काण्ड सं० ४८।
४. वही—मथुरा-काण्ड सं० २७।
५. श्री उदयशंकर दुबे—कृष्णायन (कादम्बिनी—जून १९६८)
६. कृष्णायन—बाल-काण्ड सं० ९२।
७. वही—बाल-काण्ड सं० १५१।
८. वही—बाल-काण्ड सं० १९८।
९. वही—रहस-काण्ड सं० ६३।
१०. वही—द्वारिका-काण्ड सं० १५।
११. वही—बाल-काण्ड सं० १०२, ३००, रहस-काण्ड सं० ९०, मथुरा-काण्ड सं० ३०, ५५, १५१, १६०, १६१।
११. वही—मथुरा-काण्ड सं० १७५।
१३. वही—द्वारिका-काण्ड सं० १०१।
१४. वही—बाल-काण्ड सं० ४५।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया है, जो पाठक के मन को अखरता है—

दैत अनेक बिदा कर दीना,
गोकुल बाल जु मार प्रवीना।[१]
तिन के कुच बहुनी के देषा,
तिनहि देष हरि रमे विसेषा।[२]

लिंग तथा वचन की कुछ स्थानों पर त्रुटियाँ मिलती हैं। इनमें से कुछ लिपिकार की असावधानी के कारण तथा कुछ तुक आग्रह के कारण उत्पन्न हुई होंगी। इसके अतिरिक्त कारक विभक्ति की भी त्रुटि प्राप्त होती है। निम्न पंक्ति में सम्वन्ध कारक विभक्ति के स्थान पर कर्त्ता कारक का प्रयोग प्राप्त होता है—

अक्रूर सौं हरि पूछत वाता,
तात मात हम कुसल है गात।[३]

एक दो शब्दों का प्रयोग भी त्रुटिपूर्ण है। जैसे निम्न पंक्तियों में 'क्षुधा' शब्द के स्थान पर 'त्रषा' शब्द का प्रयोग किया गया है—

गोपी हरि डण्डौत कर जुवतनि देषी आई।[४]
त्रषा लाग श्री कृष्ण कौ देय पकवान मंगाई॥

निम्नलिखित पंक्तियां सिथिल भाषा के कारण केवल तुकबन्दियाँ जान पड़ती है। ऐसी सौष्ठव-हीन पंक्तियाँ ग्रन्थ में कई स्थान पर दृष्टिगोचर होती हैं—

नन्द मिलन कौ वसुदेव आये,
भली भई सुत तुमरै भायै।
तुम्हरे भाई भतीजे होई,
चलव वेग ग्रह कवि सब कोई।
दिन महूरत तुम कौ नीका,
जाव वेग यह मानौ सीका।
तब वसुदेव को पूछी बाता,
देवकी कै कन्या कहि भ्राता।[५]

छन्द-विधान

कवि ने रामचरितमानस का अनुकरण करके निम्न छन्दो का प्रयोग किया है—

१. सोरठा, २. दोहा, ३. चौपाई, ४. छन्द (हरिगीतिका)

सोरठा, दोहा, चौपाई क्रमशः काव्य में प्रयुक्त हुए हैं परन्तु इनकी संख्या निश्चित नहीं है। कहीं दो चौपाई के पश्चात् सोरठा आया है तो कहीं चौदह चौपाई के पश्चात्। व्रजवासीदास की भाँति वह दोहा, चौपाई आदि की संख्या निश्चित न रख सका।

इन छन्दों की मात्रा में भी कुछ स्थानों पर न्यूनाधिकता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित दोहा देखिए—

द्वारिका काण्ड वर्नन करौ = १५
संत चरन चितु ल्याई = १२
कुटंम आदि वह राज कर = १४
हरि लीला हरिषाई = १२-[६]

पर्याप्त स्थानों पर चौपाई में एक दो मात्रा की न्यूनाधिकता मिलती है। पूर्ण १६ मात्राओं की पंक्तियां तीन चौपाई से अधिक प्राप्त नहीं होती। कुछ चौपाइयाँ मात्रा संख्या सहित निम्नांकित हैं—

अन्तरध्यान सत्य तब होई[७] = १४
माया कौ वसुदेव है सोई = १७
रोहिन जसुधा मिली जु जावा = १६
देव देवकी मन हरषावा = १६
हरि वलि दसमति नै तब देषा = १६
कंठ लगाइ रही विसेषा[८] = १५

कुछ स्थानों पर मात्रा की न्यूनाधिकता प्रतिलिपिकार की असावधानी के कारण भी हो सकती है।

१. वही—बाल-काण्ड सं० १२४।
२. वही—मथुरा-काण्ड सं० २३३।
३. वही—मथुरा-काण्ड सं० ८२।
४. वही—वृन्दावन-काण्ड सं० ७१।
५. वही—बाल-काण्ड सं० १०२ व १०३।
६. वही—द्वारका-काण्ड सं० १।
७. वही—उषा-काण्ड सं० १६८।
८. वही—तीर्थ-काण्ड सं० ८०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकार-योजना

कवि ने कृष्णायन में अलंकार की रुचि का कहीं भी परिचय नहीं दिया। अतः ग्रन्थ में कथा को अति सरल ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अलंकारों के पूर्ण अभाव तथा भाषा के असंयत रूप के कारण इनकी कविता उस भिखारिन के समान है जिसे सृजनकर्त्ता ने तो रूप से सजाया और न ही भाग्य से। यही कारण है कि इतने बड़े ग्रन्थ में ढूंढने से केवल निम्न अलंकार प्राप्त होते हैं—

शब्दालंकार

अनुप्रास—गोपी गोप कहत मन भाये।
हरि अग्या तै उठ धौ छाये।[1]

पुनरुक्ति प्रकाश—सुरभी रूप धरौ भुव भारी,
ब्रह्म ब्रह्म करि ब्रह्म पुकारी।[2]
अंजुल जोरै पार, बार बार कर डंडवति।[3]

अर्थालंकार

कवि को सर्वाधिक 'उदाहरण' अलंकार प्रिय है। इसका प्रयोग काव्य में पर्याप्त प्राप्त होता है परन्तु इसके प्रयोग में भी कवि अपना कौशल न दिखा सका—

उदाहरण—हमैं कृष्ण सौं प्रीत करावा,
बिछुरिन हम सौ होत छिपावा।
नभ मै विजुरी कुदत जैसे,
हम सौ प्रीत करी हरि यैसे।[4]
दैत नर कौ जैसे षाता,
तैसे मम सुत मारे भ्राता।[5]
वधिक गीत सु म्रग जौ बीधे,
तैसे वैन सुनै हम गीधे।[6]

रूपक—गोपी कहि कुच मोर कठोरा,
हरि कर कोमल गढ़ है मोरा।
ते हरि देषौ सैल फिराई,
हम तन होत दुषी अधिकाई।[7]

विषम—अक्रूर बड़े क्रूर हैं जानो,
लोचन लियै जात है आनो।[8]

साहित्यिक मूल्यांकन

कृष्णायन का बाह्य विधान महाकाव्य के अनुरूप है। इसकी कथा काण्डों में विभक्त है। प्रत्येक काण्ड के आरम्भ में कथा की पूर्व सूचना दी गई है। इसमें एक से अधिक छन्दों का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलाचरण का विधान है। काण्डों की संख्या अवश्य सात है परन्तु सर्गों की संख्या के नियम का अक्षरशः पालन आवश्यक नहीं। तुलसी ने रामचरित मानस को भी सात सर्गों में विभाजित किया था।

परन्तु कृष्णायन को हम महाकाव्य का उच्चासन प्रदान नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें न तो चरित्र अंकन की चारुता है न ही प्रबन्ध-सौष्ठव। कोई प्रधान रस इसका अंगी रस भी न बन सका। वस्तु-वर्णन में कवि ने कोई कौशल प्रदर्शित नहीं किया। इनकी कविता पाठक हृदय को प्रभावित करने में भी समर्थ नहीं। सौष्ठव-हीन भाषा तथा अलंकारों की न्यूनता भी काव्य के लिए पाँव में पड़ी बेड़ी के समान है जो उसे उच्च शिखर पर नहीं पहुंचने देती। अतः इसमें न भावपक्ष की उच्चता है न कलापक्ष की शालीनता तथा न ही महत् उद्देश्य का गौरव है न शैली की गम्भीरता। कवि ने कृष्ण मूर्ति को अपने हृदय में धारण तो अवश्य किया परन्तु वह पाठक के मन-मन्दिर में उसकी स्थापना करने में सर्वथा असफल रहा। वह कृष्ण जैसे महापुरुष के सम्पूर्ण जीवन को काव्य विषय बनाकर भी उसे पूर्णता प्रदान न कर सका। अतः यह ग्रंथ पुराण शैली के अनुसार विरचित कृष्ण-चरित-काव्य मात्र रह गया।

•••

१. वही—मथुरा-काण्ड सं० २२५।
२. वही—बाल-काण्ड सं० ३६।
३. वही—वृन्दावन-काण्ड सं० ५४।
४. वही—मथुरा-काण्ड सं० ९०।
५. वही—बाल-काण्ड सं० ७८।
६. वही—मथुरा-काण्ड सं० २४०।
७. वही—रहस-काण्ड सं० ७७।
८. वही—मथुरा-काण्ड सं० ६०।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) पी० एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध दिसम्बर, १९७५ तक

शोधक का नाम	विषय
१. रामगोपाल कौड़ा	हिन्दी उपन्यास में हिन्दू धर्म की अभिव्यक्ति (उद्भव से १९३५ तक)
२. अचला दीदी	हिन्दी कहानी में नारी का बदलता स्वरूप (प्रेमचन्द से लेकर १९७० तक)
३. पुष्पा पाहवा	तुलसीदास के काव्य में बिम्ब, रूपक एवं प्रतीक विधान
४. कैलाश नाथ	'इन्दु' से १९३६ तक की हिन्दी कविता का सौन्दर्य-शास्त्रीय अध्ययन
५. सरला शर्मा	राम स्नेही सम्प्रदाय : साधना और दर्शन, आचार्य हरिदास की वाणी की विशिष्ट सन्दर्भ में
६. सेवासिंह	हिन्दी भक्ति-साहित्य में माया का स्वरूप विकास
७. सुशीला देवी	दशम ग्रंथ में मध्य-युगीन समाज और संस्कृति
८. उमारानी शर्मा	छायावादी काव्य में रूपक के व्याकरण तथा काल की भाव दशाओं की पुनर्रचना
९. खुशी राम	सिरमौर का लोक-साहित्य
१०. सुशीलकुमार फुल्ल	पद्मावत (जायसी) पूर्व-रचित हिन्दी प्रेमाख्यानों के आधार पर हिन्दी प्रेमाख्यान परम्परा के उद्गम-स्रोत, स्वरूप एवं प्रवृत्तियों का विवेचन
११. ब्रह्मदत्त	सौन्दर्य और उदात्त के सिद्धान्तों के आधार पर कबीर के काव्य का मूल्यांकन
१२. शालिग्राम ओझा	कृषक जीवन सम्बन्धी भोजपुरी शब्दावली का अध्ययन, शाहाबाद क्षेत्र की बोली के आधार पर चित्रों एवं रेखा-चित्रों सहित
१३. जगदीश सिंघल	संत कवि गरीबदास और उनका पंथ
१४. कांशीराम	मण्डी के लोक गीतों का एक अध्ययन
१५. किरन बजाज	हिन्दी कहानी में नारी के बदलते हुए सम्बन्ध, १९३६ से १९७० तक
१६. संतोष कुमारी शर्मा	महादेवी के काव्यगत बिम्बबोध और प्रतीक संयोजन का स्वरूप-विश्लेषण
१७. महेशचन्द्र शर्मा	सम्प्रेषण क्षमता की दृष्टि से गुरुगोविन्दसिंह के ब्रजभाषा काव्य का मूल्यांकन
१८. हरजीत कौर मदान	तारासिंह नरोत्तम—व्यक्तित्व और कृतित्व १८वीं शताब्दी में उपलब्ध पंजाब की विशिष्ट सन्दर्भ में
१९. कमलेश कुमारी	प्रसादोत्तर ऐतिहासिक रोमांस

111504

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) पंजाब यूनिवर्सिटी द्वारा पी० एच० डी० के लिए स्वीकृति शोध-विषय नवम्बर १९७३ से दिसम्बर १९७४ तक

संख्या नाम	विषय
१. रीता मुंजाल	गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध पंजाब का हिन्दी कृष्ण भक्ति-काव्य
२. अश्विनी चोपड़ा	हिन्दी उपन्यास (गोदान से राग दरबारी तक) में नागर और ग्राम्य जीवन का स्वरूप-विकास
३. सुधा मित्तल	हिन्दी कथा साहित्य में मध्यकालीन भारत
४. सन्तोष बंसल	गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध पंजाब का हिन्दी राम काव्य
५. रामेश्वर दत्त शर्मा	रीतिकालीन शृंगार काव्य की सौन्दर्य चेतना पर संस्कृत काव्य की शृंगार परम्परा के प्रभाव का अध्ययन
६. प्रेमलता खन्ना	हिन्दी नाटक में अन्तर्द्वन्द्व का स्वरूप (प्रसाद से मोहन राकेश तक)
७. रजनी कौशिक	हिन्दी उपन्यास में उपन्यासकार का आत्म-प्रकाशन
८. उमेश जैन	हिन्दी कथा साहित्य में अस्तित्ववाद का स्वरूप (१९५०-१९७०)
९. उषारानी बंसल	अष्टछाप के कवियों के व्यक्तित्व का मनोवैज्ञानिक अध्ययन
१०. श्रीमती राजेन्द्र खोसला	हिन्दी कविता में प्रणय भाव का स्वरूप (छायावाद से नई कविता तक)
११ कृष्णचन्द्र शर्मा	हिन्दी उपन्यास में मार्क्सवादी चिन्तन का स्वरूप
१२. कृष्णा चौधरी	व्रजबोली—ए लिंग्विस्टिक स्टडी
१३. सुरेन्द्र मोहन	प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी उपन्यास में मूल्यांकन दृष्टि
१४. देवदत्त कौशल	आधुनिकता की दृष्टि से मोहन राकेश के साहित्य का अध्ययन
१५. कैलाश शर्मा	हिन्दी उपन्यास में वैयक्तिक और सामाजिक समस्याओं का निरूपण (१९१७ से १९७० तक)
१६. नरेन्द्र वालिया	आधुनिक हिन्दी काव्य : परिवर्तित मूल्यों के सन्दर्भ में, १९३५ से ७२ तक।
१७. शकुन्तला यादव	आधुनिक हिन्दी नाट्यरूप : सम्प्रेषण के सन्दर्भ में
१८. सरोजिनी	आधुनिक हिन्दी कथा लेखकाओं के लेखन में पुरुष का स्वरूप (१९३६ से १९७२ तक)
१९. सुरेन्द्र स्याल	पंजाब के वैष्णव सन्तों के विशिष्ट सन्दर्भ में भगवान नारायण।
२०. रामसरन झंब	युगीन चेतना के सन्दर्भ में मानस की पात्र-योजना का अनुशीलन।
२१. ओमप्रकाश गुप्ता	साहित्य की विकास प्रक्रिया (मुख्यतः हिन्दी साहित्य के आधार पर)
२२. जीवनलता कालरा	रांगेय राघव के उपन्यास (समाजवादी चेतना के सन्दर्भ में)
२३. शकुन्तला कुमारी	स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी-गद्य-साहित्य में व्यंग : युगीन परिवेश में
२४. रमेश शौनिक	सैल्फ एण्ड सोसाइटी : स्टडीज इन कौनटेम्परेरी (पोस्ट प्रेमचन्द) नावल
२५. चिमनलाल	आधुनिक बोध और मार्क्सवाद के सन्दर्भ में मुक्तिबोध का कृतित्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Colle[illegible] Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Compiled
1999-2000

111504

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri